# PĀTAÑJALA-YOGA-DARŚANAM

## TATTVAVAIŚĀRADĪ-YOGAVĀRTTIKETI-ṬĪKĀDVA-YOPETAM VYĀSABHĀṢYAM (SAPĀṬHABHEDA-BĀLAPRIYĀKHYA-HINDĪVYĀKHYAYĀ VIBHŪṢIṬAM)

(A Critical Edition and Hindi Exposition of Tattvavaiśāradī and Yogavārttika on Vyāsabhāṣya of the Yoga-Sūtra)

(In Four Volumes)

**VOLUME IV**
**KAIVALYAPĀDA**

*Commentator and Editor*
**Dr. Vimala Karnatak**
Department of Sanskrit
Banaras Hindu University

**Banaras Hindu University, Varanasi**
**&**
**Ratna Publication, Varanasi**
**1992**

First Edition, 1992 (University **Platinum Jubilee** Year)

Financial assistance received from the Ministry of Human Resource Development (Department of Education), Government of India and University Grants Commission is gratefully acknowledged.

मूल्य : 400.00

*Distributor*
**Ratna Publications**
B. 21/42A Kamachha
Varanasi.

Published by Officer on Special Duty, Banaras Hindu University
and
Printed by **Ratna Printing Works**, Kamachha Varanasi.

# पातञ्जलयोगदर्शनम्

तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिकितिटीकाद्वयोपेतं व्यासभाष्यम्
( सपाठभेदबालप्रियाऽऽख्यहिन्दीव्याख्यया विभूषितम् )
( खण्डचतुष्टय )

**चतुर्थ खण्ड**
**कैवल्यपाद**

*व्याख्याकर्त्री एवं सम्पादिका*
**डॉ विमला कर्णाटक**
संस्कृत विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

**काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी**
**एवं**
**रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी**
**१९९२**

प्रथम आवृत्ति, १९९२ (विश्वविद्यालय अमृत महोत्सव वर्ष)

मानव संसाधन विकास मन्त्रालय (शिक्षा विभाग), भारत सरकार एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली के आर्थिक अनुदान से प्रकाशित

मूल्य : 400.00

*प्राप्तिस्थल*
**रत्ना पब्लिकेशन्स**
बी. २१/४२ए कमच्छा,
वाराणसी

*प्रकाशक*– **विशेष कार्याधिकारी,** काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
*मुद्रक*– **रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स** (ऑफसेट विभाग) कमच्छा, वाराणसी

# संक्षिप्त विषयानुक्रमणी

# विस्तृत विषयानुक्रमणी
## चतुर्थः कैवल्यपादः

# पातञ्जलयोगदर्शनम्

## तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिकितिटीकाद्वयोपेतं व्यासभाष्यम्

### ( सपाठभेदबालप्रियाऽऽख्यहिन्दीव्याख्यया विभूषितम् )

## चतुर्थः कैवल्यपादः

योगसूत्र के 'कैवल्य' पाद का प्रथम सूत्र वैयासिकी अवतरणिका के विना उपस्थित हो रहा है–

**योगसूत्रम्**

**जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः॥१॥**

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधिजन्य सिद्धियाँ होती हैं॥१॥

**व्यासभाष्यम्**

**देहान्तरिता [1]जन्मना सिद्धिः। ओषधिभिरसुरभवनेषु [2]रसायनेनेत्येवमादिः। मन्त्रैराकाश[3]गमनाणिमादिलाभः। तपसा संकल्पसिद्धिः कामरूपी यत्र [4]तत्र कामग इत्येवमादि। समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः॥१॥**

अन्य देहधारणरूपा सिद्धि जन्म से (प्राप्त) होती है। औषधियों के सेवन से तथा असुरों के भवन में रसायन के सेवन से (शरीर की वज्रसदृशदृढ़ता रूप वाली) सिद्धियाँ (प्राप्त) होती हैं। मन्त्रों से आकाश में उड़ना तथा अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तप से संकल्पसिद्धि प्राप्त होती है, जिससे योगी यथेष्टरूप वाला होकर जहाँ-तहाँ स्वेच्छापूर्वक पहुँचने वाला हो जाता है। समाधिजन्य सिद्धियाँ विभूति पाद में बतलाई जा चुकी हैं॥१॥

प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद में प्रतिपादित विषयों से अन्तःसंगति बैठाते हुए तत्त्ववैशारदीकार चतुर्थ पाद के प्रथम सूत्र को विस्तृत अवतरिणका के साथ उपस्थित करते हैं–

---

1. क ख ग छ ज झ त थ द ध न ब—जन्मसिद्धिः, घ च प फ भ म य र—जन्मना सिद्धिः।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म य र—रसायनेन, घ प—रसायन०।
3. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—गमनाणिमादिलाभः, छ थ—गमनमनावरणमेवस्तु ततः क्षेत्रिकवदणिमादिसिद्धिः।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—तत्र उपलभ्यते, ब—तत्र नोपलभ्यते।

**तत्त्ववैशारदी**

**तदेवं प्रथमद्वितीयतृतीयपादैः समाधितत्साधन[1]तद्विभूतयः प्राधान्येन व्युत्पादिताः। इतरत्तु प्रासङ्गिकमौपोद्घातिकं चोक्तम्। [2]इहेदानीं तद्धेतुकं कैवल्यं व्युत्पादनीयम्। न चैतत्कैवल्यभागीयं चित्तं परलोकं च [3]परलोकिनं विज्ञानातिरिक्तं [4]चित्तकरणकसुखाद्यात्मकशब्दाद्युपभोक्तार-मात्मानं च प्रसंख्यानपरमकाष्ठां च विना व्युत्पाद्य शक्यं वक्तुमिति तदेतत्सर्वमत्र पादे व्युत्पादनीयमितरच्च प्रसङ्गादुपोद्घाताद्वा। तत्र प्रथमं सिद्धचित्तेषु कैवल्यभागीयं चित्तं निर्धारयितुकामः पञ्चतयीं सिद्धिमाह—जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।**

इस प्रकार प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद के द्वारा (क्रमशः) समाधि, उसकी प्राप्ति के साधन और तज्जन्य विभूतियों (अलौकिक ऐश्वर्यों) को मुख्य रूप से प्रतिपादित किया गया। अन्य प्रासंगिक और औपोद्घातिक विषयों को भी कहा गया। अधुना, समाधिहेतुक 'कैवल्य' का स्वरूप बतलाना है। किन्तु कैवल्यभागीय चित्त, परलोक, विज्ञान से अतिरिक्त चित्तरूप करण के द्वारा सुखाद्यात्मक शब्दादि विषयों का उपभोग करने वाला पारलौकिक आत्मा तथा प्रसंख्यान (ज्ञान) की चरमावधि (पराकाष्ठा) आदि विषयों का व्युत्पादन हुए विना कैवल्य को प्रति-पादित करना संभव नहीं है। अतः उपरिनिर्दिष्ट समस्त विषय तथा प्रसंगतः अथवा उपोद्घातरूप से प्राप्त अन्य विषय इस पाद में विवेचनीय हैं। इन विषयों में भी सिद्धचित्तों में कैवल्यभागीय चित्त को निर्धारित करने के इच्छुक पतञ्जलि पाँच प्रकार की सिद्धियों को सर्वप्रथम बतलाते हैं। सूत्र है—'जन्मेति'

**बालप्रिया—**

**'प्रासङ्गिकम्'**—इस पद से प्रसंगतः प्राप्त परमाणुपुञ्ज तथा क्षणिकवाद का निराकरण आदि विषयों को संकेतित किया गया है।

**'औपोद्घातिकम्'**—किसी शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय के लिये उपयोगी विचार को 'उपोद्घात' कहते हैं और उपोद्घात से सम्बन्धित विचार 'औपोद्घातिक' कहलाता है। प्रकृत शास्त्र के वृत्तिभेदनिरूपणादि औपोद्घातिक विषय हैं।

**'तद्धेतुकम्'**—जिसका हेतु समाधि है (सः समाधिर्हेतुर्यस्य तत्तद्धेतुकम्) अर्थात् समाधि-साधन से जो प्राप्त होता है, उस कैवल्य का प्रतिपादन किया जाना है।

**'वक्तुमिति'**—यहाँ 'इति' अव्यय हेत्वर्थक है।

**'इतरच्च प्रसङ्गादुपोद्घाताद्वा'**— भाव यह है कि पूर्वजन्म की सिद्धि, चित्तसिद्धि

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—**तत्** उपलभ्यते, त—**तत्** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—**इह** उपलभ्यते, थ द ध—**इह** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न—**परलोकिनम्**, थ द ध—**पारलौकिकम्**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—**चित्तकरणक०**, न—**चित्तकरण०**।

आदि अन्य विषय प्रसंग से कहे जायेंगे तथा प्रकृत्यापूरादि (शास्त्रोपयोगी) औपोद्घातिक विषयों को भी व्युत्पादित किया जायेगा।

### तत्त्ववैशारदी

**व्याचष्टे—देहान्तरितेति। [1]स्वर्गोपभोगभागीयात्कर्मणो मनुष्यजातीयाचरितात्कुतश्चिन्निमित्ताल्लब्धपरिपाकात्क्वचिद्देवनिकाये जातमात्रस्यैव दिव्यदेहान्तरिता सिद्धिरणिमाद्या भवतीति। ओषधिसिद्धिमाह—असुरभवनेष्विति। मनुष्यो हि कुतश्चिन्निमित्तादसुरभवनमुपसंप्राप्तः कमनीयाभिरसुरकन्याभिरुपनीतं रसायनमुपयुज्याजरा[2]मरत्वमन्याश्च सिद्धीरासादयति। इहैव वा रसायनोपयोगेन यथा माण्डव्यो मुनी रसोपयोगाद्विन्ध्यवासीति। मन्त्रसिद्धिमाह—मन्त्रैरिति। तपःसिद्धिमाह—तपसेति। सङ्कल्पसिद्धिमाह—कामरूपीति। यदेव कामयतेऽणिमादि तदेकपदेऽस्य भवतीति। यत्र कामयते श्रोतुं वा मन्तुं वा तदेव शृणोति मनुते [3]वेति। आदिशब्दाद्दर्शनादयः संगृहीता इति। [4]समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याता अधस्तने पादे॥१॥**

भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'देहान्तरितेति।'** किसी कारण से फलोन्मुख हुए मनुष्य-योनि के द्वारा आचरित (सम्पादित) स्वर्गोपभोग के साधनभूत कर्म से (मनुष्य शरीर के पश्चात्) देवयोनि में उत्पन्न होने मात्र से ही योगी को दिव्य देहान्तरित **'अणिमादि'** सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। भाष्यकार **'औषधिसिद्धि'** को बतलाते हैं—**'असुरभवनेष्विति।'** किसी कारण से असुरभवन में पहुँचा हुआ व्यक्ति मनोहारिणी असुरकन्याओं द्वारा लाये गये रसायन का उपभोग करके अजरत्व, अमरत्व तथा अन्य सिद्धियों को प्राप्त करता है। अथवा जीवन में वैसे ही रसायन के प्रयोग से सिद्धि प्राप्त होती है। जैसे रसायन के प्रयोग से माण्डव्य मुनि विन्ध्यवासी हो गये। भाष्यकार **'मन्त्रसिद्धि'** को बतलाते हैं—**'मन्त्रैरिति।'** अर्थात् मन्त्रों के जप से आकाशगमन तथा अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। भाष्यकार **'तपःसिद्धि'** को प्रतिपादित करते हैं—**'तपसेति।'** 'तप' के अनुष्ठान से संकल्पसिद्धि प्राप्त होती है। भाष्यकार संकल्पसिद्धि (के स्वरूप) को बतलाते हैं—**'कामरूपीति।'** योगी अणिमादि जिस-किसी भी सिद्धि की कामना करता है, उसे वह एक बार में ही प्राप्त कर लेता है। जहाँ पर जो कुछ सुनने अथवा मनन करने की कामना करता है, वहाँ पर उसी को ही सुन सकता है अथवा मनन कर सकता है। भाष्य में प्रयुक्त **'आदि'** शब्द से यथेच्छ दर्शनादि का ग्रहण होता है। अर्थात् जिस किसी को जिस भी समय, जिस भी

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—स्वर्ग०, त—स्वर्ग्य०।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न—आमरणत्वं, द—अमरत्वम्।
3. क ग थ द ध—चेति, ख घ च छ ज झ त न—वेति।
4. क ख ग थ द ध न—समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याता अधस्तने पादे ४/१ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त—समाधिजाः...पादे ४/२ सूत्रस्य अवतरणिका।

स्थान पर, जिस भी रूप में देखना चाहता है, उसे संकल्पसिद्ध योगी देख लेता है। समाधिजन्य सिद्धियाँ तो पूर्व पाद में कही जा चुकी हैं॥१॥

**बालप्रिया**—

'अधस्तने पादे'—समाधिजन्य सिद्धियाँ कहाँ व्याख्यात हो चुकी हैं? इस आकांक्षा के निवृत्त्यर्थ तत्त्ववैशारदीकार ने बतलाया है कि ये सिद्धियाँ पूर्ववर्ती विभूति पाद में व्युत्पादित हो चुकी हैं। अतः यहाँ फिर से उनका व्याख्यान अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार सिद्धियों के पाँच भेद से सिद्ध-चित्तों के भी पाँच भेद हो जाते हैं॥१॥

## योगवार्त्तिकम्

**हानोपायान्तं व्यूहत्रयमतिविस्तरतः पादद्वयेन व्याख्याय हानं तु स्वरूपत एव तत्र संक्षेपादुक्तं न तु तस्याशेषविशेषरूपो व्यूह इत्यतो हानविस्तरार्थं चतुर्थपादारम्भः। तत्रादौ कैवल्ययोग्यं चित्तं निर्धारयितुं पञ्चप्रकारां सिद्धिमाह; अनेनैव प्रसङ्गेन जन्मादिसिद्ध्यपेक्षया यथोक्तसमाधिसिद्धेरुत्कर्षोऽपि सेत्स्यति—जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः। क्रमेण सिद्धीर्व्याचष्टे—देहान्तरितेति। ऐहिकेन कर्मणा देवादिदेहान्तरे जन्ममात्रेण भवन्ती अणिमादिसिद्धिर्जन्मजेत्यर्थः। औषधिजसिद्धिमाह—औषधिभिरिति। असुरभवनेषु रसायनं यदोषधिद्रव्यं तदुद्भवेत्येवमादिसिद्धिरोषधिभिरित्यर्थः। असुरभवनेष्विति प्रायिकाभिप्रायेणोक्तम्, अत्राप्योषधिभिः सुवर्णादिसिद्धीनां भावात्। शेषं सुगमम्॥१॥**

'साधन' तथा 'विभूति' इन दो पादों द्वारा 'हेय', 'हेयहेतु' तथा 'हानोपाय' की अतिविस्तार से व्याख्या करके 'हान' का संक्षिप्त स्वरूप वहाँ संकेतित हुआ है न कि उसका अशेषविशेषरूप व्यूह बतलाया गया है। अतः 'हान' के विस्तृत व्याख्यानार्थ चतुर्थ पाद आरम्भ हो रहा है। इसमें भी कैवल्य की क्षमता वाले (कैवल्यभागीय) चित्त के विशिष्टीकरण (निर्धारण) के लिये सूत्रकार सर्वप्रथम पाँच प्रकार की सिद्धियों को बतलाते हैं। किञ्च इसी प्रसङ्ग से जन्मादि सिद्धियों की अपेक्षा समाधिसिद्धि का उत्कर्ष भी सिद्ध हो जायेगा। सूत्र है—'जन्मेति।' भाष्यकार सूत्रगत जन्मादि सिद्धियों का क्रमशः वर्णन करते हैं—'देहान्तरितेति।' लौकिक कर्म के द्वारा (आगामी जन्म में) देवादि योनि के शरीरान्तर की प्राप्ति होने पर जन्मोत्पत्तिकाल से ही जो अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें 'जन्मजा-सिद्धि' कहते हैं। भाष्यकार औषधिजन्य सिद्धि को बतलाते हैं—'औषधिभिरिति।' दैत्यालयों में विद्यमान औषधिनिर्मित रसायन के सेवन से समुपजात सिद्धि 'औषधि-सिद्धि' कहलाती है। असुरों के घरों में रसायनादि के प्रायशः प्राप्त होने के कारण भाष्य में 'असुरभवनेषु' यह प्रयोग किया गया है तथा 'औषधिभिः' कहने से सुवर्णादि धातुजन्य सिद्धियाँ भी संगृहीत हो जाती हैं। शेष भाष्य सुगम है॥१॥

'देहान्तरिता-सिद्धि' के अनुपूरक रूप में संक्षिप्त वैयासिकी अवतरणिका के साथ अग्रिम सूत्र उपस्थित हो रहा है—

**व्यासभाष्यम्**

**तत्र कायेन्द्रियाणामन्य[1]जातिपरिणतानाम्—**

ऐसे स्थलों में मनुष्यादिभिन्न जातिरूप से परिणाम को प्राप्त शरीरों और इन्द्रियों का जो—

**योगसूत्रम्**

## जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥२॥

एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना रूप जो परिणाम होता है, वह प्रकृति (उपादानकारण) के अनुप्रवेश से होता है॥२॥

**व्यासभाष्यम्**

**पूर्वपरिणामापाय उत्तर[2]परिणामोपजनस्तेषाम[3]पूर्वावयवा[4]नुप्रवेशाद् भवति। कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारम[5]नुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तम[6]पेक्षमाणा इति॥२॥**

पिछले परिणाम का त्याग और उत्तर परिणाम की उत्पत्ति उन (शरीरेन्द्रियों) के नये (पञ्चमहाभूतादिरूप) अवयवों के अनुप्रवेश से होती है। शरीर और इन्द्रियों की प्रकृतियाँ (उपादानकारण) धर्मादि निमित्त की अपेक्षा करती हुई अपने-अपने कार्यों पर अवयवों के अनुप्रवेश द्वारा अनुग्रह करती हैं॥२॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार स्वरचित विस्तृत उपस्थानिका द्वारा वैयासिकी अवतरणिका के साथ सूत्र को प्रस्तुत करते हैं—

**तत्त्ववैशारदी**

**अथ चतसृषु सिद्धिष्वौषधादिसाधनासु तेषामेव कायेन्द्रियाणां जात्यन्तरपरिणतिरिष्यते। सा पुनर्न तावदुपादानमात्रात्। न हि तावन्मात्रमुपादानं न्यूनाधिकदिव्यादिव्यभावेऽस्य भवति।**

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ न प फ ब भ म य र—जाति०, द ध—जातीय०।
2. क ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—परिणामोपजन:, ख—परिणामोपजनन:, झ त—परिणामा:।
3. क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—अपूर्वावयव०, ख ज—आपूरावयव०।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—अनुप्रवेशात्, ब—अनुप्रवेशेन।
5. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—अनुगृह्णन्ति झ त—अनुयन्ति।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—अपेक्षमाणा, ब—अवेक्षमाणा।

**नो खल्वविलक्षणं कारणं कार्यवैलक्षण्यायालम्। मास्याकस्मिकत्वं भूदित्याशङ्क्य पूरयित्वा सूत्रं पठति—तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातिपरिणतानां—जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।**

औषधादि साधनजन्य सिद्धियों (औषधिजन्य सिद्धि, मन्त्रजन्य सिद्धि, तपोजन्य सिद्धि एवं समाधिजन्य सिद्धि इन चार) में उन्हीं के काय और इन्द्रियों का जात्यन्तरपरिणाम स्वीकार किया गया है। किन्तु यह जात्यन्तर-परिणति उपादान-मात्र से सम्भव नहीं है। क्योंकि केवल उपादानकारण जात्यन्तरपरिणाम के न्यूनाधिक दिव्यादिव्यभाव में हेतु नहीं हो सकता है। इसमें हेतु यह है कि कारण अविलक्षण (सामान्य) रहकर कार्य की विलक्षणता के लिये समर्थ नहीं होता है। अर्थात् साधारण कारण से असाधारण कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। (कारण-वैलक्षण्य के विना) कार्य की विलक्षणता को आकस्मिक अर्थात् निर्हेतुक (स्वाभाविक) भी नहीं कहा जा सकता है (क्योंकि इससे स्वभाववाद का अनभिप्रेत प्रसंग उपस्थित होगा। तो फिर जात्यन्तरपरिणाम का हेतु कौन है?)—इस प्रकार की आशंका करके भाष्यकार पूरक अंश के साथ सूत्र को पढ़ते हैं—'**तत्र कायेन्द्रियाणा-मन्यजातीयपरिणतानां—जात्यन्तरेति**'

**बालप्रिया—**

'**मास्याकस्मिकत्वं भूत्**'—भाव यह है कि कारण-वैलक्षण्य के विना भी कार्य-वैलक्षण्य को स्वीकार करने पर कार्य-वैलक्षण्य को आकस्मिक अर्थात् निर्हेतुक कहना पड़ेगा। किन्तु यह अभीष्ट नहीं है, क्योंकि इससे '**स्वभाववाद**' मानना पड़ेगा। फलतः जात्यन्तरपरिणाम की स्वाभाविकता योगसाधना को व्यर्थ बना देगी। अतः जात्यन्तरपरिणाम के उक्त आकस्मिक-पक्ष का निषेध किया गया है।

**तत्त्ववैशारदी**

**मनुष्यजातिपरिणतानां कायेन्द्रियाणां यो देवतिर्यग्जातिपरिणामः स खलु प्रकृत्यापूरात्। कायस्य हि प्रकृतिः पृथिव्यादीनि भूतानि, इन्द्रियाणां च प्रकृतिरस्मिता, तदवयवानुप्रवेश आपूरस्तस्माद्भवति। तदिदमाह—पूर्वपरिणामेति। ननु यद्यापूरेणानुग्रहः कस्मात्पुनरसौ न सदातन इत्यत आह—धर्मादीति। तदनेन तस्यैव शरीरस्य बाल्यकौमारयौवनवार्धकादीनि च न्यग्रोधधानाया न्यग्रोध[1]तरुभावश्च वह्निकणिकायास्[2]तृणराशिनिवेशिताया [3]वा प्रोद्भव-ज्वालासहस्रसमालिङ्गितगगनमण्डलत्वं च व्याख्यातम्॥२॥**

मनुष्यजाति (मनुष्ययोनि) रूप से परिणत कायेन्द्रियों का देव, तिर्यग् आदि जातिरूप (जन्मरूप) से जो परिणामान्तर होता है, वह '**प्रकृति**' अर्थात् उपादान-

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—तरु०, झ—तनु०।
2. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न—तृणराशि०, ख—तूलराशि०।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न—वा उपलभ्यते, थ द ध—वा नोपलभ्यते।

कारण के 'आपूर' अर्थात् अनुप्रवेश से होता है। शरीर की प्रकृति पृथिव्यादि भूत हैं और इन्द्रियों की प्रकृति अस्मिता अर्थात् अहंकार है। इन प्रकृतियों के अवयवों अर्थात् अंशों का (अपने-अपने कार्य में) जो अनुप्रवेश (कार्यरूपत्व) होता है, उसे सूत्र में 'आपूर' शब्द से कहा गया है। इस प्रकार 'प्रकृत्यापूर' से 'जात्यन्तरपरिणाम' होता है। इसी तथ्य का प्रतिपादन भाष्यकार करते हैं—'**पूर्वपरिणामेति**।' अर्थात् पदार्थ के पूर्व परिणाम का त्याग और उत्तर परिणाम की प्राप्ति पदार्थसम्बन्धी प्रकृति (कारण) के नूतन तथा स्वच्छ अवयवों के प्रवेश से होती है।

**शङ्का**—यदि प्रकृत्यापूर से ही नूतन शरीरादि का लाभ होता है, तो फिर सभी को नवीन शरीर की प्राप्ति सर्वदा क्यों नहीं होती है? अर्थात् जात्यन्तरपरिणाम को सर्वसाधारण मान लिया जाय?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार बतलाते हैं—'**धर्मादीति**।' (भाव यह है—यह जो कारण का कार्य पर 'आपूर' द्वारा अनुग्रह करना है, वह निरपेक्ष (सहज) नहीं है, अपितु मन्त्र तथा तप आदि के अनुष्ठान द्वारा उत्पन्न धर्मादिनिमित्तसापेक्ष यह अनुग्रह है। इस प्रकार धर्मादिनिमित्तसापेक्ष कायेन्द्रिय की प्रकृतियाँ अपने-अपने विकार में अनुप्रविष्ट होकर कार्याभिव्यक्ति करती हैं। यह 'आपूर' सर्वदा सबको प्राप्त न होने से तदाश्रित नूतन शरीर की प्राप्ति भी नहीं होती है)। इस प्रकार प्रकृत्यवयव के 'अनुप्रवेश' और 'अपगम' से महत्त्वादि परिणाम को कहने से उसी शरीर का बाल्य-कौमार-यौवन-वार्द्धक आदि रूप, वटबीज का वटवृक्ष रूप तथा तृणसमुदाय में प्रक्षिप्त वह्निकण (वह्न्यं) का प्रज्वलित असंख्य ज्वालाओं से युक्त गगनव्यापिरूप परिणाम व्याख्यात समझना चाहिये॥२॥

**बालप्रिया**—

'**तदनेन**'—इस पद का अर्थ है—प्रकृत्यवयव के '**अनुप्रवेश**' और '**अपगम**' द्वारा महत्त्वादि परिणाम कथित (विवक्षित) होने से। इसी सिद्धान्त के अनुसार तत्त्ववैशारदीकार ने '**तस्यैव शरीरस्य**' शब्दावली द्वारा उक्त दृष्टान्तों को प्रस्तुत किया है।

'**व्याख्यातम्**'—जात्यन्तरपरिणाम के उक्त उदाहरण उपलक्षणमात्र हैं। इससे दोनों प्रकार के उदाहरणों का संग्रह होता है। जब योगी अल्पपरिमाण से महत्परिमाण वाला होता है, तो उसे प्रकृत्यवयवों के '**अनुप्रवेश**' का स्थल समझना चाहिये। इसके विपरीत जब योगी अणुभाव को प्राप्त होता है, तब प्रकृति के अवयवों का '**अपगम**' (निर्गमन) समझना चाहिये। पुराणप्रसिद्ध वामनादि अवतार प्रकृत्यापूर के उदाहरण हैं, क्योंकि क्षणभर में ही उनमें त्रिभुवनव्यापी विश्वरूप के दर्शन हुए। महर्षि अगस्त्य का समुद्रपान जलप्रकृति के अवयवों के अपसारण (निर्गमन) का दृष्टान्त

है। अर्थात् समुद्रपान करते समय विशाल सागर स्वल्प परिमाण वाला बन गया और अगस्त्य मुनि ने उसका पान कर लिया॥२॥

### योगवार्त्तिकम्

पञ्चविधसिद्धिसाधारण्याय पूर्वपादो विचारितः, सिद्धिप्रकारोऽस्मिन्नेव प्रसङ्गे कियद्भिः सूत्रैः प्रतिपादनीयः। तत्रादौ निर्माणकायनिर्माणेन्द्रिययोरुत्पत्तिप्रकारप्रतिपादकं सूत्रं पूरयित्वोत्थापयति—तत्र काय इति। निर्माणचित्तोत्पत्तिप्रकारस्य सूत्रान्तरेण वक्ष्यमाणत्वादत्र कायेन्द्रिययोरेव ग्रहणम्। जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्। मनुष्यादिजातिरूपः परिणामः, स प्रकृत्यापूराद्भवति न तु सङ्कल्पमात्रादित्यर्थः। [1]मनुष्यादिजातिरूपेण पूर्वं परिणम्य स्थितानां कायेन्द्रियाणां कामरूपतादशायां यो देवतिर्यगादिजातिपरिणामः स प्रकृत्यापूराद् भवति न तु सङ्कल्पमात्रादित्यर्थ इति व्याख्यान्तरम्। अणिमादिरूपपरिणामविशेषश्च प्रकृत्यपगमादित्यपि बोध्यम्। अत्र च जात्यन्तरशब्देन योगिनां गजतुरङ्गादिवैभवं तथा कायव्यूहादिकमपि ग्राह्यम्। आपूरशब्देनापि प्रकृतीनां संहननमपि ग्राह्यम्। कायव्यूहे च श्रुतिः—

स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा
शतं दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः॥ इत्यादिरिति।

पाँच प्रकार के सिद्धिसामान्य के लिये पूर्वपाद व्यतीत हुआ है। इसी प्रसंग में कई सूत्रों द्वारा सिद्धि-प्रकार का प्रतिपादन किया जाना है। अतः भाष्यकार सर्वप्रथम निर्माणकाय तथा निर्माणेन्द्रिय के उत्पत्ति-प्रकार के प्रतिपादक सूत्र को वैयासिक अवतरणिका से पूरा करते हुए उठाते हैं—'तत्र काय इति।' 'निर्माण-चित्त' का उत्पत्ति-प्रकार अन्य सूत्र द्वारा वक्ष्यमाण (प्रतिपाद्यमान) होने से प्रकृत सूत्र के द्वारा कायेन्द्रियों के उत्पत्ति-प्रकार का ही ग्रहण किया जा रहा है। सूत्र है—'जात्यन्तरेति।' मनुष्यादि जातिरूप परिणाम प्रकृत्यापूर से होता है, केवल संकल्पमात्र से नहीं, ऐसा सूत्राभिप्राय है। सूत्र की दूसरे प्रकार की व्याख्या इस प्रकार है—मनुष्यादि जातिरूप से पहले परिणाम को प्राप्त होकर स्थित शरीर तथा इन्द्रियों का कामरूपता दशा में (पुनः परिणामान्तर की इच्छा दशा में) जो देव, तिर्यग् आदि जात्यात्मक परिणाम होता है, वह संकल्पमात्र से नहीं अपितु प्रकृत्यापूर से होता है। भाव यह है कि एक योनि से दूसरे योनि की प्राप्ति वाली सिद्धि के लिये योगी का केवल संकल्प पर्याप्त नहीं होता है, अपितु उपादानकारणरूप प्रकृति की अपेक्षा रहती है। इससे यह भी निकल आता है कि अणिमादिरूप परिणामविशेष (शरीर के

---

1. अ—ख ग घ च छ—मनुष्यादिजातिरूपेण पूर्वं परिणम्य स्थितानां कायेन्द्रियाणां कामरूपतादशायां यो देवतिर्यगादिजातिपरिणामः स प्रकृत्यापूराद् भवति न तु सङ्कल्पमात्रादित्यर्थ इति व्याख्यान्तरम् उपलभ्यते, क—मनुष्य...व्याख्यान्तरं नोपलभ्यते।
आ—ग घ च छ—व्याख्यान्तरं उपलभ्यते, ख—व्याख्यान्तरं नोपलभ्यते।

उपादानकारणरूप) प्रकृति के 'अपचय' (ह्रास) से होता है। यहाँ 'जात्यन्तर' शब्द से योगियों के गज, तुरङ्गसदृश सामर्थ्यविशेष तथा कायव्यूहादिरूप सामर्थ्यविशेष का भी संग्रह होता है। इसी प्रकार 'आपूर' शब्द से प्रकृत्यादि कारणों का सामर्थ्यविशेष (सघनत्व, दृढ़त्व आदि) भी संग्राह्य है। कायव्यूह के विषय में श्रुति इस प्रकार है— 'स एकधा...विंशतिः' (छा. उप. ७/२६/२) अर्थात् 'वह एक होता है, फिर तीन (तेज, जल और पृथिवी) हो जाता है, फिर पाँच, सात और नौ रूप हो जाता है। फिर वही ग्यारह कहा जाता है तथा वही सौ, दश, एक सहस्र और बीस भी होता है।'

सम्प्रति, वार्त्तिककार भाष्य की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

## योगवार्त्तिकम्

प्रकृत्यापूरे हेतुं वदन् सूत्रं व्याचष्टे—पूर्वपरिणामेति। यतो लोके वल्मीकादीनां क्षुद्रपरिणामापाये तदुत्तरमहापरिणामोत्पत्तिर्भूतप्रकृतीनामनुप्रवेशाद् भवतीति दृष्टम्, अतो योगीश्वरादीनामपि देहेन्द्रिययोः परिणामान्तरकाले धर्मादिसापेक्षाः कायेन्द्रियप्रकृतयः स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्ति स्वस्वजातीयां कायादिप्रकृतिमुपकुर्वन्ति आपूरेणानुप्रवेशेनेत्यर्थः। तत्र कायप्रकृतिः पञ्चभूतानि, इन्द्रियप्रकृतिश्चास्मितेति। दृष्टश्च लोके तृणराशिनिक्षिप्तस्य वह्निकणस्य क्षणादेव प्रकृत्यापूरेण गगनव्यापी परिणामविशेष इति। एतेन वामनाद्यवतारादीनां क्षणादेव त्रिभुवनव्यापित्वविश्वरूपत्वादिकं मार्कण्डेयादिभ्यो विष्णुना मायाप्रदर्शनं च प्रकृत्यापूरेण तडिन्मालायामिव क्षणभङ्गुरेणेति व्याख्यातम्। अगस्त्यादीनां समुद्रपानादिकं च तोयादिप्रकृत्यपसारणेनेति [1]व्याख्येयम्। एवमेव विश्वं परमेश्वरस्य मायेति गीयते ऐन्द्रजालिकवत्। क्षणेनैव प्रकृत्यापूरापसारणादिभिर्जगदन्यथयितुमुत्पादयितुं [2]विलापयितुं च परमेश्वरः सङ्कल्पमात्रेण शक्नोति, सूक्ष्मदृष्ट्या तु प्रतिक्षणं तथा करोत्येवेति [3]पश्यन्तु योगिनो भगवन्नृत्यमिति दिक्॥२॥

'प्रकृत्यापूर' को जात्यन्तरपरिणाम का हेतु बतलाते हुए भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—'पूर्वपरिणामेति।' ऐसा देखा जाता है कि वल्मीकादि ऋषियों के क्षुद्रपरिणाम के ह्रासपूर्वक (अपायपूर्वक) तदुत्तरमहापरिणाम की अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) भूतप्रकृतियों (पाञ्चभौतिक शरीर के कारणभूत पञ्चतन्मात्रादि उपादानकारणरूप प्रकृतियों) के अनुप्रवेश से हुई। अतः योगीश्वरादियों के शरीर और इन्द्रियसम्बन्धी परिणामान्तरकाल में धर्मादिसापेक्ष (धर्माद्यनुप्राणित) काय तथा इन्द्रियों की

---

1. क घ च छ—व्याख्येयं, ख ग—व्याख्यातम्।
2. क घ च छ—विलापयितुं उपलभ्यते, ख ग—विलापयितुं नोपलभ्यते।
3. क ख घ च छ—पश्यन्तु, ग—पश्यन्ति।

प्रकृतियाँ अपने-अपने विकार को ग्रहण करती हैं। अर्थात् अनुप्रवेश (आपूर) द्वारा स्व-स्व जातीय कायादिरूप प्रकृतियों से उपकृत होती हैं। इनमें पञ्च महाभूत 'काय-प्रकृति' है तथा अस्मिता (अहंकार) 'इन्द्रियप्रकृति' है। जैसा कि लोक में दिखलाई पड़ता है कि तृणराशि में प्रक्षिप्त अग्निकण क्षणभर में ही (वायुरूप) प्रकृत्यापूर द्वारा अत्यन्त व्यापक (आकाशव्यापी) दग्धात्मक अथवा ज्वलनात्मक परिणाम-विशेष वाला होता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि किस प्रकार वामनादि अवतारों का क्षणभर में ही त्रिभुवनव्यापी परिणामविशेष, श्रीकृष्ण का विश्व-रूपात्मक परिणामविशेष तथा भगवान् विष्णु का मार्कण्डेयादि ऋषियों के प्रति तडित्-माला (विद्युत् की लहरात्मक कौंध) की भाँति मायाप्रदर्शन क्षणभर में ही प्रकृत्यापूर से हुआ। इसी प्रकार यह भी व्याख्यात हो जाता है कि किस प्रकार अगस्त्यादि ने जलादिरूप प्रकृति के अपसारण से समुद्रपानादि किया। इसीलिये 'ऐन्द्रजालिक की भाँति परमेश्वर का मायारूप यह संसार है'—ऐसा कहा जाता है। अतः परमेश्वर संकल्पमात्र से ही क्षणभर में ही तत्तत् प्रकृतियों (उपादानकारणों) के उपचयापचय द्वारा जगत् का परिणाम (अन्यथात्व), उत्पत्ति तथा विलय करने में समर्थ है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि परमेश्वर सूक्ष्मदृष्टि से प्रतिक्षण अन्यथात्व कर रहा है—अतः योगिजन भगवान् के नृत्य का अवलोकन करें॥२॥

सम्प्रति, सूत्र द्वारा प्रकृत्यापूर में धर्मादिनिमित्त का स्थान निर्धारित किया जा रहा है—

### योगसूत्रम्

**[1]निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्॥३॥**

धर्मादि निमित्त प्रकृतियों के प्रयोजक (प्रेरक) नहीं होते हैं, अपितु वे कृषक की भाँति आवरणरूप अधर्मादि प्रतिबन्ध का भेदनमात्र करते हैं॥३॥

### व्यासभाष्यम्

[2]न हि धर्मादि निमित्तं [3]तत्प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति। न कार्येण कारणं [4]प्रवर्तते इति। कथं तर्हि, वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। यथा क्षेत्रिकः केदारादपां

---

1. निमित्तकं—इति पाठान्तरम्।
2. छ थ—निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां (न—प्राक्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—निमित्तं...प्रकृतीनां नोपलभ्यते।
3. क ख ग च छ ज झ त थ ध न भ म—तत् उपलभ्यते, घ द प फ ब य र—तत् नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ प फ ब भ म य र—प्रवर्तते, द ध न—प्रवर्त्त्यते।

पूरणात्केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनापकर्षत्यावरणं त्वा[1]सां भिनत्ति, तस्मिन्भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तरमा[2]प्लावयन्ति, तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणम[3]धर्मं भिनत्ति, तस्मिन्भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः [4]स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति। यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान्भौमान्वा रसान्धान्यमूलान्यनुप्रवेशयितुम्। किं तर्हि [5]मुद्गगवेधुकश्यामाकादीस्ततोऽपकर्षति। अपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनुप्रविशन्ति, तथा धर्मो [6]निवृत्तिमात्रे कारणमधर्मस्य, शुद्ध्यशुद्ध्योरत्यन्तविरोधात्। न तु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति। अत्र नन्दीश्वरा[7]दय उदाहार्याः। विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते। ततश्चाशुद्धिपरिणाम इति। [8]तत्रापि नहुषाजगरादय उदाहार्याः॥३॥

(प्रकृतियों के आपूरण में) धर्मादि निमित्त प्रकृतियों (कारणों) के प्रयोजक नहीं होते हैं, क्योंकि कार्य के द्वारा कारण प्रवर्तित नहीं किया जाता है। तब कैसे 'प्रकृति' प्रवृत्त होती है? कृषक की भाँति उस धर्मादि निमित्त के द्वारा प्रतिबन्धक का अपसारणमात्र किया जाता है। जैसे कृषक जल से भरे हुए खेत से समान धरातल वाले निम्न अथवा निम्नतर दूसरे (जलविहीन) खेतों में जल को भरने की इच्छा करता हुआ जल को अपने हाथ से खींचकर नहीं ले जाता है, अपितु वह केवल जल के अवरोधकों (मेड़ों) को तोड़ देता है। उस अवरोधक मेड़ के काट दिये जाने पर जल स्वयं ही अन्य क्यारी में फैल जाता है। वैसे ही धर्म (रूपी निमित्त) प्रकृतियों के (प्रसार को रोकने वाले) आवरणभूत अधर्म को हटा देता है। उसके हट जाने पर प्रकृतियाँ अपने-अपने विकारों को प्राप्त हो जाती हैं। (उदाहरणान्तर है)— अथवा जैसे वही कृषक उसी खेत में जल एवं भूमि के रसों को धान के पौधों की जड़ों में प्रवेश कराने में समर्थ नहीं होता है। तो फिर कृषक क्या

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—आसां, ब—तासाम्।
2. छ थ—धर्मी पुरुषस्तदपेक्षधर्मनिमित्तयुक्तत्वात् (आप्लावयन्ति—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—धर्मी...युक्तत्वात् नोपलभ्यते।
3. छ थ—अन्यजातिपरिणामं (अधर्मं—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—अन्यजातिपरिणामं नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—स्वं स्वं, म—स्वम्।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—मुद्गगवेधुकश्यामाकादीन्, ब—मुद्गतिन्दुकगवेधुकश्यामाकादीन्।
6. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—निवृत्तिमात्रे, छ थ—निवृत्तिमात्रैक०।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—आदयः, ब—प्रभृतयः।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब म र—तत्र, भ य—अत्र।

करता है? कृषक तो मूंग, मोथा तथा सांवा आदि (घासों) को क्यारी से उखाड़ फेंकता है। उनके निकल जाने पर वे (जलीय या पार्थिव) रस स्वयं अनाज के पौधों की जड़ों में प्रविष्ट हो जाते हैं। वैसे ही धर्म भी अधर्म की निवृत्ति (अपसारण) मात्र में कारण है अर्थात् वह प्रकृत्यापूर में कारण नहीं है। क्योंकि (धर्मरूप) शुद्धि और (अधर्मरूप) अशुद्धि में परस्पर अत्यन्त विरोध है। प्रकृति को प्रवृत्त करने में कारण नहीं बनता है। इस विषय में नन्दीश्वर आदि उदाहरण देखने योग्य हैं। इसके विपरीत अधर्म भी धर्म को बाधित करता है। और फिर अधर्म द्वारा अशुद्धि रूप परिणाम होता है। इस विषय में नहुष-अजगर आदि उदाहरण देखने योग्य हैं॥३॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार पूर्व सूत्र में प्रतिपादित तथ्य के सन्दर्भ में सम्भावित शंकाओं की उद्भावना कर ऊहापोहयुक्त अवतरणिका के साथ अगले सूत्र की व्याख्या करते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

**प्रकृत्यापूरादित्युक्तम्। तत्रेदं संदिह्यते—किमापूरः प्रकृतीनां स्वाभाविको [1]धर्मादिनिमित्तो वेति? किं प्राप्तम्? सतीष्वपि प्रकृतिषु कदाचिदापूराद्धर्मादिनिमित्तश्रवणाच्च तन्निमित्त एवेति प्राप्तम्। एवं प्राप्त आह—निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। सत्यं धर्मादयो निमित्तं न तु प्रयोजकाः, तेषामपि प्रकृतिकार्यत्वात्। न च कार्यं कारणं प्रयोजयति, तस्य तदधीनोत्पत्तितया कारणपरतन्त्रत्वात्, स्वतन्त्रस्य च प्रयोजकत्वात्।**

प्रकृत्यापूर से जात्यन्तरपरिणाम होता है, ऐसा पीछे कहा जा चुका है।

**शङ्का**—इस विषय में यह संदेह होता है कि यह आपूर प्रकृतियों (तत्तत् पदार्थों के उपादानकारणों) की स्वाभाविक क्रिया है अथवा धर्मादि निमित्तक क्रिया है? अर्थात् प्रकृतियों की स्वतंत्र अथवा परतंत्ररूप कैसी क्रिया है)—ऐसा क्या प्राप्त होता है?

**समाधान**—इस पर पूर्वपक्षी की ओर से यह कहा जाय कि प्रकृतियों के सर्वदा विद्यमान रहने पर भी कदाचित् ही आपूर होने से तथा धर्मादि निमित्त के सुनाई पड़ने से प्रकृत्यापूर को 'नैमित्तिक' ही माना जा सकता है—ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार कहते हैं—'निमित्तमिति।' यह सत्य है कि धर्मादि प्रकृत्यापूर के 'निमित्तकारण' हैं, वे प्रकृत्यादि उपादानकारणों के प्रवर्त्तक (प्रयोजक) नहीं होते हैं, क्योंकि धर्मादि भी प्रकृति के कार्य हैं और कार्य कारण को प्रवृत्त नहीं करता है। क्योंकि कारण के अधीन रहकर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, इसलिये कार्य कारण के परतन्त्र (अधीन) रहता है। अर्थात् कारण से अस्तित्वलाभ करने वाला कार्य 'परतन्त्र' और

---

1. क ग घ च छ ज झ थ द ध न—धर्मादिनिमित्तः, ख—धर्मादिनिमित्तकः, त—निमित्तिकः।

कार्य के विना भी अपने अस्तित्व में रहने वाला कारण 'स्वतन्त्र' कहलाता है। और जो स्वतन्त्र होता है, वही (दूसरे का) प्रयोजक बनता है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार कार्यकारण के प्रयोज्यप्रयोजकभाव को लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

**तत्त्ववैशारदी**

**न खलु कुलालमन्तरेण मृद्दण्डचक्रसलिलादय [1]उत्पित्सितेनोत्पन्नेन वा घटेन प्रयुज्यन्ते, किं तु स्वतन्त्रेण कलालेन।**

जिस प्रकार कुम्भकार के विना ही मृत्तिका, दण्ड, चक्र, जल आदि उत्पन्न होने की इच्छा वाले अथवा उत्पन्न हुए घट के द्वारा प्रवृत्त नहीं होते हैं। अर्थात् घट के द्वारा मृत्तिकादि कारण का सञ्चालन नहीं किया जा सकता है, अपितु स्वतन्त्र कुलाल के द्वारा ही वे मृत्तिकादि कार्योत्पत्ति के लिये प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् स्वतन्त्र कुम्भकार के द्वारा ही मृत्तिकादि का संचालन किया जाता है। निष्कर्षतः कार्य के द्वारा कारण का प्रेरित अथवा सञ्चालित होना सर्वथा असम्भव है।

सम्प्रति, 'पुरुषार्थ' को प्रवर्तक मानने पर विचार किया जा रहा है—

**तत्त्ववैशारदी**

**न च पुरुषार्थोऽपि प्रवर्तकः किं तदुद्देशेनेश्वरः। उद्देशतामात्रेण पुरुषार्थः प्रवर्तक इत्युच्यते। [2]उत्पित्सोस्त्वस्य [3]पुरुषार्थस्या[4]व्यक्तस्य स्थितिकारणत्वं युक्तम्। न चैतावता धर्मादीनाम[5]निमित्तता, प्रतिबन्धापनयनमात्रेण क्षेत्रिकवदुपपत्तेः। ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थं प्रतिबन्धापनय एव व्यापारो वेदितव्यः। तदेतन्निगदव्याख्यातेन भाष्येणोक्तम्॥३॥**

'पुरुषार्थ' भी (प्रकृत्यापूर का) प्रवर्त्तक नहीं हो सकता है, अपितु पुरुषार्थ के उद्देश्य से ईश्वर ही प्रवर्त्तक होता है। और जो पुरुषार्थ को प्रवर्त्तक कहा गया है, वह पुरुषार्थ के उद्देश्यकोटि में आने के कारण है। उत्पन्न होने वाले (अभीप्सित) पुरुषार्थ में तो अव्यक्त का स्थितिकारणत्व मानना युक्तियुक्त है। अर्थात् पुरुषार्थ अव्यक्त प्रकृति का 'स्थितिकारण' है, वह प्रकृति का सञ्चालक नहीं है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्मादि में प्रकृत्यापूर के प्रति निमित्तकारणत्व भी नहीं है। अर्थात् धर्मादि में निमित्तकारणत्व है। कृषक की भाँति, अधर्मादिरूप प्रतिबन्धक को

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—उत्पित्सितेन, त—उत्पित्सुना।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—उत्पित्सोस्त्वस्य, ज—नोत्पित्सोस्तस्य।
3. क ख घ च छ ज झ थ द ध न—पुरुषार्थस्य, ज त—अपुरुषार्थस्य।
4. क छ ज—व्यक्तस्य, ख ग घ च झ त थ द ध न—अव्यक्तस्य।
5. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—अनिमित्तता, झ—अपि निमित्तता।

हटाते हुए ही धर्मादि प्रकृत्यापूर का निमित्तकारण सिद्ध होता है। और धर्म का अधिष्ठाता होने के कारण ईश्वर को अधर्मादि प्रतिबन्ध के अपनयन-व्यापार वाला समझना चाहिये। (शब्दान्तर में ईश्वराधिष्ठित धर्मादि ही अधर्मादि प्रतिबन्ध को हटाते हुए प्रकृत्यापूर के प्रति निमित्तकारण बनते हैं)। भाष्य के द्वारा यही तथ्य विस्तारपूर्वक विवेचित हुआ है॥३॥

**बालप्रिया—**

**'प्रतिबन्धापनयनमात्रेण'**—तात्पर्य यह है कि धर्म अधर्मरूप प्रतिबन्ध के अपसारण-पूर्वक सत्त्वबहुल कायेन्द्रियपरिणाम का 'निमित्तकारण' होता है। उदाहरणार्थ, शिवार्चन द्वारा नन्दीश्वर की अर्जित धर्मराशि मानव-देह से सत्त्वबहुल ईश्वरीय देहान्तर का निमित्तकारण बनी। इसी प्रकार अधर्म भी अपने प्रतिबन्धकीभूत धर्म के अपसारणपूर्वक तमोबहुल कायेन्द्रियपरिणाम का निमित्तकारण होता है। उदाहरणार्थ, ईश्वरकल्प पूज्यनीय ब्राह्मणवृन्द का अपमान करने से राजा नहुष की अर्जित अधर्मराशि तमोबहुल अजगरयोनि का निमित्तकारण बनी। इस प्रकार तत्-तत् प्रकृतियों (उपादान कारणों) के व्यापार में बाधा डालने वाले (अवरोधक) का उन्मूलन करना ही निमित्तकारण का उद्देश्य है। निमित्त कथमपि उपादानकारण का सञ्चालक नहीं हो सकता है। अतः सूत्र में धर्मादि निमित्त में **'प्रयोजकत्व'** का निषेध कर **'वरणभेदत्व'** को उपपादित किया गया है॥३॥

**योगवार्त्तिकम्**

ननु योगजधर्मैर्बलात् प्रकृतय आकृष्यन्त इति प्रकृतिस्वातन्त्र्यसिद्धान्तहानिः, तथा स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीत्यादिश्रुतेरपि प्रकृतिस्वातन्त्र्यहानिरित्याशङ्कायामाह—निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। व्याचष्टे—न हीति। धर्मादिरूपाणां निमित्तानां प्रकृत्या[1]पूरकत्वे युक्तिमाह—न कार्येणेति। परतन्त्रं स्वतन्त्रस्य प्रवर्त्तकमयुक्तमित्यर्थः। किं चाकाशे द्रव्याणामनारम्भिकाऽप्यनु-क्षणमणूनां क्रिया सर्वसम्मता। न च तत्र धर्मोऽधर्मो वा कारणम्, कस्यापि भोगाहेतुत्वात्। नापि तत्रेश्वरा[2]दिसङ्कल्पादिः कारणम्, [3]गौरवात्। अतो निरन्तराणु[4]क्रियोपपत्तये लाघवेन गुणत्वेनैव सामान्यतः प्रवृत्तिकारणत्वात् प्रकृतिस्वातन्त्र्यं सिद्धम्। अपि च कदाचिद्

---

1. क ख ग—अप्रेरकत्वे, घ—अपूरकत्वे, च छ—आपूरकत्वे।
2. क घ च छ—आदि० उपलभ्यते, ख ग—आदि० नोपलभ्यते।
3. ख—ईश्वरसंकल्पेऽपि अदृष्टस्य सहकारिता वा सर्वतन्त्रसिद्धान्तत्वाच्च। ईश्वरस्य सर्वकारणत्वश्रुतिश्च दृष्टस्य सर्वकारणत्वश्रुतिवत् पुरुषार्थोपयोगिसर्वकार्यपरा तस्य भूतानुग्रहमात्रप्रयोजकत्ववचनात् (गौरवात्—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—ईश्वर....वचनात् नोपलभ्यते।
4. ग घ—आदि० (क्रिया—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख च छ—आदि० नोपलभ्यते।

दण्डचक्रादिकं विनाऽपि योगिसङ्कल्पादेव घटो जायते, आदिसर्गे चेश्वरसङ्कल्पेन [1]बीजान्तराणि विनैव सर्वाणि बीजान्युत्पद्यन्त इति परस्परव्यभिचाराभिमितानां न साक्षात्कारणत्वसम्भवः, तृणारणि[2]मण्यादिषु चाग्न्यादिकारणत्वेऽन्योन्यव्यभिचारो लोकसिद्ध एवास्ति। अतः सहकार्यप्रयुक्ता प्रकृतिरेव परिणामे [3]कारणं [4]स्वतन्त्रेति सिद्धम्। ननु प्रकृतिश्चेत् स्वतन्त्रा [5]केन प्रकारेण तर्हि [6]धर्मेश्वरयोगिसङ्कल्पादीनां प्रकृतिपरिणामहेतुत्वमिति पृच्छति—कथं तर्हीति। सूत्रार्द्धेनोत्तरमाह—वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवदिति। अपां पूरणादद्भिः पूरणात्, केदारान्तरस्य विशेषणं सममित्यादित्रिकम्, अपकर्षति क्षिपति प्रावरणमालवालम्। स्वं स्वं विकारमिति। स्वस्वसजातीयं विकारं [7]प्राप्नुवन्ति विकार[8]प्रसूतीनां परिणामान्तरमित्यर्थः। [9]प्रकृतिकायेन्द्रियप्रकृत्यभिप्रायेणोक्तं गुणाद् गुणान्तरमाप्लावयन्तीत्यपि बोध्यम्। क्रियावदारम्भकसंयोगोऽपि प्रकृतेः स्वत एव भवतीत्यपि तेनैव दृष्टान्तेन प्रतिपादयति—यथा चेति। न तु प्रकृतिप्रवृत्ताविति। संयोग[10]विशेषेष्वपीति बोध्यम्, तथा चाधर्मादिप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारेणैव धर्मादिः परिणामकारणमिति सिद्धम्।

शङ्का—योगजधर्म के बल से प्रकृतियाँ अपने-अपने कार्य को करती हैं—ऐसा मानने पर प्रकृतिस्वातन्त्र्य का सिद्धान्त अपहृत होता है तथा 'स यदि...समुत्तिष्ठन्ति' (छा. उप. ८/२/१) अर्थात् 'योगी यदि पितृलोक की कामना करता है तो उसके संकल्पमात्र से पितरजन उपस्थित हो जाते हैं'—इस श्रुति से भी प्रकृतिस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को क्षति पहुँचती है?

समाधान—ऐसी आशंका होने पर सूत्रकार कहते हैं—'निमित्तमिति।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'न हीति।' अर्थात् धर्मादि निमित्त प्रकृत्यापूर के प्रयोजक नहीं हो सकते हैं। भाष्यकार प्रकृत्यापूर में धर्मादि के निमित्तत्व को युक्तिसहित बतलाते हैं—'न कार्येणेति।' परतन्त्र को स्वतन्त्र का प्रवर्त्तक मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। किञ्च आकाश में अण्वात्मक द्रव्यों की प्रतिक्षणिक अनारम्भिका क्रिया सर्वसम्मत है।

---

1. क ग घ च छ—बीजान्तराणि विनैव सर्वाणि बीजान्युत्पद्यन्ते, ख—वृक्षं विनैव बीजमुत्पद्यते।
2. क ग घ—चाग्न्यादिषु (मण्यादिषु—पश्चात्) उपलभ्यते, ख च छ—चाग्न्यादिषु नोपलभ्यते।
3. क घ च छ—कारणं उपलभ्यते, ख ग—कारणं नोपलभ्यते।
4. क ग घ च छ—स्वतन्त्रा, ख—समर्था।
5. क ग घ च छ—केन प्रकारेण, ख—किमर्थम्।
6. क ग घ च छ—धर्मेश्वरयोगिसङ्कल्पादीनां प्रकृतिपरिणामहेतुत्वं, ख—धर्मादिकम्.
7. क ग च छ—प्राप्नुवन्ति, ख घ—व्याप्नुवन्ति।
8. क घ च छ—प्रसूतीनां, ख—अनुप्रवेशात्तत्तद्विनाशेन, ग—प्रकृतीनाम्।
9. क ग घ च छ —प्रकृतिकायेन्द्रियप्रकृत्यभिप्रायेणोक्तं गुणाद् गुणान्तरमाप्लावयन्तीत्यपि बोध्यम् उपलभ्यते, ख—प्रकृति...बोध्यं नोपलभ्यते।
10. क—विशेषे, ख ग घ च छ—विशेषेषु।

अणुओं की इस अनारम्भिका क्रिया के लिये धर्म अथवा अधर्म में से कोई कारण नहीं होता है। क्योंकि अनारम्भिका क्रिया किसी के भी भोग का हेतु नहीं होती है। और न ही परमाणुओं की अनारम्भिका क्रिया के प्रति ईश्वर के संकल्पादि को कारण कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने में गौरवदोष प्रसक्त होगा। अतः अणुओं में प्रतिक्षण होने वाली अनारम्भिका क्रिया की उपपत्ति के लिये गुण को ही सामान्यतः अणुओं की प्रवृत्ति का कारण मानने में लाघव है और इससे प्रकृतिरूप गुणस्वातन्त्र्य का सिद्धान्त भी हताहत नहीं होता है अर्थात् '**प्रकृति-स्वातन्त्र्यवाद**' सिद्ध होता है। किञ्च कभी-कभी दण्ड, चक्रादि निमित्तकारण के विना भी योगी के संकल्पमात्र से ही घटोत्पत्ति होती है तथा सृष्टि के आदिकाल में ईश्वर के संकल्पमात्र से ही बीजान्तररूप उपादानकारण के विना ही समस्त बीज उत्पन्न होते हैं—इस प्रकार परस्पर व्यभिचार दिखलाई पड़ने से यह सिद्ध होता है कि निमित्तकारणों में साक्षात् उपादानकारणत्व नहीं है। तृण, अरणि तथा मणि आदि को अग्न्यादि का कारण मानने में जो परस्पर व्यभिचार आता है, वह लोकसिद्ध ही है। अतः यह सिद्ध होता है कि सहकारिकारण की सहायता के विना ही '**प्रकृति**' परिणामक्रिया का स्वतन्त्र कारण है।

**शङ्का**—यदि प्रकृति स्वतन्त्र है तो धर्म, ईश्वर तथा योगी के संकल्पादि को किस प्रकार प्रकृति-परिणाम का हेतु कहा गया है? ऐसा पूर्वपक्षी पूछता है—'**कथं तर्हीति**।'

**समाधान**—सूत्र के उत्तरार्द्ध द्वारा उत्तर दिया जा रहा है—'**वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकव-दिति**।' भाष्य के 'अपां पूरणात्' शब्द का अर्थ है—जल से आप्लावित (पूरण) होने के कारण। '**समं निम्नं निम्नतरं**'—ये तीनों '**केदारान्तर**' के विशेषण हैं। '**अपकर्षति**'—क्रिया पद का अर्थ डालना है। '**प्रावरण**' आलवाल को कहते हैं। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'**स्वं स्वं विकारमिति**।' प्रकृतियाँ अपने-अपने सजातीय विकारों को प्राप्त करती हैं अर्थात् प्रकृतियाँ अपने कार्यों के परिणामान्तर की कारण होती हैं। यहाँ 'प्रकृतयः' यह बहुवचन कायेन्द्रिय की प्रकृतियों के अभिप्राय से है। अर्थात् '**काय**' की प्रकृति पञ्च महाभूत तथा '**इन्द्रिय**' की प्रकृति अहंकार को ध्यान में रखकर '**प्रकृतयः**' में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। इससे यह भी बोधित होता है कि तत्तत् प्रकृतियाँ एक गुण से गुणान्तर को आप्लावित करती हैं। जैसे, प्रकृति में परिणाम-क्रिया स्वाभाविक है, वैसे ही प्रकृति का आरम्भक संयोग भी स्वतः ही होता है। भाष्यकार इस तथ्य को भी ऊपर दिये हुए दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित करते हैं—'**यथा चेति। न तु प्रकृतिप्रवृत्ताविति**।' जैसे धर्म प्रकृति की प्रवृत्ति में कारण नहीं होता है, अपितु अधर्म की निवृत्तिमात्र द्वारा वह कारण बनता है। वैसे ही संयोगविशेषों के प्रति धर्म

कारण नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार यह सिद्धान्तित होता है कि अधर्मादि प्रतिबन्ध की निवृत्ति द्वारा ही धर्मादि प्रकृति-परिणाम का कारण होता है।

'उपादानकारण' का प्रयोजक 'निमित्तकारण' नहीं होता है' इस तथ्य को विश्लेषित करते हुए योगवार्त्तिकार आगे कहते हैं—

### योगवार्त्तिकम्

**अयं भावः—यथा संस्कार एव स्मृतिहेतुः, सदृशादृष्टचिन्तादयस्त्वननुगततया संस्कार-स्योद्बोधकमात्राः, उद्बोधश्च निद्राऽऽदिदोषरूपावरणभङ्गः, तथैव प्रकृतिरेव जगत्कारणं कालकर्मेश्वरादयस्तु प्रकृतेः कार्यजननशक्त्युद्बोधकाः। तत्र धर्माधर्मौ [1]स्वधर्मविरुद्धधर्मान्तर-रूपावरणभङ्गेनोद्बोधकौ, ईश्वरस्तु साम्यपरिणामादिरूपाखिलावरण[2]भङ्गेनोद्बोधकः. कालादयस्तु धर्माद्युद्बोधकतया, दण्डादयस्तु कार्यान्तराभिव्यक्तिप्रतिबन्धकतयेत्येवं यथायोग्य-मूहनीयम्। एतदेव निमित्तकारणतेति गीयते। अव्यभिचारात्तु संयोगस्या[3]समवायिकारणत्व-मिष्यत एव, द्वारत्वात्। न तेन प्रकृतेः स्वातन्त्र्यहानिरिति। धर्मस्याधर्मरूपप्रतिबन्धापसारण-द्वारा कायेन्द्रियपरिणामनिमित्तत्वे उदाहरणमाह—अत्र नन्दीति। नन्दिनामा मनुष्य ईश्वरो जात इति नन्दीश्वरः। एवं नहुषाजगरादयोऽपि व्याख्येयाः। सिद्धादीनां कायेन्द्रियपरिणाम-श्चिन्तितः॥३॥**

सारांश यह है—जैसे संस्कार ही स्मृति का हेतु (उपादानकारण) होता है, संस्कारजातीय अदृष्ट, चिन्ता आदि तो अननुगत होने के कारण संस्कार के उद्बोधकमात्र होते हैं तथा 'उद्बोध' निद्रादिदोषरूप आवरण का भंग होना है, वैसे ही प्रकृत में प्रकृति ही जगत् का कारण (उपादानकारण) है और काल, कर्म, ईश्वरादि तो प्रकृतिगत कार्याभिव्यक्तिरूप सामर्थ्य को उद्बुद्ध करते हैं अर्थात् कालादि प्रकृति के उद्बोधक मात्र होते हैं। इन उद्बोधकों में से धर्म और अधर्म दोनों अपने-अपने धर्म (स्वभाव) के विरुद्ध धर्मान्तररूप आवरण का भंग करते हुए प्रकृति के उद्बोधक होते हैं। अर्थात् अधर्म की निवृत्ति करता हुआ प्रबल धर्म तथा धर्म को अभिभूत करता हुआ प्रबल अधर्म अपने-अपने क्षेत्र में प्रकृति के उद्बोधक होते हैं। 'ईश्वर' प्रकृतिगत साम्यपरिणामादिरूप अखिल आवरण के भंग द्वारा प्रकृति का उद्बोधक होता है। कालादि तो धर्मादि के उद्बोधन द्वारा प्रकृति के सहायक होते हैं। उद्बोधन की यह प्रक्रिया उसी प्रकार है जिस प्रकार लोक में दण्डादि (निमित्त) कारण अपने विजातीय कार्य (पट) की अभिव्यक्ति के

---

1. क ग च छ—स्वधर्मविरुद्धधर्मान्तर०, ख—स्वविरुद्धकर्मान्तर०, घ—स्वविरुद्धधर्मात्र।
2. क ग घ च छ—भङ्गेनोद्बोधकः, ख—भङ्गो नोद्बोधकः।
3. क ग घ च छ—समवायि०, ख—असमवायि०।

प्रतिबन्धक होकर अपने सजातीय कार्य (घट) के सहायक होते हैं। इस प्रकार निमित्तकारण का उपादानकारण के प्रति उद्‌बोधकत्व सर्वत्र अध्याहार्य है। इसी उद्‌बोधक को निमित्तकारण कहते हैं। व्यभिचार न होने के कारण **'संयोग'** को असमवायिकारण माना जाता है, क्योंकि प्रकृति के द्वारा तत्त्वों की उत्पत्ति में **'संयोग' 'द्वार'** का काम करता है और ऐसा मानने से **'प्रकृतिस्वातन्त्र्यवाद'** को क्षति नहीं पहुँचती है। धर्म अधर्मरूप प्रतिबन्ध के अपसारण (दूरीकरण) द्वारा प्रकृति-जन्य कायेन्द्रियपरिणाम में निमित्तकारण होता है, इस विषय में भाष्यकार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—**'अत्र नन्दीति'** नन्दिनाम का मनुष्य (शिवपूजन द्वारा) ईश्वरभाव को प्राप्त हुआ और नन्दीश्वर कहलाया। (यह धर्म द्वारा अधर्म के अपसारित होने का उदाहरण है। अगला उदाहरण अधर्म द्वारा धर्म के अपसारित होने का है)—इसी प्रकार राजा नहुष के अजगरभाव को प्राप्त होने आदि के उदाहरणों को समझना चाहिये। इसी प्रकार सिद्धादियों के कायेन्द्रियपरिणाम पर विचार किया गया है॥३॥

**व्यासभाष्यम्**

**[1]यदा तु योगी बहून्कायान्निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति—**

जब योगी (संकल्पमात्र से) अनेक शरीरों का निर्माण करता है, तब वे सभी शरीर एक (प्राचीन) चित्त वाले होते हैं अथवा अनेक (नवीन) चित्त वाले होते हैं? तदर्थ सूत्र है—

**योगसूत्रम्**

## निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्॥४॥

केवल अहंकाररूप उपादानकारण से अनेक निर्माणचित्त होते हैं॥४॥

**व्यासभाष्यम्**

**अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति। ततः [2]सचित्तानि भवन्तीति॥४॥**

चित्त के कारणभूत अस्मितामात्र को लेकर (वह योगी) निर्माणचित्तों की रचना करता है। इस प्रकार निर्माणकाय चित्तयुक्त होते जाते हैं॥४॥

---

1. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—यदा तु योगी, छ थ—यदात्मा तु योगः।
2. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ भ म य र—सचित्तानि, छ थ—तत्प्रवेशात् सचित्तानि शरीराणि, ब—सचित्ता।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार स्वरचित अवतरणिका द्वारा वैयासिकी अवतरणिका को उठाते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

प्रकृत्यापूरेण सिद्धी: समर्थ्य सिद्धिविनिर्मितनानाकायवर्तिचित्तैकत्वंनानात्वे विचारयति—यदा त्विति। तत्र नानामनस्त्वे कायानां प्रतिचित्तमभिप्रायभेदादेकाभिप्रायानुरोधश्च [1]परस्परप्रतिसंधानं च न स्यातां पुरुषान्तरवत्। तस्मादेकमेव चित्तं प्रदीपवद्विसारितया बहूनपि निर्माणकायान् व्याप्नोतीति प्राप्त आह—निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्। यद् यावज्जीवच्छरीरं तत्सर्वमेकैकासाधारणचित्तान्वितं दृष्टम्, [2]तद्यथा चैत्रमैत्रादिशरीरम्। तथा च निर्माणकाया इति सिद्धं तेषामपि प्रातिस्विकं मन इत्यभिप्रायेणाह—अस्मितामात्रमिति॥४॥

'प्रकृत्यापूर' द्वारा जात्यन्तरपरिणामरूप सिद्धि का समर्थन हो जाने के पश्चात् सिद्धि द्वारा नवनिर्मित शरीरों (निर्माणकायों) में रहने वाले चित्त के 'एकत्व' अथवा 'अनेकत्व' के विषय में भाष्यकार विचार करते हैं—'यदा त्विति।' नवनिर्मित शरीरों के अनुसार निर्माणचित्तों को भी समसंख्यक मानने पर सम्भावित दोष की उद्भावना की जा रही है—नवनिर्मित कायों को समसंख्यक निर्मितचित्त वाला मानने पर प्रत्येक चित्त का अभिप्राय भिन्न-भिन्न होने से उनमें एक कार्यकर्तृत्व और परस्पर अभिमुखीकरण (अन्य चित्तों का एक चित्त की ओर सम्मुख होना) सम्भव नहीं बन पायेगा, दूसरे पुरुष के समान। जैसे एक पुरुष का अभिप्राय दूसरे पुरुष के अभिप्राय से भिन्न होने के कारण दोनों भिन्न-भिन्न क्रिया को करते हुए देखे जाते हैं। असंगति को ध्यान में रखकर यह मानना चाहिये कि एक ही (प्राचीन) चित्त प्रदीपन्याय की तरह संकोचविकाशशील होने से अनेक निर्माणकायों को व्याप्त कर लेता है। अत: निर्मित कायों की संख्या के बराबर चित्तों का निर्माण युक्तिसंगत नहीं है—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सूत्रकार बतलाते हैं—'निर्माणेति।' जितने भी जीवित (नवनिर्मित) शरीर होते हैं, वे सब एक-एक असाधारण चित्त से सम्बद्ध देखे जाते हैं। जिस प्रकार चैत्र, मैत्र आदि के शरीर एक-एक चित्त वाले होते हैं उसी प्रकार (प्रकृत में) निर्माणकायों के समसंख्यक निर्माणचित्त होते हैं। प्रत्येक निर्मितकाय की पृथक्-पृथक् मन से सम्बद्धता बतलाने के लिये भाष्यकार आगे कहते हैं—'अस्मितामात्रमिति।' चित्त का कारण जो अहंकार है, उसको लेकर योगी अनेक चित्तों का निर्माण करता है॥४॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—परस्पर०, त—परस्व०।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—तद्यथा चैत्रमैत्रादिशरीरम् उपलभ्यते, न—तद्यथा...शरीरं नोपलभ्यते।

**बालप्रिया**

'निर्माणचित्तानि'—योगी अपने संकल्प से जिन चित्तों का निर्माण करता है, उन्हें 'निर्माणचित्त' कहते हैं। योगी संकल्प द्वारा जितने नूतन शरीरों को निर्मित करता है, उतने ही निर्माणचित्तों का भी आविर्भाव करता है।

'अस्मितामात्रात्'—इस पद का अर्थ है—'अहङ्कारमात्रात्।' ल्यब्लोपे पञ्चम्येषा इत्याशयेन भाष्यकारेण कथितम्—'अस्मितामात्रम्'॥४॥

**योगवार्त्तिकम्**

इदानीं सिद्धानां चित्तपरिणामनिर्णायकं सूत्रमवतारयति-यदेति। एकमनस्का निर्मातृमनोमात्रेणैव व्यवहारभाजः, अनेकमनस्काः निर्मातृमनोऽतिरिक्तप्रातिस्विकमनोभाजः। निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्। स्वसङ्कल्पेन निर्मितचित्तानि निर्माणचित्तान्युच्यन्ते, तानि बहूनि निर्माणदेहसमसंख्यानि भवन्ति। तेषां कारणमाह—अस्मितामात्रादिति। अहङ्कारादित्यर्थः। मात्रशब्देन मनोव्यावृत्तिः, सङ्कल्प[1]मात्रेण मनसो निमित्तमात्रत्वादिति। अत्र चित्तशब्दो मनोमात्रवाची, अहङ्कारप्रकृतिकत्ववचनात्। बुद्ध्यहङ्कारा अपि अनेके स्वप्रकृतिप्रधानबुद्ध्यापूराद्भवन्तीति प्रत्येतव्यं युक्तिसाम्यादिति। भाष्ये—सचित्तानि शरीराणीत्यर्थः। शेषं सूत्र एव व्याख्यातम्।

सम्प्रति, भाष्यकार सिद्ध पुरुषों के चित्तपरिणाम के निर्णायक सूत्र को अवतरित करते हैं—'यदेति।' 'एकमनस्काः' शब्द का अर्थ है—निर्मातृभूत (मूल) मनोमात्र के द्वारा ही नवनिर्मित अनेक देहों का तत्तद् व्यापारों के योग्य होना। 'अनेकमनस्काः' पद का अर्थ है—निर्मातृभूत मन के अतिरिक्त पृथक्-पृथक् (प्रातिस्विक) मन के द्वारा तत्तद् अनेक देहों का व्यापार के योग्य होना। इन दो विकल्पों में से स्वीकृत विकल्प को सूत्र द्वारा बतलाया जा रहा है—'निर्माणेति।' (योगी के) स्वसंकल्प से निर्मित चित्तों को 'निर्माणचित्त' कहते हैं। ये अनेक 'निर्माणचित्त 'निर्माणदेह' की संख्या के बराबर होते हैं। भाष्यकार निर्माण-चित्तों के कारण को बतलाते हैं—'अस्मितामात्रादिति।' यहाँ 'अस्मिता' शब्द का अर्थ अहंकार है। 'अस्मितामात्रात्' में 'मात्र' शब्द के प्रयोग द्वारा (सूत्रकार ने) मन (के उपादानकारणत्व) की व्यावृत्ति की है, क्योंकि 'नूतन चित्तों का निर्माण हो'—ऐसा संकल्प करने से ही मन तो निर्माण-चित्त के प्रति निमित्तकारण होता है। अर्थात् निर्माणचित्तों का उपादानकारण अस्मिताख्य अहंकार तत्त्व है। अतः सूत्रगत 'अस्मिता' शब्द 'मन' का वाचक है, क्योंकि चित्त का कारण (उपादानकारण) अहंकार को बतलाया गया है। अर्थात् अहंकाररूप प्रकृति का विकार (कार्य) 'चित्त' है, ऐसा कहा जा चुका है। नूतन

1. क ग घ च छ—मात्रेण, ख—द्वारेण।

चित्तों की भाँति समानयुक्ति से यह भी ज्ञातव्य है कि (सूक्ष्म शरीर के अवयवभूत) बुद्धि और अहंकार भी अपने-अपने कारण प्रधान और बुद्धि के आपूर से अनेक हो जाते हैं। भाष्य में 'सचित्तानि भवन्ति' ऐसा जो कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि चित्तसहित नूतन शरीर प्रादुर्भूत होते हैं। अर्थात् योगी के संकल्प से 'निर्माणचित्तों' और 'निर्माणदेहों' की संख्या तुल्य होती है। शेष भाष्य सूत्र की व्याख्या करते समय ही व्याख्यात हो चुका है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार विज्ञानभिक्षु सूत्र के अभिप्राय को पुनः शंका-समाधान की शैली से स्पष्ट करते हैं—

### योगवार्त्तिकम्

ननु निर्मातृचित्तस्यैकस्यैव प्रदीपवद्विसारितया कायव्यूहेषु वृत्तिसंभवात् किमर्थं देह[1]भेदेनान्तःकरणभेदोऽभ्युपगम्यते, न हि नैयायिकानामिवास्माकम् अन्तःकरणभेदेनै-कदाऽनवहितनानाशरीराधिष्ठानं न संभवेदिति? अत्रोच्यते—समाधिभोगयोर्ज्ञानाज्ञानयोश्चैक-दैकस्मिंश्चित्ते विरोधेन चित्तभेदः सिद्ध्यति। अत एव सर्वज्ञस्यापि विष्णोः स्वसंकल्पनिर्मित-चित्तभेदेन [2]रामशरीरे कियत्कालमज्ञानमुपपन्नमिति। यदा तु योगी जीवभेदानेव स्वदेहान्निर्मितेषु देहेन्द्रियसंघातेष्वनेकेषु योजयति तदा पुनः सुतरामेवानेकान्तःकरणमपेक्षत इति। कदाचित्तु योगिनामेकान्तःकरणेनैव नानादेहेषु व्यवहारं न निराकुर्मः स्वतन्त्रेच्छस्य नियन्तुमशक्यत्वादिति। अथैवं सत्यात्मनानात्वकल्पना व्यर्था, चित्तभेदेनैव ज्ञानाज्ञानाद्यु-पपत्तेरिति? मैवम्—वृत्तितन्निरोधादीनामौपाधिकत्वेनाविरोधेऽपि [3]विषयानुभवाननुभवयोः [4]स्वप्रतिविदितदुःखभोगतदभावयोर्बन्धमोक्षयोश्च साक्षाच्चेतननिष्ठयोर्विरोधेनैवात्मनानात्व-सिद्धेरिति दिक्। तदेतच्छरीरभेदेने ननाचित्तैर्विरुद्धनानाकार्यकारित्वं योगिना स्मर्यते—

> एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः।
> भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः॥
> तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि ।
> एकधा तद् द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः ॥
> योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।
> प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ॥
> संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥इति॥४॥

---

1. क ख घ च छ—भेदेन, ग—भेदानां।
2. क ग घ च छ—राम०, ख—यम०।
3. क ग घ च छ—विषयानुभवाननुभवयोः उपलभ्यते, ख—विषयानुभवाननुभवयोः नोपलभ्यते।
4. क ग घ—स्वप्रतिबिम्बितदुःख०, ख—स्वप्रतिबिम्बितदुःखादेः, च छ—स्वप्रतिविदितदुःख०।

**शङ्का**—प्रदीपन्याय की भाँति संकोचविकासशील होने से एक ही निर्मातृचित्त (पुरातन मौलिक चित्त) का नूतन शरीरों में वृत्तिलाभ हो सकता है। अतः देहभेद से अन्तःकरणभेद को किस प्रयोजन से स्वीकार किया जाता है? क्योंकि नैयायिकों के समान हम यौगिकों के यहाँ अन्तःकरणभेद से एक ही समय अनवहित नाना शरीराधिष्ठान सम्भव नहीं हैं?

**समाधान**—उक्त शंका का समाधान करते हुए वार्तिककार कहते हैं—एक ही चित्त में समाधि और भंग, ज्ञान और अज्ञान का एक साथ होना परस्पर विरुद्ध होने से अर्थात् एक ही निर्मातृभूत चित्त के द्वारा तुल्यकाल में परस्पर विरोधी क्रियाएँ सम्भव न होने से (विभिन्न व्यापारों के निष्पत्त्यर्थ शरीरभेद से) चित्तभेद सिद्ध होता है। अत एव स्वसंकल्पनिर्मित चित्तभेद से सर्वज्ञ विष्णु का भी राम के शरीर में कितने समय तक अज्ञान बना रहा। जब योगी स्वनिर्मातृभूत देह से निर्मित अनेक देहेन्द्रिय-व्यूहों (संघातों) में अनेक जीवों को नियुक्त ही करता है, तब उसे अनेक अन्तःकरणों की भी सुतरां अपेक्षा रहती है। वैसे योगियों का कभी-कभी एक पुरातन (निर्मातृ) अन्तःकरण से ही नाना निर्माणदेहों में व्यापार किया जाना भी हम अस्वीकृत नहीं कर सकते हैं, क्योंकि स्वतन्त्रेच्छासम्पन्न योगी को नियन्त्रण में नहीं रखा जा सकता है।

**शङ्का**—तब तो चित्तभेद से ही ज्ञानाज्ञान की उपपत्ति हो जाने से आत्मा के नानात्व की कल्पना व्यर्थ है?

**समाधान**—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि चित्तवृत्ति और चित्तवृत्तिनिरोध आदि के औपाधिक होने से उनका परस्पर विरोध न होने पर भी साक्षात् चैतन्यनिष्ठ विषयानुभव और विषयाननुभव में, चैतन्यप्रतिबिम्बित दुःखभोग और दुःखभोगाभाव में तथा बन्ध और मोक्ष में परस्पर विरोध होने से ही आत्मा का नानात्व सिद्ध होता है। इस प्रकार योगिजन शरीर-भेद से नाना निर्माणचित्तों के द्वारा अनेक प्रकार की क्रियाएँ करते हैं, इसमें स्मृतिवाक्य प्रमाण है—'एकस्तु...रश्मिगणानिव' अर्थात् 'एक होता हुआ भी योगीश्वर ब्रह्मशक्ति से अनन्त हो जाता है और अनेक होकर फिर वही एक हो जाता है। इस कारण शरीर-भेद से मन (चित्त) के भेद उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक होता हुआ भी मन अनेक हो जाता है। योगीश्वर नूतन शरीरों का निर्माण करता है और उनका संहार करता है। उसके कई नूतन शरीर विषयोपभोग करते हैं और कई उग्र तपश्चर्या में संलग्न रहते हैं। योगीश्वर नूतन शरीरों का संहार उसी प्रकार करता है जिस प्रकार सूर्य रश्मिपुञ्ज को अपने में अन्तर्लीन कर लेता है'॥४॥

वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

### योगसूत्रम्

**प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्॥५॥**

अनेक निर्माणचित्तों के व्यापारभेद में एक (पूर्वसिद्ध) चित्त ही नियामक (सञ्चालक) होता है॥५॥

### व्यासभाष्यम्

बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरःसरा प्रवृत्तिरिति सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते, ततः प्रवृत्तिभेदः॥५॥

(योगी द्वारा निर्मित) अनेक अवान्तर चित्तों की एक पुरातन चित्त के अभिप्राय से प्रवृत्ति कैसे होती है? इसका उत्तर है—योगी एक पुरातन चित्त को सभी निर्माणचित्तों का नियामक बनाता है, जिससे व्यापारों की भिन्नता सम्भव होती है॥५॥

निर्माणकायों के समसंख्यक निर्माणचित्तों की अवधारणा को मान लेने पर भी पूर्वपक्षी द्वारा उठाई गई असंगति के निवारणार्थ तत्त्ववैशारदीकार स्वरचित अवतरणिका के साथ सूत्र की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

[1]यदुक्तमनेकचित्तत्वे एकाभिप्रायानुरोधश्च प्रतिसंधानं च न स्यातामिति तत्रोत्तरं सूत्रम्—प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्। अभविष्यदेष दोषो यदि चित्तमेकं नानाकायवर्ति मनोनायकं न निरमास्यत, तन्निर्माणे त्वदोषः। न चैकं गृहीत्वा कृतं प्राति-स्विकैर्मनोभिः कृतं वा नायकनिर्माणेन, निजस्यैव मनसो नायकत्वादिति वाच्यम्, प्रमाण-सिद्धस्य नियोगपर्यनुयोगानुपपत्तेरिति। अत्र पुराणं भवति—

एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः।
भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः [2]पुनस्तु सः॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि।
एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः॥
योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।
प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्॥
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥

इति। तदेतेनाभिप्रायेणाह—बहूनां चित्तानामिति॥५॥

---

1. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न—यत्, ग—तत्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—पुनस्तु सः, थ द ध—पुनस्ततः।

**शङ्का**—अनेक निर्माणचित्तों के होने पर भी उनकी एकलक्ष्याभिमुखता तथा प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है?

**समाधान**—उक्त शंका का उत्तरसूत्र (समाधानसूत्र) है—'**प्रवृत्तीति**।' पूर्वपक्षी द्वारा उद्भावित उक्त दोष तभी सम्भव हो पाता, यदि योगी द्वारा अनेक शरीरों में रहने वाले चित्तों में से एक चित्त को नायक न बनाया जाता। किन्तु ऐसी बात तो है नहीं, क्योंकि योगी तो अनेक चित्तों में अधिष्ठातृरूप से एक चित्त का निर्माण करता है। अतः किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं आती है।

**शङ्का**—यदि मुख्य चित्त से ही सब शरीरों की इन्द्रियाँ प्रवृत्त हो जायेंगी तो प्राति-स्विक रूप से अर्थात् प्रत्येक शरीर के लिए पृथक्-पृथक् अनेक चित्तों को मानने की क्या आवश्यकता है? और यदि अनेक निर्माणचित्त मानने ही हैं तो नायक चित्त की अवधारणा (कल्पना) क्यों?

**समाधान**—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणसिद्ध पदार्थ के अधिकार-क्षेत्र में वादविवाद करना युक्तियुक्त नहीं है। योगी संकल्पमात्र से अनेक चित्तों का निर्माण करता है, इसमें पुराणवाक्य प्रमाण है—'**एकस्तु...रश्मिगणानिव**' अर्थात् 'एक होता हुआ भी योगी ऐश्वर्यशक्ति से अनेक हो जाता है और उसी शक्ति से अनेक से एक हो जाता है। इस कारण से (शरीर-भेदानुसार) मन के भेद होते हैं। वह एक होता हुआ दो, तीन और अनेक हो जाता है। इस प्रकार योगीश्वर शरीरों को बनाता और विलीन करता है। कुछ चित्तों के द्वारा विषयोपभोग करता है और कुछ चित्तों से उग्र तपस्या करता है। और फिर अन्त में (समस्त कर्मफलभोग समाप्त होने पर) निर्मित चित्त-कार्यों का संहार करता है, जैसे सूर्य रश्मियों को अपने में समेट लेता है।' इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—'**बहूनां चित्तानामिति**।' भाष्यार्थ पीछे द्रष्टव्य है॥५॥

## योगवार्त्तिकम्

**अनेकचित्तनिर्माणेऽपि विशेषमाह—प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्। व्याचष्टे—बहूनामिति। तेषां बहूनां कथमेकचित्ताभिप्रायानुसारिणी प्रवृत्तिः स्यादित्याशयेन योगी पूर्वसिद्धं यच्चित्तं तदेव सर्वचित्तानां प्रयोजकं [1]निर्मिमीते नियामकं करोति, ततस्तु चित्ताभिप्रायात् तेषामवान्तरचित्तानां प्रवृत्तिरित्यर्थः। ऐश्वर्यनिर्वाहार्थमनेकचित्तेष्वन्तर्या-मिविधया स्थितमेकं चित्तं तेषामुत्पत्तिस्थितिसंहारं करोतीति। अत्र च प्रमाणं पुराणं प्रागेव दर्शितम्—**

**संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥ इति।**

---

1. क ख ग घ च—निर्मिमीते नियामकं उपलभ्यते, छ—निर्मिमीते नियामकं नोपलभ्यते।

**एतेन विष्ण्वादीनामंशावतारा अपि व्याख्याताः। तेषु ह्यात्मन एकत्वेऽप्यंशांशिव्यवहार उपाध्योरंशांशिभावेनौपाधिको न पुनरितरजीवेष्विव स्वत एवेति॥५॥**

योगी के संकल्पमात्र से अनेक चित्तों का आविर्भाव होने पर भी **'निर्माणचित्त'** से **'निर्मातृचित्त'** के वैलक्षण्य को पतञ्जलि बताते हैं—**'प्रवृत्तीति।'** भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'बहूनामिति।'**

**शङ्का**—योगी के संकल्पमात्र से आविर्भूत अनेक निर्माणचित्तों की किस प्रकार निर्मातृचित्त के अभिप्रायानुसार प्रवृत्ति हो सकती है?

**समाधान**—इसी आशय को ध्यान में रखकर बतलाया जा रहा है कि योगी अपने निर्मातृचित्त को एकाधिक निर्माणचित्तों के प्रयोजक रूप से नियुक्त करता है, फलतः निर्मातृचित्त के अभिप्रायानुसार (देखरेख में) अवान्तर निर्माणचित्तों की प्रवृत्ति होती है। जैसे अनेक निर्माणचित्तों में अन्तर्यामिरूप से स्थित एक निर्मातृचित्त ऐश्वर्यभोग के निष्पत्त्यर्थ उन निर्माणचित्तों की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार करता है। इस विषय में प्रमाणरूप से पुराणवाक्य पहले ही उद्धृत किया जा चुका है—**'संहरेच्च...गणानिव।'** इस व्याख्या से यह भी व्याख्यात हो जाता है कि विष्ण्वादि के अंशावतार भी होते हैं। इन अंशावतारों में आत्मतत्त्व के एक रहने पर भी अंशांशिव्यवहार उपाधि के अंशांशिभाव से औपाधिक है, न कि दूसरे सामान्य जीवों की तरह स्वाभाविक (अनौपाधिक) है॥५॥

वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

### योगसूत्रम्

## तत्र ध्यानजमनाशयम्॥६॥

उन (पाँच प्रकार के सिद्ध-चित्तों) में समाधिसम्पन्न (ध्यानज) चित्त क्लेशकर्म की वासना से रहित होता है॥६॥

### व्यासभाष्यम्

**[2]पञ्चविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय इति। [3]तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं [4]तदेवानाशयम्। तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिः। ना[5]तः**

---

1. अनाशयम्—इति पाठान्तरम्।
2. छ य—तेषु ये क्रिया योगयुक्तास्तेषां (पञ्चविधं—पूर्वम्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—तेषु...तेषां नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—तत्र यदेव, झ—इतरेषां तु।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म र—तदेव, प य—तस्यैव।
5. क—ततः, ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—अतः।

**पुण्यपापाभिसंबन्धः क्षीणक्लेशत्वाद्योगिन इति। इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः॥६॥**

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधिजन्य सिद्धियाँ होती हैं, इसलिये सिद्धिजन्य निर्माणचित्त भी पाँच प्रकार का होता है। उन पाँच प्रकार के सिद्ध-चित्तों में जो ध्यानजन्य पञ्चम प्रकार का चित्त है, वही वासनाशून्य होता है। क्योंकि उसी समाधिजन्य सिद्धचित्त में रागादि प्रवृत्ति की हेतुभूता वासना नहीं रहती है। इसीलिये योगियों के अविद्यादि क्लेशों के क्षीण हो जाने से उनका पुण्य-पाप से सम्बन्ध भी नहीं रहता है। अन्य सिद्धिजन्य चित्तों में तो 'कर्माशय' विद्यमान रहता है॥६॥

**तत्त्ववैशारदी**

**तदेवमुदितेषु पञ्चसु सिद्धचित्तेष्वपवर्गभागीयं चित्तं निर्धारयति—तत्र ध्यानजमनाशयम्। आशेरत इत्याशयाः कर्मवासनाः क्लेशवासनाश्च। त एते न विद्यन्ते यस्मिंस्तदनाशयं चित्तमपवर्गभागीयं भवतीत्यर्थः। यतो रागादिनिबन्धना प्रवृत्तिर्नास्त्यतो नास्ति पुण्यपापाभिसंबन्धः। कस्मात्पुना रागादिजनिता प्रवृत्तिर्नास्तीत्यत आह—क्षीणक्लेशत्वादिति। ध्यानजस्यानाशयस्य मनोऽन्तरेभ्यो विशेषं दर्शयितुमितरेषामाशयवत्तामाह—इतरेषां त्विति॥६॥**

इस प्रकार पञ्चविध सिद्धियों के भेद से निष्पादित अर्थात् उदित पाँच प्रकार के सिद्ध चित्तों में से कौन सा चित्त अपवर्ग के योग्य होता है अर्थात् किस चित्त को मोक्ष प्राप्त हो सकता है, इसका निर्धारण सूत्रकार करते हैं—**'तत्रेति।'** **'आशेरत इति आशयाः'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो (चित्त में) अवस्थित अर्थात् पड़े रहते हैं, उन्हें **'आशय'** कहते हैं और वे कर्मवासनाएँ और क्लेशवासनाएँ **'आशय'** कही जाती हैं। अर्थात् पुण्यापुण्य कर्मजन्य वासनाएँ और अविद्यादि क्लेशजन्य वासनाएँ चित्त में पड़ी रहने से **'आशय'** पदवाच्य हैं। और ये वासनाएँ जिस चित्त में विद्यमान नहीं रहती हैं, वह वासनारहित चित्त कैवल्य-प्राप्ति के योग्य होता है। क्योंकि जिस चित्त में रागादिमूलक प्रवृत्ति नहीं होती है, उस चित्त का शुभाशुभ कर्म के साथ सम्बन्ध भी नहीं होता है। अतः वह **'कैवल्यभागीय'** होता है।

**शङ्का**—किस कारण से समाधिजन्य चित्त में रागादिजनित प्रवृत्ति नहीं होती है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'क्षीणक्लेशत्वादिति।'** चूँकि योगियों के अविद्यादि क्लेश क्षीण हो जाते हैं, इसलिये उनकी रागादिजनित प्रवृत्ति नहीं होती है। ध्यान द्वारा वासनारहित हुए चित्त का अन्य चित्तों से वैशिष्ट्य प्रदर्शित करने के लिये भाष्यकार अन्य मन्त्रादिसिद्धिजन्य चित्तों का वासनायुक्त होना बतलाते हैं—**'इतरेषां त्वति।'** जन्मादिसिद्धिजन्य चित्तों में कर्म-वासना विद्यमान रहती है। अतः वासनायुक्त होने से वे कैवल्यभागीय नहीं होते हैं॥६॥

### योगवार्त्तिकम्

तदेवमुक्तेषु पञ्चसु सिद्धचित्तेषु मध्येऽपवर्गयोग्यचित्तमवधारयति—तत्र ध्यानजमनाशयम्। ध्यानजं ध्यानसंस्कृतम्, आशयाः क्लेशकर्मवासना न सन्त्यस्मिन्नित्यनाशयं ध्यानसिद्धं चित्तमेवानाशयं भवति, योगेनैव ज्ञानोत्पत्त्या वासनोच्छेदसंभवात् न मन्त्रादिभिरित्यर्थः। व्याचष्टे—पञ्चविधमिति। निर्माणचित्तमत्र निर्माणक्षणचित्तं न निर्मीयमाणं चित्तम्, तस्य सिद्धकार्यत्वेन सिद्धत्वानियमात्। अनाशयमित्यस्यार्थमाह—तस्यैवेति। रागादेः प्रवृत्तिर्यस्मात्संस्कारात्स रागादिप्रवृत्तिराशयस्तस्यैव नास्तीत्यनाशयमित्यर्थः। अनाशयत्वस्य किं प्रयोज्यमित्याकाङ्क्षायामाह—नात इति। सम्बन्ध उत्पत्तिः। ततश्चापुनर्जन्मरूपो मोक्ष इति शेषः। पापपुण्यानुत्पत्तौ हेतुमाह—क्षीणक्लेशत्वादिति। दग्धक्लेशत्वादिति दग्धक्लेशकर्मवासनत्वादित्यर्थः। अदृष्टोत्पत्तावप्यदृष्टान्तरं कारणम्। अदृष्टरूपस्य कर्माशयस्य कार्यमात्रे हेतुत्वात्। तत्रेति निर्द्धारणसप्तम्यर्थमाह—इतरेषामिति। [1]मन्त्रादिसिद्धचित्तानामित्यर्थः॥६॥

इस प्रकार पाँच प्रकार के कथित चित्तों में से अपवर्गभागीय चित्त को सूत्रकार निर्धारित करते हैं—'तत्रेति।' सूत्रगत 'ध्यानज' शब्द का अर्थ ध्यानसंस्कृत है। 'अनाशय' पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'क्लेशकर्मवासना न सन्त्यस्मिन् इत्यनाशयम्' अर्थात् जिसमें क्लेश, कर्म तथा वासना नहीं रहती है, उसे 'अनाशय' कहते हैं। इन पाँच प्रकार के चित्तों में से ध्यानसंस्कृत चित्त ही 'अनाशय' होता है, क्योंकि मन्त्रादि साधनों से नहीं, अपितु योग द्वारा ही ज्ञानोत्पत्तिपुरस्सर वासना का नाश होना सम्भव होता है। यह सूत्रार्थ हुआ। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'पञ्चविधमिति।' यहाँ 'निर्माणचित्त' शब्द से निर्माणक्षणविशिष्ट चित्त का ग्रहण होता है, न कि उत्पद्यमान (निर्मीयमाण) अर्थात् भविष्य में उत्पन्न होने वाले चित्त का ग्रहण होता है। क्योंकि निर्मीयमाण चित्त का कार्य अभी साध्यकोटिक होता है, अतः उसमें सिद्धत्व नहीं है। भाष्यकार 'अनाशय' शब्द का अर्थ करते हैं—'तस्यैवेति।' जिस संस्कार से रागादिविषयिणी प्रवृत्ति होती है, इत्थंभूत रागादिविषयक चित्त 'साशय' कहलाता है और जिसमें रागादिविषयक संस्कार नहीं रहता है, वह चित्त 'अनाशय' कहा जाता है।

**शङ्का**—चित्त को आशयरहित अर्थात् 'अनाशय' बनाने का प्रयोजन क्या है? अर्थात् 'अनाशय चित्त' की क्या उपयोगिता है?

**समाधान**—ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं—'नात इति।' 'सम्बन्ध' शब्द का अर्थ है—'उत्पत्ति'। वासनारहित चित्त से पाप-पुण्य की उत्पत्ति न होने से 'अनाशय चित्त' अपुनर्जन्मरूप मोक्ष वाला होता है। अनाशय चित्त में पाप-पुण्य की उत्पत्ति

---

1. क ग घ च छ—मन्त्र०, ख—जन्म०।

न होने में भाष्यकार हेतु देते हैं—'क्षीणक्लेशत्वादिति।' 'क्षीणक्लेश' शब्द का अर्थ है—दग्धक्लेश। अर्थात् क्लेश, कर्म तथा वासना के नष्ट हो जाने से वासनारहित चित्त में पाप-पुण्य की उत्पत्ति नहीं होती है। अदृष्ट की उत्पत्ति में भी अदृष्टान्तर कारण होता है, क्योंकि अदृष्टरूप कर्माशय कार्यमात्र के प्रति हेतु होता है। भाष्यकार सूत्र के 'तत्र' पद में निर्द्धारण-सप्तमी अर्थ को बतलाते हैं—'इतरेषामिति।' मन्त्रादिजन्य सिद्ध-चित्तों में वासना विद्यमान रहती है। केवल समाधिजन्य सिद्ध-चित्त ही आशयरहित होता है—ऐसा 'तत्र' पद से निर्धारित किया गया है॥६॥

भाष्यकार एकपदीय अवतरणिका के साथ अगले सूत्र को उपस्थित करते हैं—

**व्यासभाष्यम्**

यतः—

क्यों? अर्थात् किस कारण से योगी का चित्त वासनारहित और अन्य पुरुषों का चित्त वासनायुक्त होता है?, तदर्थ सूत्र है—

**योगसूत्रम्**

**कर्मा[1]शुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥७॥**

योगी का कर्म 'अशुक्ल-अकृष्ण' होता है तथा अन्यों (योगि-भिन्नसर्वसाधारण) का कर्म तीन प्रकार का होता है॥७॥

**व्यासभाष्यम्**

[2]चतुष्पदी खल्वियं कर्मजातिः। कृष्णा शुक्लकृष्णा शुक्लाऽशुक्लाकृष्णा चेति। तत्र कृष्णा दुरात्मनाम्। शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या, तत्र परपीडानुग्रहद्वारेणै[3]व कर्माशयप्रचयः। शुक्ला तपःस्वाध्याय[4]ध्यानवताम्। सा हि केवले मनस्यायतत्वाद् बहिः[5]साधनानधीना न परान्पीडयित्वा भवति। अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीण-क्लेशानां चरमदेहानामिति। तत्राशुक्लं योगिन एव, [6]फलसंन्यासात्, अकृष्णं चानुपादानात्। इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति॥७॥

---

1. अशुक्लकृष्णं, अशुक्लकृष्ण०—इति पाठान्तरे।
2. क ग छ थ म—चतुष्पदा, ख घ ज झ त न प फ र—चतुष्पात्, च द ध ब भ य—चतुष्पदी।
3. ग थ—एक०, च छ ञ ध न ब भ म य—एव, क ख घ झ त द प फ र—एक०/एव नोपलभ्यते।
4. क ख ग ङ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—ध्यान० उपलभ्यते, छ थ—ध्यान० नोपलभ्यते।
5. क ख घ प य र—साधनाधीना न परान्, ग च छ ज झ त थ द ध न भ म—साधनानधीना न परान्, फ—साधनाधीनापरान्, ब—साधना न परान्।
6. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—फल० उपलभ्यते, झ त—फल० नोपलभ्यते।

यह कर्मजाति चार प्रकार की होती है—कृष्णा (पापात्मिका) शुक्लकृष्णा (पुण्य-पापात्मिका), शुक्ला (पुण्यात्मिका) तथा अशुक्लाकृष्णा (पापपुण्य-रहिता)। उन चार प्रकार की कर्मजातियों में 'कृष्ण' कर्मजाति पापी जनों की होती है। बाह्य क्रियाओं से निष्पादित कर्मजाति 'शुक्ल-कृष्ण' कहलाती है, इसमें दूसरों को पीडित तथा अनुगृहीत करने से कर्मजन्य संस्कारों का संचय होता है। तप, स्वाध्याय एवं ध्यानपरायण पुरुषों की कर्मजाति 'शुक्ल' होती है, क्योंकि यह मन के अधीन होने के कारण दूसरों को पीडा पहुँचाए विना आन्तरिक साधन से सम्पादित होती है। क्षीणक्लेश वाले अन्तिम शरीरधारी संन्यासियों की कर्मजाति 'अशुक्ल-अकृष्ण' होती है। क्योंकि फलसंन्यास के कारण शुक्लरहित और पापात्मक क्रियाओं को न अपनाने के कारण कृष्णरहित होने से योगियों की कर्मराशि 'अशुक्ल-अकृष्ण' कही जाती है। अन्य समस्त जीवों के कर्म तो पूर्वोक्त तीन प्रकार के होते हैं॥७॥

### तत्त्ववैशारदी

**तत्रैव च हेतुपरं सूत्रमवतारयति—[1]यत इति। कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविध-मितरेषाम्। पदं स्थानम्। चतुर्षु समवेता [2]चतुष्पदा। यद्यावद् बहिःसाधनसाध्यं तत्र सर्वत्रास्ति कस्यचित्पीडा। न हि व्रीह्यादिसाधनेऽपि कर्मणि परपीडा नास्ति, अवघातादि[3]समये पिपीलिकादिवधसंभवात्, अन्ततो बीजादिवधेन स्तम्बादिभेदोत्पत्तिप्रतिबन्धात्। अनुग्रहश्च दक्षिणादिना ब्राह्मणादेरिति। शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवतामसंन्यासिनाम्। शुक्लत्वमुपपाद-यति—सा हीति। अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनामिति। संन्यासिनो दर्शयति—क्षीणेति। [4]कर्मासंभवात् कर्मसंन्यासिनो हि न क्वचिद्बहिःसाधनसाध्ये कर्मणि प्रवृत्ता इति न चैषामस्ति कृष्णः कर्माशयः। योगानुष्ठानसाध्यस्य कर्माशयफलस्येश्वरे समर्पणान्न [5]शुक्लः कर्माशयः। निरत्ययफलो हि शुक्ल उच्यते। यस्य फलमेव नास्ति कुतस्तस्य निरत्ययफलत्वमित्यर्थः। तदेवं चतुष्टयीं कर्मजातिमुक्त्वा कतमा [6]कस्येत्यवधारयति—तत्राशुक्लमिति॥७॥**

योगी का पापपुण्यरूप कर्माशय के साथ सम्बन्ध नहीं होता है और अन्य पुरुषों के कर्म वासनायुक्त होते हैं, इस तथ्य में हेतु का प्रतिपादन करने वाले सूत्र

---

1. क छ—यत इति। कर्माशुक्लाकृष्णमितरेषामाशयवतामाह, ख ग घ च ज झ त थ द ध न—यत इति।
2. क ख थ द ध न—चतुष्पदा, ग घ च छ ज झ त—चतुष्पदी।
3. क घ च छ ज—समयेऽपि:, ख ग झ त थ द ध न—समये।
4. क ख ग घ च छ ज ञ—कर्मासंभवात् उपलभ्यते, त थ द ध न—कर्मासंभवात् नोपलभ्यते।
5. क छ—अशुक्लः, ख ग घ च ज झ त थ द ध न—शुक्लः।
6. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—कस्य, झ—कष्टा।

को भाष्यकार अवतरित करते हैं—'यत इति।' सूत्र है—'कर्मेति।' 'पद' शब्द का अर्थ है—स्थान। जो चार स्थानों से समवेत (सम्मिश्रित) रहती है, उसे 'चतुष्पदा' कहते हैं। इस विवरण के अनुसार कर्मजाति के चार स्थान हैं। अर्थात् चार भिन्न स्थानों वाली अर्थात् भेदों वाली यह कर्मजाति 'चतुष्पदा' कहलाती है। बाहरी साधनों से सिद्ध होने वाले (बाह्य साधनसापेक्ष) जितने भी प्रकार के कर्म हैं, उन सभी में किसी न किसी प्राणी को पीडा अवश्य पहुँचती है। व्रीहि आदि बाह्य साधन से निष्पन्न (यागादि) कर्म में भी दूसरों को कष्ट पहुँचाने (परपीडा) की स्थिति नहीं है, ऐसा नहीं है अर्थात् परपीडा अवश्यंभावी है। क्योंकि धान कूटते समय चींटी आदि (निरीह) प्राणियों की हत्या सम्भव रहती है और अन्त में बीजादि का वध होने से स्तम्बादि भेद से (अनाज के पौधों को उन्मूलित करने से) अंकुरोत्पत्ति भी प्रतिबन्धित (अवरुद्ध) हो जाती है और दूसरी ओर दक्षिणादि द्वारा ब्राह्मणादि पर अनुग्रह (उपकार) भी किया जाता है। (इस प्रकार बाह्यसाधनसाध्य 'शुक्लकृष्णा' कर्मजाति में परपीडा और परानुग्रह होने से कर्माशय अर्थात् कर्मवासना स्वतः सञ्चित होती है)। तपोनिष्ठ, स्वाध्यायशील एवं ध्यानपरायण संन्यासियों की 'शुक्ला' कर्मजाति होती है। इनकी कर्मजाति को किस प्रकार 'शुक्ला' कहा जाता है, इसे भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं—'सा हीति।' वह 'शुक्ला' कर्मजाति केवल मनःसाध्य होने से बाह्य साधनों के अधीन नहीं रहती है। अतः किसी अन्य प्राणी को पीडित करके निष्पादित नहीं होती है। भाष्यकार चतुर्थ प्रकार की कर्मजाति का वर्णन करते हैं—'अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनामिति।' संन्यासियों की 'अशुक्लाकृष्णा' कर्मजाति होती है। ये संन्यासी किस प्रकार के होते हैं, इसे भाष्यकार बतलाते हैं—'क्षीणेति।' जिनको वर्तमान देह के अनन्तर दूसरी देह प्राप्त नहीं होती है, ऐसे चरमदेह संन्यासियों के क्षीणक्लेश होते हैं। तत्त्ववैशारदीकार विषय को स्पष्ट करते हैं—कर्म का त्याग करने वाले संन्यासियों की बाह्यसाधनसाध्य कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये इनमें 'कृष्णकर्माशय' नहीं रहता है और योगानुष्ठान द्वारा सम्पादित शुभ कर्मजन्य वासना का फल ईश्वर को समर्पित रहने से संन्यासियों का 'शुक्लकर्माशय' भी नहीं बनता है। जिसमें कर्मफल का त्याग (निरत्यय फल) रहता है, ऐसी कर्मजाति 'शुक्ला' कही जाती है। और फिर जिस कर्म का फल ही नहीं है, उस फल का भोग द्वारा नाश होता है, ऐसा भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार चार जाति वाले कर्मों का विवरण करके कौन सी कर्मजाति किस प्राणी के योग्य है, इसे भाष्यकार निर्धारित करते हैं—'तत्राशुक्लमिति।' इनमें से 'अशुक्लाकृष्ण' कर्म केवल योगियों का ही होता है। क्योंकि वे फलासक्तिरहित होकर पुण्य कर्म को करते हैं और पाप कर्म की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है। अतः क्षीणक्लेशयोगिजन्य 'अशुक्लाकृष्ण' कर्म-

वासनाशून्य होते हैं। इसके अतिरिक्त शेष तीन प्रकार के कर्म अन्य प्राणियों के होते हैं॥७॥

**बालप्रिया—**

'अशुक्लाकृष्णम्'—योगी की कर्मराशि 'अशुक्लाकृष्ण' इसलिये कही गई है कि योगी द्वारा शुभकर्मानुष्ठान होने पर भी उसमें फलकामना का सर्वथा अभाव होने से वह 'अशुक्ल' रूप है तथा निषिद्ध कर्म का सर्वथा परित्याग रहने से वह 'अकृष्ण' रूप है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने 'फलसंन्यासात्' तथा 'अनुपादानात्'—इन दो हेतुबोधक पञ्चम्यन्त पदों का प्रयोग किया है॥७॥

### योगवार्त्तिकम्

अत्रैव हेतुपरतयोत्तरसूत्रमवतारयति—यत इति। कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। योगिनो निष्पन्नयोगस्य क्षीणक्लेशस्य कर्म कायादिव्यापारोऽशुक्लाकृष्णः पुण्यपापाहेतुः इतरेषामयोगिनां जन्मादिसिद्धानामपि त्रिविधम् यथायोग्यं कर्म शुक्लकृष्णयोः प्रत्येकसमुच्चयाभ्यां त्रिविधमित्यर्थः। तदेतद्व्याचष्टे—चतुष्पादिति। कर्मसामान्यं चतुरंशकमित्यर्थः। क्रमेण निर्दिशति—कृष्णेति। कृष्णा दुःखफलदा, तमोवर्धकत्वात्, शुक्लकृष्णा सुखदुःखफलदा, रजोवर्धकत्वात्, शुक्ला सुखफलदा, सत्त्ववर्धकत्वात्, अशुक्लाकृष्णा च सुखदुःखफलशून्या, गुणाहेतुत्वादिति। अत्राशुक्लाकृष्णयोः सुखदुःखफलस्यैव प्रतिषेधेन योगिकर्मणामपि सत्त्वशुद्धिः फलं न निराक्रियते। न च ज्ञानेनैव सत्त्वशुद्ध्याख्यः पाप[1]क्षयो भविष्यतीति वाच्यम्, तथाऽपि कर्मणामपि ज्ञानाङ्गतया सत्त्वशुद्धिहेतुत्वात्, आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठ इति साहित्यश्रुतेः,

> कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
> योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥

इति स्मृतेश्च। अन्यथा वसिष्ठादीनां ज्ञानिनां कर्मानुपपत्तेश्च। न च लोकसंग्रहार्थं तेषां कर्म, लोकसंग्रहस्य स्वतोऽपुरुषार्थतया कैवल्यहेतुसत्त्वशुद्धिद्वारैव पर्यवसानादिति।

योगी को पुण्य-पाप का सम्बन्ध नहीं होता है और दूसरों को होता है, इस अर्थ में हेतुपरक उत्तर सूत्र को भाष्यकार अवतरित करते हैं—'यत इति' सूत्र है—'कर्मेति'। 'योगी' अर्थात् दग्धक्लेशयुक्त योगसम्पन्न योगी का 'कर्म' अर्थात् शरीरसम्बन्धी व्यापार (क्रिया) 'अशुक्लाकृष्ण' अर्थात् पुण्य-पाप (रूप कर्माशय) का कारण नहीं होता है जब कि 'इतर' अर्थात् जन्मादि (जन्म, औषधि मन्त्र तथा तपः) सिद्धि-सम्पन्न होते हुए भी इन अयोगियों के कर्म (सामान्य पुरुषों की भाँति) 'त्रिविध' शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्लकृष्णसमुच्चय के भेद से तीन प्रकार के यथायोग्य होते हैं,

---

1. ख—न (क्षयः—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—न नोपलभ्यते।

ऐसा सूत्रार्थ है। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'**चतुष्पादिति**' कर्मसामान्य (कर्मजाति) चतुरंशक (चार भेद वाला) है। भाष्यकार कर्मसामान्य के भेदों (घटकों) को क्रमशः प्रतिपादित करते हैं—'**कृष्णेति**' कृष्णकर्मजाति दुःखप्रदा है, क्योंकि वह तमोगुण को बढ़ाती है। शुक्लकृष्णकर्मजाति सुखदुःखप्रदा है, क्योंकि वह रजोगुण की अभिवृद्धि करती है। शुक्लकर्मजाति सुखप्रदा है, क्योंकि उससे सत्त्वगुण की अधिकता होती है। तथा अशुक्लाकृष्णकर्मजाति सुखात्मक तथा दुःखात्मक दोनों प्रकार की अनुभूतियों (फलों) से रहित होती है, क्योंकि इस कर्मजाति के प्रति सत्त्वादि गुण कारण नहीं होते हैं। अर्थात् योगी के अशुक्लाकृष्ण कर्म त्रिगुण से प्रभावित न होने से त्रिगुण के सुखादि फल से भी रहित होते हैं। यहाँ अशुक्लाकृष्णकर्मजाति के सुखदुःखफलकत्व का ही निषेध किया गया है। इससे योगियों के कर्म सत्त्वशुद्धिरूप फल वाले भी नहीं होते हैं, ऐसा निषेध नहीं किया गया है। अर्थात् अशुक्लाकृष्णकर्मजाति सत्त्वशुद्धिफलक है, इसका समर्थन किया गया है। (इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं होना चाहिये)।

**शङ्का**—ज्ञान से ही सत्त्वशुद्धिरूप पापक्षय हो सकेगा? अर्थात् अशुक्लाकृष्णकर्मजाति को पापक्षयफलक (सत्त्वशुद्धिफलक) मानना उचित नहीं है?

**समाधान**—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि ज्ञान से ही सत्त्वशुद्धि होती है तथापि ज्ञान का अङ्ग होने से अशुक्लाकृष्णकर्मपुञ्ज भी सत्त्वशुद्धि का हेतु होता है क्योंकि ज्ञानकर्मसमुच्चय को प्रतिपादित करने वाली श्रुति तथा स्मृति है। श्रुति इस प्रकार है—'**आत्मक्रीड...वरिष्ठः**' (मुण्डकोप ३/४) अर्थात् 'कर्म करने वाला और परमेश्वर की लीलाओं को समझकर उनमें आनन्द लेने वाला होकर वह परम श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी हो जाता है।' इसी प्रकार स्मृतिवाक्य है—'**कायेन...ऽऽत्मशुद्धये**' (गीता ५/११) अर्थात् 'योगिजन देह से, मन से, बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी फल की अभिलाषा का त्यागकर आत्मशुद्धि के लिये ही कर्म करते हैं।' इस प्रकार योगियों के कर्म से सत्त्वशुद्धि न मानी जाय तो ज्ञानी वसिष्ठादि महर्षियों का कर्म करना अनुपपन्न हो जायेगा अर्थात् योगी कर्म करते हैं, यह सिद्ध न हो सकेगा।

**शङ्का**—योगियों के कर्म को लोककल्याणार्थ माना जाय? अर्थात् उन्हें सत्त्वशुद्ध्यर्थ न कहा जाय?

**समाधान**—योगियों के कर्म को लोककल्याणार्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लोकसंग्रह स्वतः अपुरुषार्थरूप है। इसलिये कैवल्य के हेतुभूत सत्त्वशुद्धि के द्वारा ही योगिजन का अशुक्लाकृष्णात्मक कर्म पर्यवसित होता है।

सम्प्रति, ऊपर विश्लेषित चार प्रकार के कर्म को उदाहरण देकर परिपुष्ट किया जा रहा है—

### योगवार्त्तिकम्

चतुर्विधं कर्म क्रमेणोदाहरति—दुरात्मनां पापिनाम्। बहिःसाधनसाध्येति। देहेन्द्रियमनोभ्यो बहिर्यानि साधनानि तत्साध्येत्यर्थः। अज्ञानां सकामानामित्यर्थाल्लभ्यते, ज्ञानिनां निष्कामानां कर्म सामान्यमेवाशुक्लाकृष्णमिति [1]वक्ष्यमाणत्वात्। ननु बहिःसाधनासाध्यानामपि वेदोक्ततया कथं कृष्णसंकरस्तत्राह—तत्र परेति। बहिर्यागोपकरणसंपादने पिपीलिकादीनामप्यन्ततोऽपरिहार्या पीडा भवतीत्यस्ति तत्र पापकर्माशयः, देवताऽऽदीनामाराधना[2]दिनाऽनुग्रहात् पुण्यकर्माशयस्तु प्रसिद्ध एवेति सांकर्यमित्यर्थः। अन्तर्यागरूपायां शुक्लायां पापासांकर्ये बीजमाह—सा हीति। संन्यासिनामिति। संन्यासस्त्यागः, अभिमानफलयोस्त्यागिनामित्यर्थः,

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ! ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

[3]इत्यादिस्मृतेः। [4]ननु संन्यासाश्रमिमात्राणामविद्याऽऽदिक्लेशसत्त्वे तेषामपि धर्माधर्मोदयात् क्लेशक्षये च गृहस्थादिकर्मणामप्यशुक्लाकृष्णत्वाच्चेति।

भाष्यकार चार प्रकार के कर्मों के यथाक्रम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'तत्रेति' 'दुरात्मनां' पद का अर्थ 'पापियों का' है। आगे का भाष्य है—'बहिःसाधनसाध्येति' देह, इन्द्रिय और मनसम्बन्धी आन्तर-साधनों की अपेक्षा जो बाहरी साधन हैं, उनसे सिद्ध होने वाली शुक्ल-कृष्ण कर्मजाति को बहिःसाधनसाध्य कहा गया है। अर्थात् यह शुक्ल-कृष्ण कर्मजाति सकामी अज्ञजनों की होती है, ऐसा अर्थाल्लभ्य है, क्योंकि कामरहित ज्ञानी पुरुषों की कर्मजाति 'अशुक्ल-अकृष्ण' होती है, ऐसा आगे बतलाया जायेगा।

**शङ्का**—बहिःसाधनसाध्य कर्म भी वेदानुप्राणित (वेदोक्त) होने से कैसे उनमें (शुक्ल कर्म में) कृष्ण कर्म का साङ्कर्य कहा जा रहा है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'तत्र परेति' याग के निष्पत्त्यर्थ बाह्य सामग्री-संकलन के समय पिपीलिकादि प्राणियों को भी अपरिहार्य पीडा तो अन्ततोगत्वा प्राप्त होती ही है। अतः पुण्य कर्म के साथ पापकर्माशय सम्बद्ध रहता है और देवतादियों की आराधना आदि करने से उनके अनुग्रह (कृपा) से पुण्यकर्माशय का उदय होता है, ऐसा प्रसिद्ध ही है। अतः यह सिद्ध होता है कि शुक्लकर्म के साथ

---

1. क ख ग घ—वक्ष्यमाणात्, च छ—वक्ष्यमाणत्वात्।
2. क घ च छ—आदिना, ख ग—आदिभिः।
3. ख—अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्—(इत्यादि—प्राक्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—अनिष्टं...क्वचित् नोपलभ्यते।
4. क ग घ च—ननु, ख छ—न तु।

कृष्णकर्म का सांकर्य (अपरिहार्य मिश्रण) होता है। अब योगरूप शुक्ल कर्म में पाप कर्माशय का मिश्रण (सांकर्य) नहीं होता है, इस विषय में भाष्यकार हेतु बतलाते हैं—'सा हीति।' 'संन्यासिनामिति।' 'संन्यास' शब्द का अर्थ त्याग है। त्यागियों में कर्तृत्वाभिमान नहीं होता है और कर्मफल की त्यागभावना रहती है। इसमें स्मृति-वाक्य प्रमाण है—'कार्यमित्येव...मतः' (गीता १८/९) अर्थात् हे अर्जुन! कामना और फलाभिसन्धि का त्याग कर मुझे इसका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये। इस बुद्धि से विधिविहित नित्य कर्मों का जो अनुष्ठान किया जाता है, वह सात्त्विक त्याग कहलाता है।' कारण यह है कि संन्यासाश्रमियों में भी यदि अविद्यादि क्लेश रहते हैं तो अवश्य उनके कर्मों से भी धर्माधर्म की उत्पत्ति होती है और अविद्यादि क्लेश का नाश हो जाने पर गृहस्थादियों के कर्म भी अशुक्लाकृष्ण होते हैं।

कर्म की सर्वोच्च कोटि 'अशुक्लाकृष्ण' योगियों की होती है, इस तथ्य को विशदीकृत किया जा रहा है—

### योगवार्त्तिकम्

**संन्यासिकर्मणामशुक्लाकृष्णत्वे हेतुमाह—क्षीणक्लेशानामिति। क्लेशमूलः कर्माशय इत्युक्तत्वादिति भावः। चरमदेहानामिति स्वरूपाख्यानम्। स्वोक्तं संन्यासिनामिति हेतुं विवृण्वानः सूत्रं व्याचष्टे—तत्रेति। तत्र चतुर्विधकर्ममध्ये योगिन एवाशुक्लमकृष्णं च कर्म फलत्यागात्, अहं करोमीत्यस्वीकाराच्चेत्यर्थः। विहितं हि कामनायां सत्यामेव स्वर्गादिफलं ददाति, विहितं निषिद्धं चोभयमप्युपादानाख्याभिमाने सत्येव फलं ददातीति भावः।**

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥

**इति शास्त्रमत्र [1]प्रमाणम्॥७॥**

संन्यासियों के कर्म 'अशुक्लाकृष्ण' होते हैं, इस विषय में भाष्यकार हेतु देते हैं—'क्षीणक्लेशानामिति।' 'क्लेशमूलः कर्माशयः' (२/१२) योगसूत्र द्वारा कर्माशय को क्लेश-मूलक बतलाया गया है। अतः क्षीणक्लेश योगियों के कर्मों में शुक्लत्व अथवा कृष्णत्व रूप कर्माशय निहित नहीं रहता है। अतः संन्यासियों के कर्म 'अशुक्लाकृष्ण' कहे जाते हैं। 'चरमदेहानामिति।' भाष्यकार ने 'चरमदेह' पद के द्वारा संन्यासियों के

---

1. ख—मत्राकृष्णं चेति चकारो शुक्लसमुच्चये तेनाशुक्लत्वे हेतुद्वयं फलत्यागोऽभिमानत्यागश्च। अकृष्णत्वे तु छेकहेतुरभिमानत्याग इति लभ्यम्, न तु फलत्यागादशुक्लत्वमयोगिकर्मणामप्यस्तीति चेत् सत्यं योगिना सर्वमेवाशुक्लमित्येवं विशेषस्यैव सूत्रार्थत्वादिति (प्रमाणं—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—अत्र...सूत्रार्थत्वादिति नोपलभ्यते।

स्वरूप को घोषित किया है। अर्थात् अशुक्लाकृष्ण कर्म वाले क्षीणक्लेश योगियों का यह अन्तिम देह होता है। अतः वे **'चरमदेह योगी'** कहलाते हैं। **'अशुक्लाकृष्ण'** कर्म संन्यासियों का होता है—इस विषय में कारण का वर्णन करते हुए भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'तत्रेति'** पूर्वोल्लिखित चार प्रकार के कर्मों में **'अशुक्लाकृष्ण'** कर्मविशेष योगी का ही होता है, क्योंकि वे फलत्याग की भावना से कर्म करते हैं तथा 'मैं कर रहा हूँ'—ऐसे कर्तृत्वभाव को भी वे स्वीकार नहीं करते हैं। कर्त्ता के कामनायुक्त होने पर ही विहित कर्म (अपना) स्वर्गादि फल प्रदान करता है। भाव यह है कि विहित अथवा निषिद्ध किसी भी प्रकार का कर्म तभी फल प्रदान करता है जब कर्त्ता कर्मसाधन के विषय में अभिमान करता है। इस विषय में शास्त्र प्रमाण है—**'त्यक्त्वा...निबध्यते'** (गीता ४/२०,१८/१७) अर्थात् 'ब्रह्मानन्द में मग्न रहने वाला कामनारहित पुरुष देह आदि में तादात्म्यरूप अभिमान को छोड़कर यदि कर्म में प्रवृत्त हो, तो भी वह कुछ नहीं करता अर्थात् उन कर्मों से लिप्त नहीं होता है। जिस ब्रह्मवित् का अन्तःकरण अहंभाव से रहित होता है और जिसकी बुद्धि धर्माधर्मसंस्कार से रहित होती है, वह इन लोकस्थ प्राणियों का यदि हनन भी करे तो भी वह उनका हनन नहीं करता है और उसके फल पुण्य-पाप से संबद्ध नहीं होता है।'॥७॥

वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

**योगसूत्रम्**

## [1]ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्॥८॥

पूर्वोक्त तीन प्रकार के कर्मों से उन्हीं के फल के अनुरूप ही वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है॥८॥

**व्यासभाष्यम्**

**तत इति त्रिविधात्कर्मणः। तद्विपाकानुगुणानामेवेति। यज्जातीयस्य कर्मणो [2]यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः। न हि दैवं कर्म विपच्यमानं नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं [3]संभवति। किं तु दैवानुगुणा एवास्य [4]वासना [5]व्यज्यन्ते। नारकतिर्यङ्मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः॥८॥**

---

1. सत्—इति पाठान्तरम्।
2. ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—यः, ब—यादृशः, क—यः/यादृशः नोपलभ्यते।
3. क ग च छ ज थ द ध न ब भ म—संभवति, ख घ प फ य र—भवति, झ त—संभावयति।
4. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—वासनाः, झ—कामनाः।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—व्यज्यन्ते, ब—अभिव्यज्यन्ते।

(सूत्र में प्रयुक्त) 'ततः' पद का अर्थ है—तीन प्रकार के कर्मों से। उन कर्मों के फलों के अनुरूप ही वासनाओं की भी अभिव्यक्ति हुआ करती है। अर्थात् जिस कर्म का जाति, आयु तथा भोगरूप जो फल होता है, उस फल के अनुरूप जो वासनाएँ कर्म-फल का अनुसरण करती हैं, उन्हीं वासनाओं की अभिव्यक्ति हुआ करती है। फलोन्मुख होता हुआ दैवकर्म-नारकीय, तिर्यग्योनिज तथा मनुष्यों की अभिव्यक्ति का हेतु नहीं बनता है। किन्तु दैवकर्म के अनुरूप ही इसकी वासनाएँ अभिव्यक्त होती हैं। नारक, तैर्यक् तथा मानुष वासना के विषय में भी ऐसा ही विचार समझ लेना चाहिये॥८॥

### तत्त्ववैशारदी

**कर्माशयं विविच्य क्लेशाशयगतिमाह—ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्। यज्जातीयस्य पुण्यजातीयस्या[1]पुण्यजातीयस्य वा कर्मणो यो विपाको दिव्यो वा नारको वा जात्यायुर्भोगस्तस्य विपाकस्यानुगुणाः ता एवाह—या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरत इति। अनुशेरतेऽनुकुर्वन्ति। दिव्यभोगजनिता हि दिव्यकर्मविपाकानुगुणा वासनाः। न हि मनुष्यभोगवासनाभिव्यक्तौ दिव्यकर्मफलोपभोगसंभवः। तस्मात्स्वविपाका[2]नुगुणा एव वासनाः कर्माभिव्यञ्जनीया इति भाष्यार्थः॥८॥**

कर्मवासना (कर्माशय) का विवेचन करने के पश्चात् सूत्रकार क्लेशवासना (क्लेशाशय) की गति को बतलाते है—'**तत इति**' जिस पुण्यजातीय अथवा अपुण्यजातीय कर्म का दिव्य अथवा नारकीय जिस कोटि वाला जाति, आयु तथा भोगरूप (त्रिकोणात्मक) विपाक (फल) होता है, उस विपाक के अनुरूप (अनुगुण, समनुरूप) वासनाएँ बनती हैं। इन वासनाओं के विषय में ही भाष्यकार बतलाते हैं—'**या वासना कर्मविपाकमनुशेरत इति।**' '**अनुशेरते**' पद का अर्थ है—'करती हैं' अर्थात् ये वासनाएँ कर्मविपाक को निष्पन्न करती हैं। अर्थात् कर्मानुसार पुञ्जीभूत वासनाएँ अपने समनुरूप कर्मफलभोग को प्रदान करती हैं। जैसे दिव्य भोग से उत्पन्न वासनाएँ दिव्य कर्म वाले फलोपभोग के अनुरूप होती हैं। अर्थात् शुभ कर्मजन्य वासनाएँ शुभ कर्म वाले फल की कारण होती हैं। ऐसा नहीं है कि मानुष भोग की वासना के अभिव्यक्तिकाल में दिव्य कर्मफल का भोग सम्भव हो सके। इससे यह सिद्धान्तित होता है कि अपने विपाक के अनुरूप ही वासनाएँ कर्मफल को अभिव्यक्त करती हैं, ऐसा भाष्यार्थ है॥८॥

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—अपुण्यजातीयस्य उपलभ्यते, ज—अपुण्यजातीयस्य नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—अनुगुणा एव वासना कर्माभिव्यञ्जनीयाः, झ—अनुगुणेव वासना कर्माभिव्यञ्जनी।

**बालप्रिया—**

'स्वविपाकाऽनुगुणाः'—भाव यह है कि जिस प्रकार का कर्म 'विपच्यमान' अर्थात् फलोन्मुख होता है, तदनुरूप ही वासनाएँ उद्बुद्ध (उदारावस्थाक) होती हैं। यह सिद्धान्त भौतिक-सर्ग की प्रत्येक योनि में समानरूप से चरितार्थ होता है। सांख्यकारिका (५३) में भौतिक-सर्ग के अन्तर्गत योनियों को निम्नाङ्कित प्रकार से विभक्त किया गया है—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥८॥

**योगवार्त्तिकम्**

ननु तिष्ठत्वयोगिनां [1]कर्म, तथाऽपि [2]वासनाऽनभिव्यक्त्यादिनाऽपि कदाचिन्मोक्षः स्यादिति किमर्थं नियमेन ध्यानजस्यानाशयचित्तस्यापेक्षेत्यत आह—ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्। तत इति पदं व्याख्याय तद्विपाकानुगुणानामेवेति गृहीत्वा व्याचष्टे—यज्जातीयस्येति। कर्मविपाकमनुशेरत इति। अनुकुर्वन्ति तन्मुखनिरीक्षका इति यावत्। विपच्यमानं फलोन्मुखम्, चर्चा विचारः॥८॥

**शङ्का**—(चरमदेह वाले योगियों से भिन्न) अयोगियों अर्थात् सामान्यजन में (भले ही कर्माशययुक्त) कर्म (कर्मजाति) विद्यमान रहें, तथापि वासना (कर्माशय) की अभिव्यक्ति आदि न होने से उन्हें भी कदाचित् (अकस्मात्) मोक्ष प्राप्त हो सकता है तो फिर मोक्ष-प्राप्ति के लिये ध्यानजन्य अनाशय चित्त की ही नियमतः अपेक्षा क्यों की जाय? अर्थात् ध्यानजन्य चित्त को ही कैवल्यभागीय क्यों कहा जाय? यह विचारणीय पक्ष है।

**समाधान**—उक्त शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—'तत इति।' भाष्यकार सूत्रगत 'ततः' पद की व्याख्या करने के लिये सूत्र के अग्रिम अंश 'तद्विपाकानुगुणानामेव' को लेकर इस प्रकार वर्णन करते हैं—'यज्जातीयेति।' 'कर्मविपाकमनुशेरत इति।' यहाँ 'अनुशेरते' क्रियापद का अर्थ 'अनुकुर्वन्ति' है अर्थात् कर्मफल के अनुरूप वासनाएँ सम्मुख होती हैं। 'विपच्यमान' शब्द का अर्थ है—'फलोन्मुख।' 'चर्चः' पद का अर्थ विचार है॥८॥

**योगसूत्रम्**

## जातिदेशकालव्यवहितानामप्या[3]नन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयो-

---

1. क ग घ च छ—कर्म, ख—क्लेशकर्मवासनाः।
2. क ग घ—वासनाऽनभिव्यक्त्यादिना, ख—भोगवासनाऽभिव्यक्त्यादिना, च छ—वासनाऽभिव्यक्त्यादिना।
3. आनन्तर्य०—इति पाठान्तरम्।

रेकरूपत्वात्॥९॥

स्मृति और संस्कार में एकरूपता होने से जाति, देश और काल की दृष्टि से व्यवधानयुक्त वासनाओं की भी अव्यवहितता रहती है॥९॥

**व्यासभाष्यम्**

वृषदंश[1]विपाकोदयः [2]स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः। [3]स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च [4]स्वव्यञ्जकाञ्जन एवोदियाद् द्रागित्ये[5]वं पूर्वा[6]नुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय [7]व्यज्येत। कस्मात्? यतो व्यवहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्यमेव। कुतश्च? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। यथानुभवास्तथा संस्काराः। ते [8]च कर्मवासना[9]नुरूपाः, [10]यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः [11]स्मृतिः, [12]स्मृतेश्च पुनः संस्काराः इत्येवमेते स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभ[13]वशाद्व्यज्यन्ते। अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमि[14]ति॥९॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—विपाकोदयः, ब—विपाकादयः।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः, ब—स्वकर्मव्यञ्जकाञ्जनः।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—सः उपलभ्यते, ब—सः नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—स्वव्यञ्जकाञ्जन एवोदियात्, ब—स्वव्यञ्जकाञ्जनोदयाः।
5. क प फ ब भ य र—एव, ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न म—एवम्।
6. क ख ग घ च ज त द ध न प फ ब भ म य र—अनुभूत०, छ झ थ—अनुभूतम्।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—व्यज्येत, ब—अभिव्यज्यन्ते।
8. क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ भ म य र—च कर्म, ख ज—कर्म च, ब—च।
9. क ख ग छ झ थ—रूपाः, घ च ज त द ध न प फ ब भ म य र—अनुरूपाः।
10. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—यथा च वासनास्तथा स्मृतिः, ब—यथा वासनाः स्मृतयः।
11. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—स्मृतिः, ब—स्मृतयः।
12. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—स्मृतेः, ब—स्मृतिभ्यः।
13. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—वशाद् व्यज्यन्ते, ब—वशावेशादभिव्यज्यन्ते।
14. च छ ज झ त थ द ध न—वासनाः संस्कारा आशया इत्यर्थः (इति—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ प फ ब भ म य र—वासना...इत्यर्थः नोपलभ्यते।

मार्जार जाति वाली फलोन्मुखता अपने अभिव्यञ्जक अर्थात् अभिव्यक्ति के कारण 'संस्कार' के अनुसार ही अभिव्यक्त होती है। मार्जार जाति का आरम्भक वह कर्माशय यदि मध्यकाल की सैकड़ों जातियों, दूर देश अथवा सैकड़ों कल्पों से व्यवहित हो जाय तो भी फिर से उदय के समय अपने अभिव्यञ्जक के संस्कार से संस्कृत होकर ही उदित होता है। अर्थात् शीघ्रता से ही पूर्वानुभूत व्यवहित जो मार्जारादि योनिरूप कर्मफल है, उसके संस्कार को लेकर ही उदित होता है। क्यों? इसलिये कि अन्तरित होने पर भी इन वासनाओं का तुल्यजातीय कर्माशय ही अभिव्यञ्जक अर्थात् निमित्त बनता है। इस कारण (त्रिकोणात्मक) व्यवधान के होने पर भी वासनाओं में आनन्तर्य है। इसमें क्या प्रमाण है? स्मृति और संस्कार की एकरूपता के कारण (यह आनन्तर्य है)। जिस प्रकार का अनुभव होता है, उसी प्रकार के संस्कार बनते हैं और वे संस्कार कर्म तथा वासना के अनुरूप होते हैं। और जैसी वासनाएँ होती हैं, वैसी ही स्मृति होती है और स्मृति से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं। ये स्मृति और संस्कार कर्माशय के फलोन्मुख होने के कारण अभिव्यक्त होते हैं। अतः निमित्त-नैमित्तिक-भाव का उच्छेद न होने के कारण अन्तरित (व्यवहित) होते हुए भी इन वासनाओं का अव्यवहितत्व सिद्ध होता है॥९॥

तत्त्ववैशारदीकार प्रश्नपरक अवतरिणका के साथ अगले सूत्र को उठाते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

**स्यादेतत्—मनुष्यस्य प्रायणानन्तरमधिगतमार्जारभावस्यानन्तरतया मनुष्यवासनाया एवाभिव्यक्त्या भवितव्यम्। न खल्वस्ति संभवो यदनन्तरदिवसानुभूतं न स्मर्यते व्यवहित-दिवसानुभूतं च स्मर्यत इत्यत आह—जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात्। भवतु वृषदंशवासनाया जात्यादिव्यवधिः, तथापि तस्याः फलत आनन्तर्यम्, वृषदंशविपाकेन कर्मणा तस्या एव स्वविपाकानुगुणाया अभिव्यक्तौ तत्स्मरण-समुत्पादादित्याह—वृषदंशविपाकोदय इति। उदेत्यस्मादित्युदयः कर्माशयः। पुनश्च स्वव्यञ्ज-काञ्जन एवोदियात्, अभिव्यज्येत विपाकारम्भाभिमुखः क्रियेतेत्यर्थः। [1]अभिसंस्कारक्रिया उपादाय गृहीत्वा व्यज्येत। यदि व्यज्येत स्वविपाकानुगुणा एव वासना गृहीत्वा व्यज्येतेत्यर्थः। आनन्तर्यमेव फलतः कारणद्वारकमुपपाद्य कार्य[2]द्वारमुपपादयति—कुतश्च स्मृतीति। एक-रूपतया सादृश्यम्। तदेवाह—यथेति। नन्वनुभवसरूपाश्चेत्संस्कारास्तथा सत्यनुभवा विशरारव**

---

1. क ख ग त थ द ध—अभिसंस्कारः, घ च छ झ न—अभिसंस्कार० ज—अभिसंस्कारम्।
2. क ख ग घ च छ ज ञ त ण द ध—द्वारकं, न—द्वारम्।

**इत्येतेऽपि विशरारव: कथं चिरभाविनेऽनुभवाय कल्पेरन्नित्यत आह—ते च कर्म[1]वासनानुरूपा इति। यथाऽपूर्वं स्थायि क्षणिककर्मनिमित्तमपि, एवं क्षणिक[2]कर्मनिमित्तोऽपि संस्कार: स्थायी। किंचिद्भेदाधिष्ठानं च सारूप्यम्। अन्यथाऽभेदे तत्त्वेन सादृश्यानुपपत्तेरित्यर्थ:। सुगममन्यत्॥९॥**

**शङ्का**—ऐसा ही मान लिया जाय कि कर्मविपाक के अनुरूप वासना की अभिव्यक्ति होती है। फिर भी शंका यह है कि मनुष्य शरीर के देहावसान के पश्चात् जब मार्जार शरीर की प्राप्ति होती है, तब बहुत व्यवहित जो मार्जारयोनि हो चुकी रहती है, उसी की वासना अभिव्यक्त होती है और अत्यन्त अव्यवहित जो मनुष्य शरीर हो चुका रहता है, उसकी वासना अभिव्यक्त नहीं होती है—यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। अपितु अत्यन्त अव्यवहित जो मनुष्य शरीर रहता है उसी की वासना अभिव्यक्त होती है, ऐसा मानना न्यायसंगत है। क्योंकि यह कथमपि सम्भव नहीं है कि अव्यवहित दिन में अनुभूत पदार्थ का स्मरण न होकर व्यवहित दिन में अनुभूत पदार्थ का स्मरण हो?

**समाधान**—इस पर सूत्रकार कहते हैं—'**जातीति**।' मार्जारयोनि की वासना (संस्कारों) का अन्य मनुष्य जात्यादि से व्यवधान भले ही हो, तथापि वृषदंशीय वासना का (उस मार्जार योनि में किये गये कर्म का फल अवश्यंभावी होने से), फलोपभोग अर्थात् विपाकानुभव की दृष्टि से आनन्तर्य (ही) है (न कि व्यवधान)। क्योंकि मार्जाररूप फल वाले कर्म से अपने विपाक (जाति, आयु तथा भोग) के अनुरूप ही वासनाओं की अभिव्यक्ति होने में उस वासना का स्मरण होता है, इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं—'**वृषदंशविपाकोदय इति**।' '**उदेत्यस्मादित्युदय:**'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार फलोपभोग से जिसका उदय होता है, उसे '**कर्माशय**' कहते हैं। मार्जारादि शरीर का आरम्भक जो विपाकोदय है अर्थात् विपाकरूप कर्माशय है, वह दूसरी बार जब अभिव्यक्त होता है, तब अपने अभिव्यञ्जक संस्कार के अनुसार ही अभिव्यक्त होता है। अर्थात् शीघ्रता से ही पूर्वानुभूत जो व्यवहित वृषदंशादि योनिरूप कर्मफल हैं, उनके अभिसंस्कार अर्थात् क्रिया को लेकर ही कर्माशय अभिव्यक्त होता है। अर्थात् यदि कर्मफल विपाकोन्मुख होता है तो अपने विपाक के अनुरूप वासना को लेकर ही अभिव्यक्त होता है। वर्तमान वृषदंशादि योनि की वासना का 'कारण' द्वारा आनन्तर्य उपपादित करके अब 'कार्य' द्वारा उसके आनन्तर्य को भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं—'**कुतश्च स्मृतीति**।' स्मृति और संस्कार के एकरूप होने से अर्थात् समानविषयक होने से उनमें सादृश्य है और सादृश्य होने से उनमें

---

1. क त—वासनापूर्वरूपा:, छ—वासनानुपूर्वरूपा:, ख ग घ च ज झ थ द ध न—वासनानुरूपा:।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—अनुभव०, न—कर्म०।

आनन्तर्य भी है। इसी तथ्य का उपपादन भाष्यकार करते हैं—'यथेति।' अर्थात् जिस प्रकार के अनुभव होते हैं, उसी प्रकार के कर्मजन्य संस्कार होते हैं।

**शङ्का**—यदि संस्कार अनुभवस्वरूप होते हैं तो जिस प्रकार अनुभव विशरणशील (नाश स्वभाव वाले) होते हैं तो उसी प्रकार तज्जन्य संस्कारों को भी विशरण-स्वभाव वाला ही मानना होगा? तब संस्कार किस प्रकार दीर्घकालीन अनुभव का स्मरण कराने में समर्थ हो सकते हैं?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**ते च कर्मवासनाऽनुरूपा इति**।' जिस प्रकार क्षणिक कर्म से उत्पन्न हुआ अपूर्व स्थायी होता है, उसी प्रकार क्षणिक अनुभव से उदित संस्कार भी स्थायी होता है। और सारूप्य का आधार भेद होता है। अर्थात् भेद होने पर ही सादृश्य होता है। अन्यथा दो में तात्त्विक अभेद मानने पर सादृश्य ही उपपन्न नहीं हो सकेगा। शेष भाष्य सुगम है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पूर्व मार्जारादि योनि की वासना के वर्तमान मार्जारयोनि से व्यवहित होने पर भी निमित्त-नैमित्तिक-भाव की धारा के ज्यों का त्यों बना रहने से उनका आनन्तर्य ही सिद्ध होता है। यहाँ वर्तमान मार्जारयोनि का प्रापक कर्म '**निमित्त**' है और अतीत मार्जारयोनि की वासना '**नैमित्तिक**' है॥९॥

### योगवार्त्तिकम्

**बहुजन्मव्यवहितानामपि वासनानामभिव्यक्तिं कर्मफलान्यथाऽनुपपत्तिप्रमाणेन साधयति—**
जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। **जात्यादिभिर्व्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्यमव्यवहितवत् कार्यकारि भवति, अन्यथा कर्मफलानुपपत्तेः स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वादित्यर्थः। एकरूपत्वमेकाकारत्वमिति। तत्रादौ भाष्यकारो जात्यादिव्यवहितत्वमुदाहरन्नेवानन्तर्यं कारणं प्रदर्शयति—वृषेत्यादिना। [1]आरम्भ एवाञ्जनस्यापेक्षणाद् उदयपदम्। तथा च वृषदंशविपाकारम्भः स्वव्यञ्जकेनैवाभिव्यक्तो वर्त्तमानावस्थो भवति न तु पूर्वदेहत्यागमात्रेण झटित्येवेति नियमोऽतः [2]स [3]यदि जातिशतादिव्यवधानेन व्यञ्जकं प्राप्योदियात् तदा द्रागित्येव शीघ्रं पूर्वप्राप्तवृषदंशविपाकेन जनितान् संस्कारान् गृहीत्वैव व्यक्तो भवति, व्यवहितानामपि वासनानां सदृशकर्मव्यङ्ग्यत्वादित्यत आनन्तर्यमेवार्थाद्भवतीत्यर्थः। सादृश्यं चात्रैकजातीयफलकत्वम्। अभिव्यञ्जकमित्यस्य च विवरणम्—निमित्तीभूतमिति। प्रकृतेरेवोपादानत्वादिति भावः।**

---

1. क ग घ च छ—आरम्भ एवाञ्जनस्यापेक्षणाद् उदयपदम्। तथा च वृषदंशविपाकारम्भः स्वव्यञ्जकेनैवाभिव्यक्तो वर्त्तमानावस्थो भवति, ख—वृषदंशो मार्जारः तद्विपाकस्योदयोऽभिव्यक्तिः स्वव्यञ्जनजा स्वव्यञ्जकेन कर्मणैव भवति।
2. क ग घ च छ—सः, ख—स्वविपाकः।
3. ख—तु वासनया सह (यदि—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—तु वासनया सह—नोपलभ्यते।

पूर्व के बहुत से जन्मों की भी व्यवहित वासनाओं की अभिव्यक्ति को कर्मफल की अन्यथा अनुपपत्ति के प्रमाणरूप से सूत्रकार सिद्ध करते हैं—'जातीति।' 'जात्यादि' की दृष्टि से व्यवधानयुक्त (व्यवहित) होती हुई भी इन वासनाओं का 'आनन्तर्य' अर्थात् अव्यवधान के समान कार्यकारित्व होता है। अर्थात् व्यवहित वासनाएँ अव्यवहित की भाँति अपना कर्मफलरूप कार्य करने वाली होती हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो कर्म-फल अनुपपन्न होने लगेगा। अर्थात् कर्मफल का सिद्धान्त ढहने लगेगा। इसलिये स्मृति और संस्कार के एकरूप होने से व्यवहित वासनाओं का अव्यवहितत्व स्वीकार किया गया है। 'एकरूपत्व' शब्द का अर्थ है—एकाकारत्व। अर्थात् स्मृति और तज्जन्य संस्कार एकरूप होते हैं। वासनाओं के जात्यादि से व्यवहित होने का उदाहरण देते हुए ही भाष्यकार आनन्तर्य को सर्वप्रथम सहेतुक प्रदर्शित करते हैं—'वृषेत्यादिना।' किसी भी क्रिया के आरम्भ होने में उससे सम्बन्धित अभिव्यञ्जक की अपेक्षा अनिवार्य रहती है, इसलिये भाष्यकार ने 'उदय' पद का प्रयोग किया है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जिस प्रकार मार्जार जातिरूप विपाक का आरम्भक कर्माशय (मार्जार योनि के अनुरूप फलभोग को उपस्थित कराने वाला कर्माशय) अपने अभिव्यञ्जक (संस्कार) के द्वारा ही 'अभिव्यक्त' अर्थात् वर्तमान अवस्था को प्राप्त करता है, न कि पूर्वदेह का त्याग होने मात्र से अतिशीघ्रता से कर्माशय विपाकोन्मुख होता है—ऐसा नियम है। अतः भिन्न-भिन्न योनि वाले सैकड़ों जन्मों का व्यवधान होने पर भी यदि कर्माशय अभिव्यञ्जक को प्राप्त कर उदित हो जाय तो अतिशीघ्रता से ही पूर्वानुभूत मार्जारयोनिक विपाक से उत्पन्न संस्कारों को ग्रहण कर वह अभिव्यक्त (वर्तमान अवस्था वाला) हो जाता है, क्योंकि व्यवहित वासनाएँ भी सदृश कर्म से अभिव्यक्त होती हैं। अतः जात्यादि से व्यवहित वासनाओं का आनन्तर्य अर्थाल्लभ्य है अर्थात् उनका आनन्तर्य अनुमानगम्य है। कर्म और वासना का 'सादृश्य' कहने का अभिप्राय यह है कि उनका तुल्य जाति का फल प्रदान करने वाला होना। 'अभिव्यञ्जक' पद का विवरणभूत पद है—'निमित्तीभूतमिति।' सदृश कर्म को वासनाओं का जो अभिव्यञ्जक कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि वासनाभिव्यक्ति के प्रति सदृश कर्म केवल निमित्तकारण ही होता है, क्योंकि एकमात्र प्रकृति ही कार्यमात्र के प्रति उपादानकारण होती है—

सम्प्रति, सूत्र के उत्तरार्द्ध की व्याख्या प्रारम्भ हो रही है—

## योगवार्त्तिकम्

आनन्तर्यं तत्कारणं च व्याख्याय तत्र प्रमाणं पृच्छति—कुत इति। कुतः प्रमाणादित्यर्थः। सूत्रावयवेनोत्तरमाह—स्मृतिसंस्कारयोरिति। ननु मनुष्यजन्मन्येवाव्यवहिते वृषदंशवासनाऽस्तु? तत्राह—यथाऽनुभवा इति। नन्वेवं सति मनुष्यवासनयैव वृषदंशविपाको भवत्व-

**व्यवहितत्वादिति? तत्राह—ते चेति। ते च संस्काराः कर्माशयानुरूपा एवापेक्षिता इत्तर्थः। नन्वेवमपि मनुष्यसंस्कारादेव वृषदंशविपाकनिर्वाहिका स्मृतिरस्तु, तथाऽपि कर्माशयानुरूप-स्मृतिहेतुत्वेन कर्मानुरूपोपपत्तिरिति? तत्राह—यथेति। एकरूपत्वं प्रसाध्य सूत्रतात्पर्यार्थं व्याचष्टे—इति जातीति। ननु सजातीयवासनैव चेद्विपाकनिर्वाहिका तर्ह्येकविपाककाल एव स्मृत्यु[1]त्पादेन पूर्वसंस्कारनाशात् कथं पुनस्तज्जातीयं विपाकान्तरमित्याशयेनोक्तम्—स्मृतेश्च पुनः संस्काराः इति। परमार्थतस्तु स्मृतेर्न संस्कारनाशकत्वम् इत्यपि पूर्वोक्तं स्मर्त्तव्यम्। स्मृतिसंस्काराः स्मृतिहेतुसंस्काराः, कर्माशयवृत्तिलाभात् कर्माशयो[2]द्बोधादिति॥९॥**

इस प्रकार व्यवहित वासनाओं के आनन्तर्य और उनके आनन्तर्य के कारण की व्याख्या करके इस विषय में प्रमाण पूछा जा रहा है—**'कुत इति।'**

**शङ्का**—व्यवहित वासनाओं के **'आनन्तर्य'** में क्या प्रमाण है?

**समाधान**—सूत्र के उत्तरार्ध द्वारा उत्तर दिया जा रहा है—**'स्मृतिसंस्कारयोरिति।'** अर्थात् स्मृति और संस्कार के एकरूप होने से कर्म और वासना में आनन्तर्य है।

**शङ्का**—वृषदंश योनि के पश्चात् प्राप्त होने वाले अव्यवहित मनुष्यजन्म में वृषदंश (मार्जार) योनि की वासनाओं को ही अभिव्यक्त मान लिया जाय?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'यथानुभवा इति।'** अर्थात् जैसा अनुभव होता है, वैसा ही संस्कार बनता है। अतः मनुष्यजन्म में वृषदंशयोनि की वासनाओं की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है।

**शङ्का**—तो फिर ऐसा ही मान लिया जाय कि मनुष्यजन्म की वासना से ही वृषदंश-योनि में किये हुए कर्म का फल अनुभवनीय होता है, क्योंकि वृषदंशयोनि और मनुष्यजन्म में अव्यवहितत्व (अव्यवधान) है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'ते चेति।'** **'विपाक'** को कर्माशयानुरूप संस्कार की ही अपेक्षा रहती है। अतः मनुष्यजन्म की वासना से वृषदंशयोनि का फलोप-भोग नहीं हो सकता है।

**शङ्का**—तो फिर मनुष्यसंस्कार से ही वृषदंशविपाक की निर्वाहिका स्मृति को माना जाय और इस प्रकार कर्माशयानुरूप स्मृति के हेतुरूप से कर्मानुरूप भोग उपपन्न हो जायेगा?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'यथेति।'** जैसी वासना होती है, वैसी ही स्मृति

---

1. क घ च छ—उत्पादेन, ख ग—उत्पादनेन।
2. ख—ततः किमित्यत आह—अतश्चेति। अतस्तु संस्कारस्मृत्योर्हेतुहेतुमद्भावानुच्छेदाद्व्यवहितानाम-प्यानंतर्यमेवमेवायातमित्यर्थः (उद्बोधादिति—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—ततः... इत्यर्थः नोपलभ्यते।

होती है। (अतः मनुष्यसंस्कार से वृषदंशविपाकोन्मुखी स्मृति की बात निरस्त हो जाती है)। इस प्रकार स्मृति और संस्कार के एकरूपत्व (एकाकारत्व) को सिद्ध करके भाष्यकार प्रकृत सूत्र के तात्पर्यार्थ को बताते हैं—**'इति जातीति।'** इस प्रकार जाति, देश तथा काल से व्यवहित संस्कारों से स्मृति होती है।

**शङ्का**—यदि सजातीय वासना ही (स्मृति द्वारा) कर्मफलभोग की निर्वाहिका होती है, तो एक प्रकार के कर्मफलभोग के काल में ही स्मृति के उत्पन्न होने से उसी क्षण पूर्व संस्कार का नाश हो जाने से पुनः तज्जातीय अग्रिम कर्मफलभोग का आरम्भ कैसे होगा?

**समाधान**—उक्त शंका के अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—**'स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इति।'** स्मृति से पुनः संस्कार होता है। पारमार्थिक दृष्टि से स्मृति संस्कार की नाशक नहीं होती है अर्थात् स्मृति में संस्कारनाशकत्व नहीं है—ऐसा पूर्वोक्त तथ्य सदा स्मरण रखना चाहिये। अतः **'स्मृतिसंस्कार'** अर्थात् स्मृति के हेतुभूत संस्कार कर्माशय (कर्मवासना) से **'वृत्तिलाभ'** अर्थात् अभिव्यक्त (उद्बुद्ध) होते रहते हैं। अतः पूर्व मार्जार योनि की वासना वर्तमान मार्जार योनि से व्यवहित होती है, तो भी कार्य-कारणभाव का विच्छेद न होने से उनका अव्यवहितत्व ही सिद्ध होता है॥९॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र प्रस्तुत हो रहा है—

**योगसूत्रम्**

## तासामनादित्वं [1]चाशिषो नित्यत्वात्॥१०॥

आत्मकल्याण की भावना के नियत होने से उन वासनाओं का 'अनादित्व' भी सिद्ध होता है॥१०॥

**व्यासभाष्यम्**

तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम्। येयमात्माशीः [2]मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी। कस्मात्? जातमात्रस्य [3]जन्तो-रननुभूत[4]मरणधर्मकस्य [5]द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्? न च

---

1. च—नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ य र—मा न भूवं भूयासं, ब—मरणं मा नु भूत भूयासं, म—न भूवं भूयासम्।
3. घ च प फ ब भ म य र—जन्तोः उपलभ्यते, क ख ग छ ज झ त थ द ध न—जन्तोः नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—मरण०, ब—जननमरण०।
5. क ख ग घ च ज थ द ध प फ ब भ म य र—द्वेषः, छ झ त न—द्वेष०।

स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते। [1]तस्मादनादिवासनानुबिद्धमिदं चित्तं निमित्त-वशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति। घटप्रासाद-प्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथा चान्तराभावः [2]संसारश्च युक्त इति। वृत्तिरेवास्य विभुन[3]श्चित्तस्य संकोचविका-सिनीत्याचार्यः तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम्। निमित्तं च द्विविधम्—बाह्य-माध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुति[4]दानाभिवादनादि। चित्तमात्रा-धीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम्। तथा चोक्तम्—ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधन[5]निरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति। तयोर्मानसं बलीयः। कथम्? ज्ञानवैराग्ये केना[6]तिशय्येते? [7]दण्डकारण्यं [8]च चित्तबलव्यतिरेकेण [9]कः शारीरेण कर्मणा शून्यं कर्तुमुत्सहेत? समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत्?॥१०॥

आत्मविषयिणी आशीः के नित्य होने से उन वासनाओं का अनादित्व भी सिद्ध होता है। मैं न रहूँ, ऐसा न हो, अपितु मै सर्वदा रहूँ—ऐसी आत्म-विषयिणी भावना जो सभी प्राणियों में देखी जाती है, वह भावना स्वाभाविक अर्थात् अकारण नहीं है। क्यों? अन्यथा तत्काल उत्पन्न, अतः जिसने पहले कभी मरण-कष्ट का अनुभव नहीं किया है, ऐसे प्राणी को द्वेषरूप पूर्व-जन्मानुभूत दुःख की स्मृति के कारण होने वाला जो मरणत्रास होता है, वह कैसे हो सकेगा? स्वभाव से ही उत्पन्न होने वाली वस्तु अपनी उत्पत्ति में किसी निमित्त या कारण का अवलम्बन नहीं करती है। इसलिये अनादि वासना से संस्कृत यह चित्त वासनारूप निमित्तवश कुछ वासनाओं को लेकर पुरुष के भोग के लिये उपस्थित होता है। कुछ अन्य लोग ऐसा मानते हैं कि घट अथवा राज-प्रासाद में रखे हुए दीपक की भाँति संकोच-विकासशील

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—तस्मात्, ब—यस्मात्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—संसारश्च युक्तः, ब—संसरणञ्च युक्तम्।
3. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—चित्तस्य उपलभ्यते, ख घ प फ र—चित्तस्य नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—दान० उपलभ्यते, ब—दान० नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—निरनुग्रहात्मानः, ब—निरनुग्रहाः।
6. क ख ग घ च छ ज [illegible] द ध न प फ ब भ म य र—अतिशय्येते, झ त—अतिशयाते
7. क ख ग घ च छ ज [illegible] द ध न प फ ब भ म य र—दण्डकारण्यं, झ त—दण्डं कारण्यम्।
8. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—च उपलभ्यते, घ प फ र—च नोपलभ्यते।
9. क ग प फ [illegible] भ—शून्यं कः, ख घ च छ ज झ त थ द ध म य र—कः शारीरेण, न—कः शरीरेण।

चित्त शरीर के परिमाण के आकार वाला है। और ऐसा मानने पर ही बीच में (चित्त का) आतिवाहिकभाव और देहान्तरसंसरण उपपन्न होता है। सांख्याचार्य मानते हैं कि चित्त विभु है। इस विभु चित्त की वृत्ति ही संकोच-विकासशील है। वह चित्त धर्म तथा अधर्मरूप निमित्त की अपेक्षा रखने वाला है। धर्माधर्मरूप निमित्त दो प्रकार का है—बाह्य तथा आध्यात्मिक। शरीरादि साधनों की अपेक्षा रखने वाले स्तुति, दान, अभिवादन इत्यादि बाह्य निमित्त हैं और केवल चित्त के ही अधीन रहने वाले श्रद्धा इत्यादि आध्यात्मिक निमित्त हैं। और ऐसा ही कहा भी गया है—'ध्याननिष्ठ योगियों के जो ये मैत्री, मुदिता आदि विना प्रयत्न के होने वाले व्यापार हैं, वे किसी बाह्य साधन की अपेक्षा न करते हुए शुक्ल धर्म को उत्पन्न करते हैं।' उन दोनों प्रकार के निमित्तों में से आध्यात्मिक निमित्त अधिक बलवान् होता है, क्योंकि ज्ञान, वैराग्य आदि मानस धर्म भला किससे अभिभूत किये जा सकते हैं? चित्तबल के विना भला कौन शारीरिक कर्म से दण्डक वन को निर्जन कर सकता है? अथवा अगस्त्य की भाँति कौन सागर का पान कर सकता है? ॥१०॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार प्रश्नपरक अवतरणिका के साथ सूत्र को उठाते हैं—

**तत्त्ववैशारदी**

**स्यादेतत्—व्यज्येरन्पूर्वपूर्वतरजन्माभिसंस्कृता वासनाः यदि पूर्वपूर्वतरजन्मसद्भावे प्रमाणं स्यात्। तदेव तु नास्ति। न च जातमात्रस्य जन्तोर्हर्षशोकदर्शनमात्रं प्रमाणं भवितुमर्हति, पद्मादिसंकोचविकासवत्स्वाभाविकत्वेन तदुपपत्तेरित्यत आह—तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्। तासां वासनानामनादित्वं च, न केवलमानन्तर्यमिति चार्थः। आशिषो नित्यत्वात्। आत्माशिषो वासनानाम[1]नादित्वेन नित्यत्वाव्यभिचारादिति। ननु स्वाभाविकत्वेनाप्युपपत्तेरसिद्धमाशिषो नित्यत्वमित्यत आह—येयमिति। नास्तिकः पृच्छति—कस्मादिति। उत्तरम्—जातमात्रस्य जन्तोरिति। अत एवैतस्मिञ्जन्मन्यननुभूतमरणधर्मकस्य मरणमेव धर्मः सोऽननुभूतो येन स तथोक्तस्तस्य मातुरङ्कात्प्रस्खलतः कम्पमानस्य माङ्गल्यचक्रादिलाञ्छितं तदुरःसूत्रमतिगाढपाणिग्राहमवलम्ब्यमानस्य बालकस्य कम्पभेदानुमिता द्वेषानुषक्ते दुःखे या स्मृतिस्तन्निमित्तो मरणत्रासः कथं भवेदिति। ननूक्तं स्वभावादित्यत आह—[2]न चेति। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते गृह्णाति स्वोत्पत्तौ।**

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—अनादित्वेन नित्यत्वाव्यभिचारात्, त—अनादित्वं नित्यत्वाद्व्यभिचारित्वात्।
2. थ द ध—न चेति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—न चेति नोपलभ्यते।

**शङ्का**—ठीक है, ऐसा माना जाय कि पूर्व-पूर्व जन्म की वासना अभिव्यक्त होने से उत्तर-उत्तर जन्म में प्रवृत्ति होती है। इस पर शंका यह है कि पूर्वजन्म की वासना की अभिव्यक्ति तभी मानी जा सकती है, जब पूर्वजन्म के सद्भाव में कोई प्रमाण हो? किन्तु इसमें कोई प्रमाण तो है नहीं? यदि कहा जाय कि जातमात्र प्राणी में जो हर्ष-शोक देखा जाता है, वही उसके पूर्वजन्म के सद्भाव में प्रमाण है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि कमल आदि पुष्पों के संकोच-विकास के समान हर्ष-शोकादि स्वाभाविक होने से उनकी उपपत्ति तो वैसे ही लग जाती है। अतः जब पूर्वजन्म ही नहीं है, तब पूर्व-पूर्व जन्म की वासना उत्तर-उत्तर जन्म में प्रवृत्ति का हेतु होती है—यह कैसे कहा जा सकता है?

**समाधान**—इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—**'तासामिति'** पूर्व-पूर्व वासनाओं का केवल आनन्तर्य ही नहीं है, अपितु उनका अनादित्व भी है—इतना अर्थ **'च'** पद से निकलता है। इसमें हेतु है—**'आशिषो नित्यत्वात्'** वासनाओं के अनादि होने से आत्म-विषयिणी भावना में नित्यत्व अव्यभिचरित है।

**शङ्का**—(इस पर स्वभाववादी चार्वाक की ओर से आक्षेप है कि) आत्मविषयिणी कामना तो स्वभाविक रूप से भी घटित हो सकती है, अतः आशीः का नित्यत्व सिद्ध नहीं होता है। (इस प्रकार आत्मविषयिणी कामना के नित्य न होने से तदाश्रित वासना को भी नित्य नहीं कहा जा सकता है)।

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'येयमिति'** मैं न रहूँ, ऐसा नहीं, अपितु मैं सर्वदा विद्यमान रहूँ'—ऐसी आत्मविषयिणी कामना सहज अर्थात् स्वाभाविक नहीं है। वह सकारणक है (और वह पूर्वजन्म के वासनारूप हेतु से उत्पन्न होती है)।

**शङ्का**—पूर्वपक्षी प्रश्न करता है—**'कस्मादिति'** किस कारण से पूर्वजन्मीय वासना को आत्मविषयिणी इच्छा का कारण कहा जा रहा है?

**समाधान**—भाष्यकार उत्तर देते हैं—**'जातमात्रस्य जन्तोरिति'** जातमात्र (नवजात) शिशु में भी मरण-भय दिखलाई पड़ता है, इसलिये वर्तमान जीवन में जिसने मरण-धर्म का अनुभव नहीं किया है, ऐसे मरणानुभवशून्य माता की गोद से खिसकने से कांपते हुए अत एव माता के वक्षस्थल में पड़े हुए माङ्गल्यचक्रादि-चिह्नित सूत्र को अपने हाथ से यथाशक्ति पकड़ने वाले शिशु को द्वेषानुबिद्ध दुःख के प्रति जो कम्पभेदानुमित स्मृति होती है अर्थात् कम्प से शिशु के द्वेषमूलक दुःख के स्मरण-ज्ञान का जो अनुमान किया जाता है, वह स्मृतिनिमित्तक **'मरणत्रास'** कैसे सम्भव हो सकता है? (अत आत्मविषयिणी कामना से पूर्वजन्मीय मरणत्रासविषयिणी वासना का अनुमान किया जाता है)।

**शङ्का**—(यदि स्वभाववादी चार्वाक कहे कि) बालक में दिखलाई पड़ने वाला मरण-

त्रास तो सहज (स्वाभाविक) होने से उपपन्न हो जाता है? अतः मरणत्रास की उपपत्ति के लिये पूर्वजन्मीय मरणत्रासानुभव से उत्पन्न वासना अकिञ्चित्कर है।

समाधान—इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं—'न चेति' ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वभाव से उत्पन्न होने वाली वस्तु अपनी उत्पत्ति में किसी निमित्त या कारण की अपेक्षा नहीं रखती है अर्थात् किसी निमित्त का ग्रहण नहीं करती है। अतः अनादि वासना से संस्कृत यह चित्त वासनारूप निमित्तवश कुछ वासनाओं को लेकर पुरुष के भोग के लिये उपस्थित होता है। इसलिये मरणभय को स्वाभाविक मानकर अनादि वासना का उच्छेद करना न्यायसंगत नहीं है।

उक्त तथ्य की पुष्टि के लिये तत्त्ववैशारदीकार अनुमान-प्रयोग प्रस्तुत करते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

**एतदुक्तं भवति— बालकस्येदृशो दृश्यमानः कम्पो भयनिबन्धनः, ईदृशकम्पत्वादस्मदादिकम्पवत्। [1]बालकस्य भयं द्वेषदुःखस्मृतिनिमित्तं भयत्वादस्मदादिभयवत्। आगामिप्रत्यवायोत्प्रेक्षालक्षणं च भयं न दुःखस्मृतिमात्राद् भवति, अपि तु यतो बिभेति तस्य प्रत्यवायहेतुभावमनुमाय—संप्रत्यपि [2]प्रत्यवायं भयं च विदध्यादिति [3]शङ्कते। तस्माद्यज्जातीयादनुभूतचराद् द्वेषानुषक्तं दुःखमुपपादितं तस्य स्मरणात् तज्जातीयस्यानुभूयमानस्य तद्दुःखहेतुत्वमनुमाय ततो बिभेति। न च बालकेनास्मिञ्जन्मनि स्खलनस्यान्यत्र दुःखहेतुत्वमवगतम्। न च तादृशं दुःखमुपलब्धम्। तस्मात्प्राग्भवीयोऽनुभवः परिशिष्यते। तच्चैतदेवं प्रयोगमारोहति—जातमात्रस्य [4]बालकस्य स्मृतिः पूर्वानुभवनिबन्धना स्मृतित्वादस्मदादिस्मृतिवदिति। न च पद्मसंकोचविकासावपि स्वाभाविकौ। न हि स्वाभाविकं कारणान्तरमपेक्षते, वह्नेरौष्ण्यं प्रत्यपि कारणान्तरापेक्षाप्रसङ्गात्। तस्मादागन्तुकमरुणकरसंपर्कमात्रमेव कमलिनीविकासकारणम्। संकोचकारणं च संस्कारः स्थितिस्थापक इति। एवं स्मिताद्यनुमितहर्षादयोऽपि प्राचि भवे हेतवो वेदितव्याः। तदास्तां तावत्। प्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति। [5]निमित्तं लब्धविपाककालं कर्म। प्रतिलम्भोऽभिव्यक्तिः।**

अभिसन्धि यह है—

प्रतिज्ञा—'बालकस्येदृशो दृश्यमानः कम्पो भयनिबन्धनः'—बालक में इस प्रकार का दिखाई पड़ता हुआ कम्प भयमूलक है।

---

1. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न—बालकस्य, ग—बालस्य,
2. क घ च छ ज झ त न—प्रत्यवायं भयं च, ग—प्रत्यवायमयं च, थ द ध—प्रत्यवायमयम्, ख—प्रत्यवायं...नोपलभ्यते।
3. क ख ग थ द ध—शङ्कते उपलभ्यते, घ च छ ज झ त न—शङ्कते नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न—बालस्य, थ द ध—बालकस्य।
5. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—निमित्तम्, झ—निमित्त०।

**हेतु—'ईदृशकम्पत्वात्'**—एक विशेष प्रकार का कम्प होने से।
**उदाहरण—'अस्मदादिकम्पवत्'**—हम लोगों के (भयनिमित्तक) कम्प की तरह।
इसी प्रकार—
**प्रतिज्ञा—'बालकस्य भयं द्वेषदुःखस्मृतिनिमित्तम्'**—बालक का भय द्वेषमूलक दुःख की स्मृति के कारण होता है।
**हेतु—'भयत्वात्'**—भयरूप होने से।
**उदाहरण—'अस्मदादिभयवत्'**—हम लोगों के भय की तरह।

नियम यह है कि आगामी प्रत्यवाय का कल्पनानिमित्तक जो भय है अर्थात् 'भविष्य में विघ्न उपस्थित हो सकता है'—इस आशंका से उत्पन्न होने वाला जो भय है, वह केवल दुःख की स्मृति का हेतु नहीं होता है, अपितु जिससे डरता है, उसमें प्रत्यवायहेतुता का अनुमान करके व्यक्ति उस समय प्रत्यवायजन्य भय को धारण करता है। इसलिये पूर्वजन्म में जिस प्रकार के अनुभूत पदार्थ से द्वेषानुविद्ध दुःख की उत्पत्ति होती है, उसी के स्मरण से तद्विषयक अनुभूयमान पदार्थ में दुःखहेतुता का अनुमान करके व्यक्ति भयभीत होता है। नवजात शिशु को वर्तमान जन्म में 'स्खलन (मातृ-अंक से खिसकना) मरण-दुःख का कारण होता है', ऐसा ज्ञान नहीं रहता है और न ही वैसा मरण-दुःख उसे (वर्तमान जन्म में) प्राप्त हुआ रहता है। (फिर भी नवजात शिशु में माँ की गोद से खिसकने पर कम्प दिखलाई पड़ता है)। अतः परिशेषानुमान से पूर्वजन्मीय मरणानुभव अनुमित होता है। अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—
**प्रतिज्ञा—'जातमात्रस्य बालकस्य स्मृतिः पूर्वानुभवनिबन्धना'**—नवजात शिशु का स्मरणज्ञान पूर्वानुभवमूलक होता है।
**हेतु—'स्मृतित्वात्'**—स्मृतिरूप होने से।
**उदाहरण—'अस्मदादिस्मृतिवत्'**—हम लोगों की स्मृति की तरह। अर्थात् जैसे हमें पूर्वानुभूत पदार्थ का ही स्मरण होता है, वैसे ही नवजात शिशु को पूर्वजन्म में अनुभूत मरण-दुःख का ही वर्तमान जन्म में स्मरण होता है, क्योंकि अननुभूत-विषयिका स्मृति नहीं होती है।

(हर्ष, शोकादि की स्वाभाविकता को सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्षी ने पद्मादि के संकोच-विकास की क्रिया को स्वाभाविक रूप से जो उपपादित किया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि) कमल का संकोच-विकास भी स्वाभाविक नहीं है। स्वाभाविक क्रिया की निष्पत्ति के लिये कारणान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है। अन्यथा वह्नि की उष्णता, जो उसका स्वाभाविक धर्म है, के लिये भी कारणान्तर की अपेक्षा होने लगेगी। इसलिये सूर्यकिरण का आकस्मिक सम्पर्क ही कमलिनी के विकास का

कारण है और स्थितिस्थापक संस्कार कमलिनी के संकोच का कारण है। इसी प्रकार स्मय आदि से अनुमित हर्षादि को भी पूर्वजन्म की सिद्धि में हेतु समझना चाहिये। अब इस विषय को यहीं रहने दिया जाय। भाष्यकार प्रकृत विषय को उपसंहृत करते हैं—'तस्मादिति।' भाष्य में प्रयुक्त 'निमित्त' शब्द का अर्थ है—विपाकोन्मुखी कर्म। अर्थात् जिस कर्म ने अपना फल प्रदान करने का अवसर प्राप्त कर लिया है, ऐसा कर्म यहाँ 'निमित्त' शब्द से अभिहित हुआ है। 'प्रतिलम्भ' शब्द का अर्थ है— अभिव्यक्ति। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—अतः अनादि वासना से चित्रित यह चित्त वासनारूप निमित्तवश कुछ वासनाओं को लेकर पुरुष के भोग के लिये प्रवृत्त होता है।

सम्प्रति, 'चित्तपरिमाण' के विषय में विचार प्रस्तुत हो रहा है—

**तत्त्ववैशारदी**

**प्रसङ्गतश्चित्त[1]परिमाणविप्रतिपत्तिं निराचिकीर्षुर्विप्रतिपत्तिमाह—घटप्रासादेति। देहप्रदेशवर्तिकार्यदर्शनाद् देहाद्बहिःसद्भावे चित्तस्य न प्रमाणमस्ति। न चै[2]तदणुपरिमाणम्, दीर्घशष्कुलीभक्षणादावपर्यायेण ज्ञानपञ्चकानुत्पादप्रसङ्गात्। न चाननुभूयमानक्रमकल्पनायां प्रमाणमस्ति। न चैकमणु मनो नानादेशैरिन्द्रियैरपर्यायेण संबन्धमर्हति। तत्पारिशेष्यात्कायपरिमाणं चित्तं घटप्रासादवर्तिप्रदीपवत्। संकोचविकासौ पुत्तिकाहस्तिदेहयोरस्योत्पत्स्येते। शरीरपरिमाणमेवाकारः परिमाणं यस्येत्यपरे प्रतिपन्नाः।**

'चित्तपरिमाण' के विषय में अन्य दार्शनिकसम्मत विप्रतिपत्तियों का निराकरण करने की इच्छा रखने वाले भाष्यकार प्रसङ्गतः पूर्वपक्षीय असंगति को बतलाते हैं—'घटप्रासादेति।' चित्त के 'विभुपरिमाण' का खण्डन करते हुए कहा जा रहा है—देह प्रदेश में ही चित्त के सभी कार्य देखे जाने से देह से बाहर चित्त के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है। चित्त के 'अणुपरिमाण' का खण्डन करते हुए कहा जा रहा है—चित्त 'अणुपरिमाण' वाला भी नहीं है, अन्यथा दीर्घशष्कुली (मालपूए)को खाते समय युगपत् (रूपादि) पाँचों ज्ञान नहीं हो सकेंगे। और न ही युगपत् होने वाले ज्ञानों में अननुभूत क्रम की कल्पना करने में कोई प्रमाण है। और न ही एक अणु मन का नाना देशवर्ती अनेक इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध हो सकता है। चित्त के 'मध्यमपरिमाण' का समर्थन करते हुए कहा जा रहा है—अन्ततोगत्वा यह स्वीकार किया जाता है कि चित्त शरीर के परिमाण के बराबर 'मध्यमपरिमाण' वाला है। और चित्त घटप्रासादवर्ती प्रदीप की तरह संकोचविकासशील है। अतः 'मध्यमपरिमाण' वाला चित्त क्रमशः पुत्तिका (मधुमक्खी) और हस्तिशरीर (हाथी के शरीर) का

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—परिमाणविप्रतिपत्तिम्, झ—परिणामप्रतिपत्तिम्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न—एतत्, थ—सत्।

आश्रय पाकर संकुचित और विकसित होता है। अतः चित्त का आकार अर्थात् परिमाण शरीरपरिमाण के ही बराबर है, ऐसा सांख्याचार्य मानते हैं।

**बालप्रिया—**

**'देहप्रदेशवर्त्ति'०**—इस वाक्य के द्वारा तत्त्ववैशारदीकार ने मीमांसकसम्मत मन के **'विभुपरिमाण'** को निरस्त किया है। मन के **'विभुपरिमाण'** का निषेध करने वाला सांख्यसूत्र भी है—**'न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा।'**

**'न चैतदणुपरिमाणम्'**—इस वाक्य द्वारा तत्त्ववैशारदीकार ने नैयायिकसम्मत मन के **'अणुपरिमाण'** का खण्डन किया है। न्यायसूत्र में चित्त के अणुपरिमाण की प्रतिपादक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—**'ज्ञानाऽयौगपद्यादेकं मनः'**, **'यथोक्तहेतुत्वाच्चाऽणुः'** (न्या. सू. अ. ३/ आह्निक २/६३)। अणुपरिमाणवादी नैयायिक का कथन है कि जैसे अत्यन्त शीघ्रता से चारों ओर घूमने वाले अलातचक्र में विद्यमान क्रम की प्रतीति नहीं होती है, वैसे ही चित्तवर्त्ती अनेक ज्ञान भी अत्यन्त शीघ्रता से होते हैं, जिससे भिन्न-भिन्न इन्द्रियजन्य ज्ञानों में क्रमिकता का बोध नहीं होता है और मनुष्य ऐसा अभिमान करता है कि 'मुझे युगपत् अनेक ज्ञान हो रहे हैं।' तदर्थ न्यायसूत्र है—**'अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात्।'** वाचस्पति मिश्र ने पूर्वपक्षी की इस अवधारणा को **'न चाऽननुभूयमानक्रमकल्पनायां...'** पंक्ति द्वारा खण्डित किया है।

**'पुत्तिका'**—(पुत्त+ठन्+टाप्) एक प्रकार की मधुमक्खी या दीमक। यहाँ पुत्तिका-देह में संकोच प्राप्त चित्त को तथा हस्तिदेह में विकासयुक्त चित्त को संकोच-विकासशील के रूप से प्रतिपादित किया गया है।

सम्प्रति, पूर्वपक्षी चित्त को **'मध्यमपरिमाण'** मानने वाले योगाचार्यों के मत में दोष की उद्भावना करता है—

**तत्त्ववैशारदी**

**नन्वेवं कथमस्य क्षेत्रबीजसंयोगः, न खल्वेतदनाश्रयं मृतशरीरान्मातृ[1]पितृदेहवर्तिनी लोहितरेतसी प्राप्नोति, परतन्त्रत्वात्। न हि स्थाण्वादिष्वगच्छत्सु तच्छाया गच्छति। न चागच्छति पटे तदाश्रयं [2]चित्रं गच्छति। तथा च [3]न संसारः स्यादित्यत आह—तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति। तथा च शरीरपरिमाणत्वे देहान्तरप्राप्तये पूर्वदेह[4]त्यागो देहान्तरप्राप्तिश्चान्तरास्यातिवाहिकशरीरसंयोगाद् भवतः तेन खल्वयं देहान्तरे सञ्चरेत्। तथा च पुराणम्—**

---

1. क ख ग घ च छ त थ द ध न—पितृ०, उपलभ्यते, ज झ—पितृ० नोपलभ्यते।
2. क छ—चित्तम्, ख ग घ च ज झ त थ द ध न—चित्रम्।
3. क ख ग घ च झ त थ द ध न—न संसारः, छ ज—न अत एव संसारः।
4. क ग थ द ध—त्यागः, ख घ च छ ज झ त न—त्यागश्च।

अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्। इति।

सोऽयमन्तराभावः अत एव संसारश्च युक्त इति। तदेतदमृष्यमाणः स्वमतमाह—[1]वृत्तिरिति। वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य सङ्कोचविकासिनीत्याचार्यः स्वयंभूः प्रतिपेदे। इदमत्राकूतम्—यद्यनाश्रयं चित्तं न देहान्तरसञ्चारि कथमे[2]तदातिवाहिकमाश्रयते। तत्रापि देहान्तरकल्पनायामनवस्था। न चास्य देहान्निष्कर्ष [3]आतिवाहिकस्य सम्भवति, निष्कृष्टस्य चेतसस्तत्सम्बन्धात्। अस्तु तर्हि सूक्ष्मशरीरमेवासर्गादा च [4]प्रलयान्नियतं चित्तानामधिष्ठानं षाट्कौशिकशरीरमध्यवर्ति। तेन हि चित्तमासत्यलोकादा चावीचेस्तत्र तत्र शरीरे सञ्चरति। निष्कर्षश्चास्योपपन्नः षाट्कौशिकात्कायात्। तत्र हि तदन्तराभावस्तस्य नियतत्वात्। न चास्यापि सद्भावे प्रमाणमस्ति। न खल्वेतदध्यक्षगोचरः। न च संसारोऽस्यानुमानम्, आचार्यमतेनाप्युपपत्तेः। आगमस्तु पुरुषस्य निष्कर्षमाह। न च चित्तं वा सूक्ष्मशरीरं वा पुरुषः, किंतु चितिशक्तिरप्रतिसंक्रमा। न चास्या निष्कर्षः संभवतीत्यौपचारिको व्याख्येयः। तथा च चितेश्चित्तस्य च तत्र तत्र वृत्त्यभाव एव निष्कर्षार्थः। यच्च स्मृतीतिहासपुराणेषु मरणानन्तरं प्रेतशरीरप्राप्तिस्तद्विमोकश्च सपिण्डीकरणादिभिरित्युक्तं तदनुजानीमः। आतिवाहिकत्वं तस्य न मृष्यामहे। न चात्रास्ति कश्चिदागमः। लब्धशरीर एव च यमपुरुषैरपि पाशबद्धो [5]नीयते, न त्वा[6]तिवाहिकशरीरः। तस्मादाहङ्कारिकत्वाच्चेतसोऽहङ्कारस्य [7]च गगनमण्डलवत्त्रैलोक्यव्यापित्वाद्विभुत्वं मनसः। एवं चेदस्य वृत्तिरपि विभ्वीति सर्वज्ञतापत्तिरित्यत उक्तं वृत्तिरेवास्येति। स्यादेतत्—चित्तमात्राधीनाया वृत्तेः सङ्कोचविकासौ कुतः कादाचित्काविल्यत आह—[8]तच्चेति। तच्च चित्तं धर्मादिनिमित्तापेक्षम्। वृत्तौ निमित्तं विभजते—निमित्तं चेति। आदि[9]ग्रहणेनेन्द्रियधनादयो गृह्यन्ते। श्रद्धादीति। अत्रापि वीर्यस्मृत्यादयो [10]गृह्यन्ते। आन्तरत्वे संमतिमाचार्याणामाह—तथा चोक्तमिति। विहारो व्यापारः। प्रकृष्टं शुक्लम्। तयोर्बाह्याभ्यन्तरयोर्मध्ये। ज्ञानवैराग्ये तज्जनितौ धर्मौ केन बाह्यसाध्येन [11]धर्मेणातिशय्येते

---

1. थ द ध—वृत्तिरिति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—वृत्तिरिति नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न—एतत्, थ—सत्।
3. क ख ग झ त थ द ध न—आतिवाहिकस्य, घ च छ ज—सातिवाहिकस्य।
4. क ग थ द ध—महाप्रलयात्, ख घ च छ ज झ त न—प्रलयात्।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न—नीयते, थ द ध—नीयेत।
6. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न—आतिवाहिकशरीरः, ग—आतिवाहित्वं शरीरम्।
7. क ख ग घ च छ ज झ त न—च उपलभ्यते, थ द ध—च नोपलभ्यते।
8. थ द ध—तच्चेति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—तच्चेति नोपलभ्यते।
9. क ख ग घ च छ ज झ त न—ग्रहणेन, थ द ध—शब्देन।
10. क ख ग घ च छ ज त थ ध न—गृह्यन्ते, झ—गृह्यन्ते मतिश्च।
11. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—धर्मेण, त—धर्मेणातिशयेन।

**अभिभूयेते। ज्ञानवैराग्यजावेव धर्मौ तमभिभवतः, बीजभावादपनयत इत्यर्थः। अत्रैव सुप्रसिद्ध-मुदाहरणमाह—दण्डकारण्यमिति॥१०॥**

**शङ्का**—चित्त को **'मध्यमपरिमाण'** वाला मानने पर कैसे चित्त का मातृस्थानीय क्षेत्र और पितृस्थानीय बीज के साथ संयोग सम्बन्ध हो सकता है? अर्थात् उक्त संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है। और आधारभूत शरीर के नष्ट हो जाने पर आश्रयहीन मन माता-पिता के देह में रहने वाले लोहित और रेतस् को भी प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि चित्त पराधीन है। जैसे स्थाणु आदि के न चलने पर तदाश्रित छाया भी नहीं चलती है और पट के न चलने पर वस्त्राश्रित चित्र भी नहीं चलता है अर्थात् वह क्रियाशून्य रहता है। इस स्थिति में (चित्त को मध्यमपरिमाण वाला मानने पर एक शरीर को त्यागने पर अनाश्रय चित्त दूसरे शरीर को ग्रहण करने के लिये क्रियावान् नहीं हो सकेगा, फलतः) चित्त का आवागमनरूप संसार सिद्ध नहीं हो सकेगा? जब कि चित्त को **'अणुपरिमाण'** वाला मानने पर ऊपर कही गई विसंगतियाँ नहीं आती है।

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति।'** शरीर को मध्यमपरिमाण वाला मानने पर देहान्तर की प्राप्ति के लिये पूर्व देह के त्याग और देहान्तर की प्राप्ति के मध्य काल (अन्तराभाव) में चित्त का **'आतिवाहिक शरीर'** के साथ संयोग होता है। जिससे **'आतिवाहिक शरीर'** का आश्रय पाकर चित्त देहान्तर में सञ्चरण कर सकता है। ऐसा ही विष्णुपुराण में कहा गया है—**'अङ्गुष्ठ-मात्रम्...'** अर्थात् यम ने बलपूर्वक अङ्गुष्ठ के बराबर आकार वाले पुरुष को शरीर से खींचा।' इस प्रकार मध्यमपरिमाण वाले चित्त का **'अन्तराभाव'** अर्थात् पूर्वापर सर्गों में **'लय'** तथा **'संसार'** उपपन्न होता है।

सांख्याचार्यों के उक्त सिद्धान्त को सहन न करते हुए भाष्यकार योगमत को बतलाते हैं—**'वृत्तिरिति।'** इस विभु चित्त की वृत्ति ही संकोच-विकासशील है, ऐसा आचार्य स्वयंभू मानते हैं। अभिप्राय यह है—यदि अनाश्रय चित्त देहान्तर में सञ्चरण करने में समर्थ नहीं है तो वह कैसे **'आतिवाहिक शरीर'** को आश्रय बना सकता है? यदि यह कहा जाय कि वह अनाश्रय चित्त **'आतिवाहिक शरीर'** की प्राप्ति के लिये देहान्तर की अपेक्षा रखता है, तब तो देहान्तर की प्राप्ति के लिये अनाश्रय चित्त को देहान्तर की अपेक्षा रहेगी और इस प्रकार अनवस्थादोष (अविश्रान्ति-दोष) प्रसक्त होगा। और आतिवाहिक देहसहित चित्त का शरीर से निस्सरण भी नहीं हो सकता है, क्योंकि आतिवाहिक देह के साथ नहीं, अपितु 'निष्कृष्ट' अर्थात् शुद्ध चित्त के साथ ही स्थूलशरीर का सम्बन्ध होता है।

**शङ्का**—ऐसी स्थिति में षाट्कौशिक शरीर के मध्य में रहने वाले और सृष्टि से लेकर प्रलयपर्यन्त नियत (स्थिर) रहने वाले सूक्ष्मशरीर को ही चित्त का आश्रय मान लिया जाय? जिस सूक्ष्मशरीर की सहायता से चित्त सत्यलोक से लेकर अवीचि (संज्ञकानरक) पर्यन्त तत्-तत् शरीरों में सञ्चरण करता है। और इसका (सूक्ष्म-शरीराश्रित चित्त का) षाट्कौशिक शरीर से निस्सरण (बहिर्गमन) भी उपपन्न (सम्भव) हो जाता है। और पूर्वापर सृष्टि के मध्य में अर्थात् प्रलयकाल में चित्त का लय भी हो सकता है, क्योंकि यह निश्चित कालावधिपर्यन्त **'नियत'** है।

**समाधान**—(सूक्ष्मशरीराश्रित चित्त का जो अन्तराभाव और संसरण सिद्ध किया जा रहा है वह भी औचित्यपूर्ण नहीं है, क्योंकि आतिवाहिक शरीर के समान) सूक्ष्म-शरीर के सद्भाव (अस्तित्व) में भी कोई प्रमाण नहीं है। सूक्ष्मशरीर का प्रत्यक्ष भी नहीं होता है। संसार अर्थात् संसरण के द्वारा सूक्ष्मशरीर का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। क्योंकि आचार्यमत से भी यह बात सिद्ध है कि सूक्ष्मशरीर अनुमेय नहीं है। आगमप्रमाण तो स्थूलशरीर से पुरुष के निस्सरण का प्रतिपादन करता है। और पुरुष को सूक्ष्मशरीर अथवा चित्त दोनों में से कोई भी नहीं माना जा सकता है। क्योंकि चितिशक्तिरूप पुरुष प्रतिसंक्रमण रहित है। अतः पुरुष का संसरण सम्भव नहीं हो सकता है। यह औपचारिक व्याख्या है। इस औपचारिक व्याख्या के अनुसार चितिशक्ति और चित्त का तत्तत् शरीरों में न रहना ही **'निष्कर्ष'** शब्द का अर्थ है। और जो स्मृति, इतिहास और पुराणादि में मरण के पश्चात् प्रेतशरीर (आतिवाहिक देह) की प्राप्ति होती है और प्रेतशरीर से छुटकारा सपिण्डीकरण आदि क्रियाओं के द्वारा होता है, ऐसा जो वर्णन प्राप्त होता है, उसे हम भी स्वीकार करते हैं। किन्तु मन के आतिवाहिकत्व को हम स्वीकार नहीं करते हैं। और (मृत्यु के पश्चात् मन को आतिवाहिक शरीर की प्राप्ति होती है) इसमें आगमप्रमाण भी नहीं है। जिसने शरीर प्राप्त किया है, ऐसे पुरुष को ही यमपुरुष पाश में बांधकर ले जाते हैं, न कि आतिवाहिक शरीर को। चित्त के आहंकारिक (अहंकार का कार्य) होने से और अहंकार के आकाश की तरह व्यापक होने से चित्त का विभुत्व भी सिद्ध होता है।

**शङ्का**—चित्त को विभु मानने पर उसकी वृत्ति को भी विभु कहना होगा, जिससे चित्त सर्वज्ञ कहलाने लगेगा। अर्थात् विभु चित्त की विभु वृत्ति का समस्त पदार्थों के साथ संयोग बना रहने से चित्त को सर्वदा सभी पदार्थों का ज्ञान होता रहेगा? किन्तु यह आपत्तिजनक है।

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'वृत्तिरेवास्येति'** चित्त के विभु होने पर भी उसकी वृत्ति ही संकोच-विकासशील है। इससे चित्त की सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती है।

**शङ्का**—विभु चित्त की वृत्ति को संकोच-विकासशील मान भी लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि चित्तमात्र के अधीन रहने वाली वृत्ति का संकोच-विकास कदाचित् ही क्यों होता है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**तच्चेति**।' धर्मादि की अपेक्षा रखने वाला चित्त ही वृत्ति में कारण है। अर्थात् चित्त की कभी-कभी होने वाली संकोच-विकासशील वृत्ति में धर्मादि निमित्तकारण है। अतः चित्तवृत्ति का सर्वदा संकोच-विकास नहीं होता है, अपितु फल देने के लिये जब धर्मादि उन्मुख होते हैं, तभी उनमें संकोच-विकास परिलक्षित होता है। भाष्यकार चित्तवृत्ति के '**निमित्त**' को भी विभाजित करते हैं—'**निमित्तं चेति**' वह निमित्त दो प्रकार का है—पहला बाह्य तथा दूसरा आध्या- त्मिक। शरीरादि साधन से साध्य जो स्तुति, दान, अभिवादनादि हैं, वे बाह्य धर्मादि निमित्त हैं। यहाँ '**आदि**' पद से इन्द्रिय, धनादि का ग्रहण होता है। और केवल चित्त द्वारा साध्य जो श्रद्धादि हैं, वे आध्यात्मिक धर्मादि निमित्त हैं। यहाँ '**श्रद्धादि**' में प्रयुक्त '**आदि**' पद से वीर्य, स्मृति आदि का संग्रह होता है। भाष्यकार श्रद्धा, वीर्य, स्मृति आदि के आन्तरिक अर्थात् आध्यात्मिक धर्म होने में पञ्चशिखाचार्य के वचन को प्रमाण रूप से उद्धृत करते हैं—'**तथा चोक्तमिति**।' वचन में प्रयुक्त '**विहार**' शब्द का अर्थ है—शुक्ल। वाक्यार्थ यह हुआ कि योगियों के जो मैत्री, करुणा आदि विहार अर्थात् क्रीडा के समान प्रयत्ननिरपेक्ष व्यापार हैं, वे बाह्य व्रीहि, पशु, हिंसा आदि साधन की अपेक्षा रखने के स्वभाव वाले नहीं हैं, इसलिये वे '**शुक्ल**' धर्म को ही उत्पन्न करते हैं, न कि कृष्णशुक्ल धर्म को। इन दोनों बाह्य और आध्यात्मिक धर्मरूप निमित्तों में जो मैत्र्यादि आध्यात्मिक धर्मरूप निमित्त हैं, वे शारीरिक बल की अपेक्षा अधिक बलवान् हैं। ज्ञान तथा वैराग्यजनित धर्म किस बाह्य साधन से साध्य धर्म के द्वारा अभिभूत किये जा सकते हैं? अपितु ज्ञान-वैराग्य से उत्पन्न धर्म ही बाह्य साधन से उत्पन्न होने वाले धर्म को अभिभूत करते हुए उन्हें बीजभाव से दूर हटाते हैं अर्थात् उन्हें शक्तिहीन बनाते हैं। भाष्यकार इस विषय में सुप्रसिद्ध उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'**दण्डकारण्यमिति**।' अर्थात् चित्तबल के विना मात्र शारीरिक क्रिया से कौन दण्डकारण्य को निर्जन करने का उत्साह कर सकता है? और महर्षि अगस्त्य के समान कौन समुद्रपान कर सकता है?॥१०॥

**बालप्रिया**—

'**ज्ञानपञ्चकानुत्पादप्रसङ्गात्**'—चित्त को अणुपरिमाण वाला मानने पर युगपत् ज्ञान-पञ्चक अनुपपन्न होगा। जब कि मञ्जरी में स्पष्टतः उल्लेख है कि दीर्घ पूपशष्कुली को खाते हुए युगपत् पञ्चविध ज्ञान होता है—

**सुगन्धिं शीतलां दीर्घामश्नतः पूपशष्कुलीम्।**
**कपिलब्राह्मणाः सन्ति युगपत्पञ्च बुद्धयः॥**

अतः चित्त को अणुपरिमाण वाला मानना युक्तिसंगत नहीं है।

**'प्रसङ्गतश्चित्तपरिमाणविप्रतिपत्तिं निराचिकीर्षुः'**—**'चित्तपरिमाण'** की चर्चा के प्रसङ्ग में चार मान्यताएँ प्राप्त होती हैं—

१. **'अणुपरिमाण'** वाला होने से चित्त अणु—**नैयायिक।**

२. **'महत्परिमाण'** वाला होने से चित्त विभु—**मीमांसक।**

३. **'मध्यमपरिमाण'** वाला होने से अणु-महत् से विलक्षण चित्त का शरीर परिमाण-सांख्य।

४. **'विभु'** चित्त की वृत्ति संकोचविकासशील—**योग।**

भाष्य में अपरे प्रतिपन्नाः द्वारा सांख्यमत तथा **'इत्याचार्यः'** द्वारा योगमत को प्रतिपादित किया गया है, ऐसा वाचस्पति मिश्र मानते हैं। यह भाष्यानुसारी भी है। इस प्रसंग में यह बतलाना अप्रासङ्गिक न होगा कि श्री बालरामोदासीन ने अपने 'पातञ्जलदर्शनप्रकाश' में भाष्यानुसारी वाचस्पति मिश्र के **'विभुत्वं मनसः'** द्वारा प्रतिपादित मन के विभुत्वपक्ष पर असहमति व्यक्त करते हुए सांख्य-योग में चित्त के **'मध्यमपरिमाण'** का मतैक्य व्यक्त किया है। बालरामोदासीन के कथन का सारांश इस प्रकार है—

'मन के विभुत्व' की अवधारणा तो प्रवादमात्र है, वास्तविक नहीं। स्वयं पतञ्जलि को भी मन का विभुत्व मान्य न होगा, क्योंकि सांख्य-योग समानतन्त्र है। योग के अनुसार मन के विभुत्व का प्रतिपादन तो भाष्यकार की बुद्धि की उपज-मात्र है। क्योंकि सांख्ययोगमत में प्रकृति को छोड़कर कार्यरूप महदादि सभी पदार्थ परिच्छिन्न (सीमित) हैं। कोई भी विभु (व्यापक) तत्त्व क्रियामत् अथवा उत्पत्तिमत् नहीं हो सकता है। इसीलिये **'न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा'**, **'सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः'**—इन दो सांख्यसूत्रों के द्वारा मन के विभुत्व का निराकरण किया गया है तथा **'न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटवत्'**—इस सांख्यसूत्र के द्वारा महर्षि कपिल ने अक्षपादसम्मत मन के अणुत्ववाद का खण्डन करते हुए मन के **'मध्यमपरिमाण'** को सिद्धान्तित किया है। सांख्य-योग के समानतन्त्र होने से योग को भी मन का **'मध्यमपरिमाण'** स्वीकृत है, ऐसा मानना औचित्यपूर्ण है। और इस प्रकार मन का **'मध्यमपरिमाण'** सिद्ध हो जाने पर मन में क्रियावत्त्वादि धर्मों की भी सहज सङ्गति लग जाती है।

मन के विभुत्व की स्थापना के लिये प्राभाकरसम्मत निम्नाङ्कित अनुमानप्रयोग भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है—

**'अन्तःकरणं विभुः'** अर्थात् अन्तःकरण विभु है—प्रतिज्ञा।

**'नित्येन्द्रियत्वात्'** अर्थात् नित्य इन्द्रियरूप होने से—हेतु।

**'श्रोत्रवत्'** अर्थात् श्रोत्र के समान—उदाहरण।

क्योंकि **'एतस्मात्प्रजायन्ते मनः सर्वेन्द्रियाणि च'** अर्थात् 'इस अव्यक्त से मन और निखिल इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं'—इस श्रुति के द्वारा मन को उत्पन्न होने वाली वस्तु कहा गया है। अतः मन को नित्य मानते हुए विभु कैसे कहा जा सकता है? अतः उक्त अनुमान-प्रयोग अनुमानाभासमात्र है।

मन के **'मध्यमपरिमाण'** का खण्डन करने के लिये सूक्ष्मदेह की अप्रामाणिकता तथा आतिवाहिक देह की अनङ्गीकारता को उपपादित करते हुए निराश्रय मन के आवागमनरूप क्रिया की जो असम्भाव्यता कही गई है, वह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि श्रुति-स्मृतियों द्वारा सूक्ष्मशरीर का सद्भाव तथा आतिवाहिक शरीर की प्रामाणिकता सुप्रतिष्ठित है। सूक्ष्मशरीर के सद्भाव में निम्नाङ्कित वचन प्रमाण स्वरूप हैं—

**'भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकार्यवायवः।**
**अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्य्यष्टकमिदं पुनः'॥**—सनन्दनाचार्य।
**'पुर्य्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।**
**तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन वै'**—ब्रह्मपुराण।
**'सप्तदशैकं लिङ्गम्'**—सांख्यसूत्र।

आतिवाहिक शरीर की प्रामाणिकता में निम्नाङ्कित वचन पर्याप्त हैं—

**'तत्क्षणादेव गृह्णाति शरीरमातिवाहिकम्।**
**ऊर्ध्वं व्रजन्ति भूतानि त्रीण्यस्मात्तस्य विग्रहात्'॥**—स्मृति।
**'आतिवाहिकसञ्ज्ञोऽसौ देहो भवति भार्गव।**
**केवलं तन्मनुष्याणां नाऽन्येषां प्राणिनां क्वचित्'॥**—स्मृति।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि सांख्य-योग के अनुसार चित्त का **'मध्यमपरिमाण'** मानने में किसी भी प्रकार की विसंगति नहीं है। अत एव भाष्यकार ने चित्त के **'मध्यमपरिमाण'** का खण्डन करने के लिये किसी भी तर्क (युक्ति) को उपन्यस्त नहीं किया है। इस प्रकार श्रीबालरामोदासीन ने स्वचिन्तन को **'अत एव चाऽस्वरसबोधकमाचार्यपदोपादानमित्यलं बहुना'**—इत्याकारक उपसंहारात्मक वाक्य द्वारा प्रदर्शित किया है॥१०॥

सम्प्रति, वार्त्तिककार स्वरचित अवतरणिका द्वारा अग्रिम सूत्र को प्रश्नात्मक शैली से उठाते हैं—

## योगवार्त्तिकम्

नन्वेवं सकलजन्मार्थमेव वासनास्वीकारेऽनवस्थाप्रसङ्ग इत्याशङ्कामपाकरोति—तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्। व्याचष्टे—तासामिति। नित्यत्वात्प्रतिजन्मनियतत्वादित्यर्थः। अनादित्वं च प्रवाहरूपेण बोध्यम्। यद्यप्याशीर्नित्यतया तद्धेतुवासनाया एवानादित्वं सिद्ध्यति न तु भोगहेतुवासनानां तथाऽपि तत्रानवस्थायाः प्रामाणिकत्वेनादोषत्वे तद्दृष्टान्तेनान्यासामप्यनादित्वमनुमेयमित्याशयः। नन्वग्न्यौष्ण्यवदियमाशीश्चित्तस्य स्वाभाविक्येव भवतु? तत्राह—येयमिति। आशीर्नित्यत्वे तद्वासनाऽनादित्वे तथाऽऽशिषोः स्वाभाविकत्वे वा युक्तिं पृच्छति—कस्मादिति। तत्रादावाशीर्नित्यत्वेन वासनाऽनादित्वं यथा सिद्ध्यति तदाह—जातेति। जातमात्रोऽनुमानाद्यसमर्थो बालको यदि [1]पूर्वजन्मन्यननुभूतमरणधर्मकः स्यात् तदा कथं तस्य द्वेषतत्कारणमरणदुःखस्मरणाभ्यामेवोत्पाद्यो मरणत्रासो यथोक्ताशीरूपः संभवेत्पूर्वपूर्वभवीयमरणदुःखवासनां विनेति शेषः। अस्वाभाविकत्वे तु युक्तिमाह—न चेति। नापि स्वाभाविकं वस्तु निमित्तसापेक्षं भवति, भयरूपात्तु यथोक्ताशीः खड्गप्रहारदर्शनादिनिमित्तमपेक्षते, अन्यथाऽनुपपत्तेरतो न स्वाभाविकीति शेषः। सूत्रत्रयार्थं शिष्यावधारणायोपसंहरति—तस्मादनादीति। निमित्तं विपाकोन्मुखं कर्म, प्रतिलभ्य गृहीत्वा।

**शङ्का**—यदि सकल जन्मों के लिये वासना को स्वीकार किया जाय तो—वासना से जन्म और जन्म से वासना ऐसा कहने पर—अनवस्थादोष आयेगा?

**समाधान**—उक्त शंका को सूत्र से अपाकृत किया जा रहा है—'तासामिति।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'तासामिति।' सूत्रगत 'नित्यत्व' पद का अर्थ 'प्रतिजन्म नियतत्व' है। इस प्रकार वासना का 'अनादित्व' प्रवाहरूप से समझना चाहिये। यद्यपि 'आशीः' अर्थात् आत्मविषयिणी इच्छा के नित्य होने से उसके हेतुरूप से वासना का अनादित्व ही सिद्ध होता है, न कि भोगहेतुक वासनाओं का, तथापि आशीः और वासना में अनवस्था के प्रामाणिक होने से यह दोषावह नहीं है। किञ्च आत्माशीः और वासना के प्रामाणिक अनवस्था के दृष्टान्त द्वारा अन्य पदार्थों का भी अनादित्व अनुमित होता है। यह सूत्राशय है।

**शङ्का**—जिस प्रकार अग्नि की उष्णता अग्नि का स्वाभाविक धर्म है उसी प्रकार 'मा न भूवं भूयासम्'—ऐसी आत्माशीः को भी चित्त का स्वभाव ही मान लिया जाय, अतः तदर्थ वासना का अनादित्व क्यों स्वीकार किया जाय?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'येयमिति।' (अग्नि के औष्ण्य धर्म की भाँति) सभी प्राणियों में परिलक्षित होने वाली 'आत्माशीः' को चित्त का स्वभाव नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् आत्माशीः को अकारण नहीं, अपितु पूर्वजन्मीय वासना के कारण ही माना जाता है।

---

1. क—पूर्वजन्मन्यननुभूत०, ख ग घ—न पूर्वजन्मन्यनुभूत०, च छ—न पूर्वजन्मन्यननुभूत०।

**शङ्का**—'आत्माशीः' को नित्य मानने में, तद्धेतुक 'वासना' को अनादि मानने में अथवा 'आत्माशी' को स्वाभाविक मानने में कौन सी युक्ति है, इसको शंकालु पूछता है—'कस्मादिति॥'

**समाधान**—इनमें से—'आत्माशीः' की नित्यता से 'वासना' का अनादित्व जिस प्रकार सिद्ध होता है, उसे भाष्यकार सर्वप्रथम बतलाते हैं—'जातेति।' 'जातमात्र' अर्थात् तत्काल उत्पन्न अत एव अनुमानादि करने में असमर्थ बालक यदि पूर्वजन्म में अननुभूत मरणधर्म वाला हो तो उसे—द्वेष (दुःख के प्रति द्वेष) और द्वेष के कारण मरण-दुःख के स्मरण, इन दोनों से ही उत्पन्न होने योग्य मरणत्रास कैसे हो सकता है अर्थात् पूर्व-पूर्व जन्म में अनुभूत मरणदुःखविषयिणी वासना के विना 'मा न भूवं भूयासम्' ऐसा आत्माशीः रूप मरणत्रास कैसे सम्भव हो सकता है? अर्थात् सम्भव नहीं हो सकता है। भाष्यकार मरणत्रासविषयिणी आत्माशीः के स्वाभाविक न होने में (निर्निमित्तक न होने में) युक्ति देते हैं—'न चेति।' स्वाभाविक वस्तु को निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती है। अर्थात् निमित्तनिरपेक्ष होना ही वस्तु का स्वरूप (स्वभाव) होता है। किन्तु 'मा न भूवं भूयासम्'—ऐसी यथोक्त 'आत्माशीः' तो भयरूप होने से शास्त्रप्रहार के दर्शनादि के कारण होती है, अन्यथा (खड्गप्रहारदर्शनादि निमित्त के विना) मरणभयविषयिणी आत्माशीः उपपन्न नहीं हो सकेगी। अतः यह सिद्ध होता है कि यथोक्त आत्माशीः स्वाभाविक नहीं है। शिष्य अर्थात् मोक्षार्थी कों योगतत्त्व का निश्चय कराने के लिये भाष्यकार सूत्रत्रय (८-१०) में प्रतिपादित तथ्य (अर्थ) को उपसंहृत करते हुए कहते हैं—'तस्मादनादीति।' यहाँ 'निमित्त' शब्द का अर्थ 'विपाकोन्मुख कर्म' है तथा 'प्रतिलभ्य' क्रियापद का अर्थ 'ग्रहण करके' है। (वाक्य का समुदित अर्थ इस प्रकार हुआ कि अनादि वासना से वासित चित्त विपाकोन्मुख कर्म के कारण तत्सम्बन्धिनी वासना को लेकर पुरुष के भोगार्थ प्रवृत्त होता है।

सम्प्रति, अनादि वासना के आधारभूत 'चित्त' को विश्लेषित किया जा रहा है—

### योगवार्तिकम्

ननु वासनाया अनादित्वं तदा भवेद् यदि तदाश्रयं चित्तं नित्यं स्यात् प्रतिशरीरं च भिन्नं न स्यात्, तदेव तु न, पुम्प्रकृत्यतिरिक्तस्य सर्वस्य कार्यत्वाभ्युपगमात्, अणुमहाशरीरयोः परिमाणभेदेन भेदवच्छरीरतुल्यपरिमाणचित्तस्यापि भेदसिद्धेश्चेति? तदादौ सांख्यपरिमाण-माह—घटेति। प्रतिपुरुषं सर्वशरीरसाधारणमेकैकमेव चित्तं तथाऽपि घटप्रासादरूपस्वल्प-महाऽऽश्रयभेदेन प्रदीपवत् स्वल्प[1]महाशरीरभेदेन चित्तं स्वल्पं महापरिमाणं भवति, तथा च नित्यत्वमपि तस्य प्रदीपपरमाणुवदेव द्रष्टव्यम्। तच्च परमाणुतुल्यसूक्ष्मावस्थायां प्रकृतेः

---

1. क ख ग घ—महत०, च छ—महा० (उभयत्र)

**सत्त्वरूपांशविशेषतां प्राप्नोतीति न प्रकृतिपुरुषातिरिक्तस्य नित्येति भावः। एवमपरे सांख्या आहुरित्यर्थः।**

**शङ्का**—वासना का अनादित्व तभी सम्भव है, जब वासना का आश्रयभूत चित्त नित्य हो तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न न हो। किन्तु चित्त इस स्वभाव वाला नहीं है, क्योंकि प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त महदादि सभी पदार्थों को कार्य माना गया है (अतः कार्यकोटिक चित्त 'अनित्य' स्वभाव वाला है) तथा अणु और महत् शरीरों के परिमाणभेद से शरीरभेद की भाँति देहतुल्य परिमाण वाले चित्तों का भी भेद सिद्ध होता है। अर्थात् शरीरभेद से चित्त का भिन्नत्व भी सिद्ध होता है। अतः अनित्य तथा शरीर-भेद से भिन्न-भिन्न परिमाण वाले चित्त को अनादि वासना का आश्रय कैसे कहा जा सकता है?

**समाधान**—उक्त शंका-समाधानार्थ भाष्यकार सर्वप्रथम सांख्यसम्मत **'चित्तपरिमाण'** को बतलाते हैं—**'घटेति'।** प्रत्येक पुरुष के तत्तत् शरीरों में (सर्वशरीरसाधारण में) एक-एक चित्त (भिन्न-भिन्न चित्त) है, तथापि स्वल्प तथा महत् शरीर के परिमाण-भेद से चित्त स्वल्प तथा महत् परिमाण वाला उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार घट और प्रासादरूप स्वल्प और महत् आश्रय के भेद से प्रदीप-संकोच (स्वल्प) और विकास (महत्) रूप को प्राप्त करता है। किञ्च प्रदीप के परमाणु की तरह चित्त की नित्यता भी समझनी चाहिये। और परमाणुवत् यह चित्त सूक्ष्मावस्था में प्रकृति की सत्त्वात्मक अंशरूपता को प्राप्त करता है। इसलिये प्रकृति-पुरुष से अतिरिक्त किसी तत्त्व को नित्य नहीं कहा गया है। इसी प्रकार दूसरे सांख्याचार्य भी कहते हैं।

**बालप्रिया**—

**'न प्रकृतिपुरुषातिरिक्तस्य नित्यता'**—अभिप्राय यह है कि प्रतिपुरुषसाधारण चित्त अपने से सम्बद्ध पुरुष के पुरुषार्थपर्यन्त ही रहता है। अतः चित्तादि में सापेक्ष नित्यता है। पुरुषार्थ की समाप्ति होने पर वह अपने मूल कारण प्रकृति में लीन हो जाता है। अतः प्रकृति या पुरुष की भाँति चित्त में निरपेक्ष नित्यता नहीं है।

सम्प्रति, चित्त के **'विभुपरिमाण'** का खण्डन किया जा रहा है—

### योगवार्त्तिकम्

**ननु विभ्वेव चित्तं कथं नेष्यत इत्याकाङ्क्षायामाह—तथा चेति। तथा चाणुत्वस्यापि संभवात्, पूर्वापरसर्गयोरन्तरा प्रलये भावो लयः संभवति, तथा संसारः संसरणम् इहलोक-परलोकसञ्चारश्च सक्रियत्वात्संभवति, विभुत्वे चैतदुभयं न घटेतेत्यर्थः।**

**शङ्का**—(प्रदीप की भाँति संकोच-विकासशील न मानकर) चित्त को **'विभुपरिमाण'** वाला ही क्यों नहीं मान लिया जाता है? अर्थात् चित्त को **'विभुपरिमाण'** वाला मानना चाहिये।

समाधान—ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं—'तथा चेति।' तब तो चित्त के 'विभुत्व' की भाँति उसका 'अणुत्व' भी सम्भव हो सकता है। चित्त को 'अणुपरिमाण' वाला मानने पर पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सर्ग के बीच प्रलयकाल में उसका लय सम्भव हो सकता है, संसरणरूप संसार सम्भव हो सकता है तथा क्रियावान् (सक्रिय) होने से इहलोक-परलोक में आवागमन (संचार) भी हो सकता है। किन्तु चित्त को 'विभुपरिमाण' वाला मानने पर उसका लय और संसरण दोनों ही सम्भव नहीं हो सकेंगे।

**बालप्रिया—**

'विभुत्वे चैतदुभयं न घटेत'—अभिप्राय यह है कि चित्त को 'विभुपरिमाण' वाला मानने पर उसे नित्य और क्रियाहीन कहना पडेगा। फलतः उसका प्रलय काल में लय और संसार काल में लोकान्तर में गमनागमन सम्भव न हो सकेगा।

चित्त के परिमाण के विषय में आगे बतलाया जा रहा है—

**योगवार्त्तिकम्**

स्वशास्त्रसिद्धान्तमाह—वृत्तिरेवेति। [1]विम्वाकाशवच्चित्तं प्रतिनियतपुरुषभोग्यत्वात्, पुरुषभेदेनानन्तञ्च,

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
द्वाभ्यां शून्यतमं विद्धि चिदाकाशं वरानने!॥

इत्यादिभिः शास्त्रेषु चित्तविभुत्वावगमात्। अन्यथा परिच्छिन्नत्वे सतीश्वरोपाधेरपि परिच्छिन्नत्वापत्त्येश्वरस्य विभुत्वश्रुतिस्मृतियुक्ति[2]विरोधः [3]स्यात्। यथा तु वैशेषिका नैयायिकाश्चाकाशस्य विभुनित्यस्यापि श्रोत्रादिरूपेण कार्यतां देहेन सह गमनादिकं चौपाधिकतयाऽभ्युपगच्छन्ति तथैव विभुनित्यानां जीवचित्तानां मलिनदर्पणवदविद्याकामकर्मावृतप्रकाशशक्तीनां मन्दप्रकाशस्वभावानां वा बाह्यसत्त्वान्तरोपष्टम्भाज् ज्ञानादिहेतुः परिणामविशेषः सर्गादौ जायते,

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः

इतिश्रुतेः। स एव परिणामः स्वल्पमहाशरीरभेदेन संकोचविकाशशीलो भवतीत्येवमाचार्यः पतञ्जलिरभ्युपगच्छतीत्यर्थः। अत्र च वृत्तिः प्रदीपशिखावद् द्रव्यरूपः परिणाम इति प्रागेवोक्तम्, न तु क्षणद्वयावस्थायी ज्ञानेच्छाऽऽदिगुणः। सर्गाद्युत्पन्नचित्तस्य प्राकृतप्रलयपर्यन्तावस्थानस्येहलोकपरलोकगमनादेश्च श्रवणादिभिरस्या वृत्तेर्घटपटाद्याकारतैवात्रेच्छाज्ञान-

---

1. क घ च—विश्व०, ख—द्वित्वेव, ग—विम्बेव, छ—विभु०
2. क ग च छ—विरोधः स्यात्, ख—विरोधाच्च, घ—विरोधात्।
3. ख—न च जीवेशोपाध्योः परिमाणभेदो युक्तः, बाधकाभावेनैकरूपकल्पनाया एवौचित्यात् (स्यात्—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—न च...औचित्यात् नोपलभ्यते।

शब्दवाच्येति। तदेवं वैशेषिकाणामाकाशवद् अस्माकं चित्तमपि नित्यानित्योभयरूपमिति सिद्धम्। विशेषस्त्वयं यत्तैराकाशस्य श्रोत्ररूपेण [1]जन्यता कर्णशष्कुल्यौपाधिकीष्यते, अस्माभिस्तु गुणान्तरसंभेदाद् यथाऽर्थ एव महदादिरूपेण प्रकृत्याख्यसूक्ष्मचित्तस्य परिणाम इष्यत इति। एतेन विभुनित्यत्वेऽप्याकाशस्य कार्यत्वमपि व्याख्यातम्, शब्दादिहेतुपरिणामविशेषरूपेण कार्यत्वं श्रुतिस्मृतिसिद्धं विरोधाभावादिति दिक्। ये तु वैशैषिकाश्चित्तम् अण्वेव सर्वदाऽभ्युपगच्छन्ति, तन्मत एकदा पञ्चेन्द्रियैः पञ्चवृत्त्यनुंपपत्तिः, चक्षुःश्रोत्रादेर्विरुद्धदेशतयाऽणोस्तदुभयसंबन्धस्यैकदाऽनौचित्यादित्यादीनि दूषणान्यूह्यानि। युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति न्यायसूत्रे च सदा सर्वज्ञत्वाभाव एव मनआख्यकरणे लिङ्गत्वेनोपन्यस्तो न त्वेकदेन्द्रियद्वयवृत्त्यभावः, हेत्वसिद्धिदोषापत्तेरिति।

भाष्यकार 'चित्तपरिमाण' के विषय में योगशास्त्र का सिद्धान्त बतलाते हैं—'वृत्तिरेवेति।' आकाश की भाँति विभु चित्त की वृत्ति ही संकोच-विकासशील है, क्योंकि वह प्रत्येक पुरुष की भोग्य होती है और पुरुषभेद से यह चित्त अनन्त है। चित्त का विभुत्व 'चित्ताकाशं...वरानने' (महोपनिषद् ४/५८) इत्यादि शास्त्र से सिद्ध होता है। शास्त्रीयवाक्य का अर्थ है—'चित्तावच्छिन्न आकाश, चिदावच्छिन्न आकाश तथा (अनौपाधिक) आकाश—ये तीन आकाश हैं। हे सुन्दरवदनि ! अन्य दो आकाशों (चित्ताकाश तथा अनौपाधिक) आकाश से चिदावच्छिन्न आकाश को शून्यरूप समझना चाहिये।' अन्यथा चित्त को (विभु न मानकर) परिच्छिन्न मानने पर ईश्वरोपाधि (प्रकृष्टसत्त्व) को भी परिच्छिन्न मानना पडेगा। फलतः श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित ईश्वर का विभुत्व असंगत हो जायेगा। जिस प्रकार वैशेषिक और नैयायिक लोग विभु और नित्य होते हुए भी आकाश की श्रोत्रादि रूप से कार्यता तथा औपाधिक रूप से देह के साथ गमनादिता को स्वीकार करते हैं उसी प्रकार हम योगाचार्यों के मत में मलिन दर्पण की भाँति अविद्या, काम तथा कर्म से आवृत्त प्रकाशशक्ति वाले अथवा मन्द प्रकाश स्वभाव वाले विभु तथा नित्य जीवचित्तों की बाह्यसत्त्व के उत्तेजक रजोगुण से ज्ञानादि का हेतुभूत परिणामविशेष सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होता है, क्योंकि ऐसा श्रुतिवाक्य है—'कार्यो... ऽऽीश्वरः' (शुकरहस्योपनिषद् ५/११) अर्थात् 'कार्योपाधिरूप जीव है और कारणोपाधिरूप ईश्वर है।' अतः चित्त का परिणाम (वृत्ति) ही स्वल्प और महत् शरीर रूप आश्रय के भेद से संकोच-विकासशील होता है, ऐसा आचार्य पतञ्जलि मानते हैं। और चित्त की वृत्ति दीपशिखा की भाँति द्रव्यरूप परिणामविशेष है, ऐसा हम पहले बतला चुके हैं। चित्त की यह वृत्ति वैशेषिकसम्मत ज्ञान, इच्छा आदि गुण की

---

1. क ख ग घ च—जन्यता, छ—जन्यतः।

तरह द्विक्षणावस्थायी नहीं है। अर्थात् प्रथम क्षण में उत्पन्न, द्वितीय क्षण में स्थित तथा तृतीयक्षण में नष्ट होने वाली (तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी) वृत्ति नहीं है। चित्त के प्राकृत प्रलयपर्यन्त अवस्थित रहने वाले, सृष्टि के आदि में उत्पन्न चित्त का इहलोक, परलोकगमनादि सुनाई पडने से चित्तवृत्ति की घट, पटादि विषयाकारता ही प्रकृत शास्त्र में इच्छा और ज्ञान शब्दवाच्य है। इस प्रकार योगसम्मत चित्त भी उसी प्रकार नित्यानित्योभयरूप सिद्ध होता है जिस प्रकार वैशेषिकों का आकाश घट, मठादि उपाधिरूप से अनित्य तथा अनुपाधिकरूप से नित्य है। अन्तर यह है कि वे (विभु, नित्य तथा एकरूप) आकाश की श्रोत्ररूप से कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नोपाधिरूप जन्यता मानते हैं, किन्तु हम योगाचार्य गुणविमर्दन के कारण प्रकृत्याख्य सूक्ष्म चित्त का (कारणरूप प्रकृति में अन्तर्लीन कार्यरूप चित्त का) महदादिरूप से तात्त्विक (यथार्थ) परिणाम ही मानते हैं। इससे विभु और नित्य होने पर भी आकाश का कार्य होना भी सिद्ध हो जाता है। शब्दादि तन्मात्राओं के (हेतुओं के) परिणामविशेष के रूप से आकाश का कार्य होना श्रुति- स्मृतिसिद्ध है, क्योंकि इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। और जो वैशेषिक लोग चित्त को सर्वदा अणुरूप ही मानते हैं, उनके मत में तुल्य काल में पाँचों इन्द्रियों की पञ्च वृत्तियाँ (अपनी-अपनी वृत्तियाँ) नहीं बन सकेंगी। क्योंकि चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियों के विरुद्ध देश (तत्तद् देशवर्ती रूप, शब्दादि विषय भिन्न-भिन्न) होने से अण्वात्मक चित्त का सर्व विषय के साथ युगपत् सम्बन्ध नहीं बन पायेगा। इस प्रकार चित्त को 'अणुपरिमाण' वाला मानने पर अनेक दोष आयेंगे। दूसरी बात यह है कि 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (१/१/१६) इस न्यायसूत्र में मनसंज्ञक करण का लिङ्गत्वरूप से सर्वदा सर्वज्ञ न होना ही वर्णित है। इससे यह नहीं बतलाया गया है कि एक समय में इन्द्रियद्वय का वृत्त्यभाव रहता है। अर्थात् एक काल में दो इन्द्रियाँ अपना-अपना विषयज्ञान नहीं कर सकती हैं। अन्यथा हेत्वसिद्धिदोष की आपत्ति आयेगी।

सम्प्रति, चित्तवृत्ति के 'संकोचविकाशस्वभाव' पर प्रकाश डाला जा रहा है—

### योगवार्त्तिकम्

**वृत्तौ संकोचविकाशयोः कारणमाह—तच्चेति। तच्च संकोचविकाशनं धर्माधर्मादिरूपनिमित्तापेक्षया भवति, अनादित्वाच्चात्र नान्योन्याश्रय इति। ननु धर्मादिरेव चेच्चित्तवृत्तिविकाशस्तर्हि शरीरादिधर्मैः स्तुतिदानादिभिरेव ज्ञानादिसंभवे दुष्करयोगापेक्षा न युक्तेत्याशङ्कायामाह—निमित्तं चेति। अभिवादनादीति। आदिशब्देन निन्दापरस्वादानातिक्रमादीन्यधर्मसाधनान्यपि गृहीतानि श्रद्धाऽऽदीनि च। श्रद्धाऽऽदयः पूर्वं व्याख्याताः श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञाः, तद्विपरीताश्चाश्रद्धाऽऽदय इत्यर्थः। ननु श्रद्धाऽऽदिमात्रस्य धर्मनिर्वर्त्तकत्वे**

किं प्रमाणम्? तत्राह—तथा चोक्तमिति। विहारा अयत्नसाध्याः। निष्पाद्यधर्मनिर्वृत्तौ हेतुः—बाह्यसाधनेति। बाह्यसाधननिरपेक्षस्वभाव इत्यर्थः। तयोरिति। तयोश्च बाह्याध्यात्मिकयोर्मध्ये मानसं कर्म बलीयः, यतो मानसं कर्म ज्ञानवैराग्यरूपतया सर्वातिशायीत्यर्थः। निरतिशयत्वमुदाहरति—दण्डकारण्यं चेति। दण्डकदेशस्तद्राजे क्रोधान्विते शुक्रः सप्तदिनशिलावृष्ट्या जनशून्यं चकार। अन्यत्सुगमम्। तथा च श्रद्धाऽऽदिसाधनजन्यो योगधर्मो यथा चित्तविकाससाधनं तथा बाह्यधर्म इति योगधर्मस्यापेक्षेति। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मोक्षधर्मं समाश्रयेत् ।
सर्वे धर्मास्सदोषाः स्युः पुनरावृत्तिकारकाः ॥ इति,
इज्याऽध्ययनदानानि तपः स्वाध्यायकर्म च ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ इति च।

गीतायामपि—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥इति॥

यतश्च मानसं कर्मैव बलीयोऽत एव जडभरतादेः समाधिनिष्ठतैव श्रूयते—

सर्वविज्ञानसंपन्नः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ।
अपश्यत्स च मैत्रेय ! आत्मानं प्रकृतेः परम् ॥
न पपाठ गुरुप्रोक्तां कृतोपनयनः श्रुतिम् ।
न ददर्श च कर्माणि शास्त्राणि जगृहे न च ॥

इत्यादिनेति। तदेवं मोक्षयोग्यं चित्तं तत्प्रसङ्गेनेतरचित्तस्य बन्धप्रकारश्च दर्शितः। पुरुषे चित्तद्वारकबन्धस्य स्वाभाविकत्वे मोक्षासंभवात्, कर्मवासनाऽऽदिमूलकत्वे तु तदुच्छेदतो मोक्षो घटत इति॥१०॥

वार्त्तिककार चित्तवृत्ति के संकोच-विकाशशील होने में कारण बतलाते हैं—'तच्चेति।' चित्तवृत्ति की संकोच-विकास-क्रिया धर्माधर्मारूप निमित्त की अपेक्षा से होती है। तथा दोनों के अनादि होने से अन्योन्याश्रयदोष नहीं आता है।

शङ्का—यदि धर्मादि निमित्त से ही चित्तवृत्ति का विकास होता है तो शरीर के स्तुति, दानादि धर्मों से ही ज्ञानादि भी सम्भव हो जायेंगे, तो फिर (ज्ञानादि के लिये) दुष्कर योग की आवश्यकता असमीचीन है?

समाधान—उक्त आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं—'निमित्तं चेति।' 'अभिवादनादीति।' भाष्यगत 'आदि' शब्द से निन्दा, दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण आदि इन अधर्मसाधनों का तथा श्रद्धादि धर्मसाधनों का ग्रहण (संग्रह) होता है। श्रद्धादि धर्म साधन तो पूर्वपाद में वर्णित श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञारूप हैं तथा इनके विपरीत अश्रद्धादि अधर्म साधन हैं।

**शङ्का**—श्रद्धादिमात्र धर्म के निर्वर्त्तक (जनक, निष्पादक) हैं, इसमें क्या प्रमाण है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**तथा चोक्तमिति**' भाष्य में प्रयुक्त '**विहार**' शब्द का अर्थ '**अप्रयत्नसाध्य**' है। अर्थात् योगियों के मैत्र्यादि अप्रयत्नसाध्य व्यापार हैं। ये श्रद्धादि धर्म-निष्पत्ति में कारण हैं—'**बाह्यसाधनेति**' ये श्रद्धादि बाह्यसाधन की अपेक्षा नहीं रखते हैं। अर्थात् बाह्यसाधन निरपेक्ष होने से ये धर्म-निष्पत्ति के कारण हैं। वार्तिककार आगे का भाष्य उठाते हैं—'**तयोरिति**' इन बाह्य और आध्यात्मिक कर्मों (निमित्तों) के मध्य मानसकर्म (मैत्र्यादि धर्मरूप निमित्त शारीरिक बल की अपेक्षा) बलवान् होता है, क्योंकि ज्ञान और वैराग्यरूप होने से मानस कर्म सर्वातिशायी होता है अर्थात् किसी से अभिभूत नहीं होता है। भाष्यकार मानस कर्म के निरतिशयत्व (सर्वातिशयत्व) के विषय में उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'**दण्डकारण्यं चेति**' योगी शुक्र ने घोर अपराध के कारण दण्डक वन के राजा पर क्रोध करते हुए (अपने योगबल से) सात दिन तक सतत ओलावृष्टि के द्वारा दण्डकारण्य को जनशून्य कर दिया था। उदाहरण का शेष अंश सरल है। निष्कर्षतः श्रद्धादि साधन-जन्य योगधर्म जिस प्रकार चित्तविकास का साधन है उसी प्रकार शरीरादि साधन-जन्य बाह्यधर्म भी योगधर्म की अपेक्षा करता हुआ चित्तविकास का साधन है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है—'**सर्वधर्मान्...आत्मदर्शनम्**' (बृहद्योगियाज्ञवल्क्य-स्मृति ११/१) अर्थात् 'सभी धर्मों को छोड़कर मोक्षधर्म का आश्रय लेना चाहिये, (क्योंकि) सभी धर्म आवृत्तिकारक (आवागमनपरक) होने से दोषयुक्त होते हैं। यज्ञ, अध्ययन, दान, तप और स्वाध्याय क्रिया (कर्म)—ये ही परम धर्म हैं, जिसके योग से आत्मा का साक्षात्कार होता है।' गीता में भी कहा गया है—'**एषा...भयात्**' (२/३९,४०) अर्थात् 'तुमसे जो यह बुद्धि कही है, यह सांख्यबुद्धि-परब्रह्मविषयक बुद्धि कही है, अब तुम कर्मयोग बुद्धि को सुनो। इस धर्म का स्वल्प भी अंश बडे भारी भय से रक्षा करता है।' चूँकि (शारीरिक कर्म की अपेक्षा) मानस कर्म ही बलवान् होता है, इसलिये जडभरतादि का समाधि के प्रति ही निष्ठाभाव सुना जाता है—'**सर्वविज्ञान...जगृहे न च**' (विष्णु पु. २/१३/३७,३९) अर्थात् 'हे मैत्रेय! सभी विज्ञानों में निष्णात, सभी शास्त्रों के तत्त्ववेत्ता जडभरत ने प्रकृति की अपेक्षा आत्मतत्त्व को परम श्रेष्ठ समझा। उपनयनसंस्कारवान् जडभरत ने गुरु द्वारा बतलाई हुई श्रुति (वेदश्रुति) का अध्ययन नहीं किया और न ही धार्मिक कर्मों को देखा और न ही अन्य शास्त्रों का ग्रहण किया।' इस प्रकार मोक्षभागीय चित्त को और उसी प्रसंग से तद्भिन्न चित्त के बन्ध के प्रकार को प्रदर्शित किया गया। अन्यथा पुरुष में चित्तद्वारक '**बन्ध**' को स्वाभाविक माना जाय तो पुरुष का मोक्ष

उपपन्न न हो सकेगा। किन्तु कर्मवासना को 'बन्ध' का कारण मानने पर वासनोच्छेद द्वारा पुरुष का मोक्ष घटित हो जाता है॥१०॥

वैयासिकी अवतरणिका के बिना अगला सूत्र प्रस्तुत हो रहा है—

### योगसूत्रम्

**हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे [1]तदभावः॥११॥**

हेतु, फल, आश्रय एवं आलम्बन—इन (चारों) से वासनाओं के संगृहीत होने के कारण इन (हेत्वादि) का नाश होने पर उन (तदाश्रित) वासनाओं का भी नाश हो जाता है॥११॥

### व्यासभाष्यम्

हेतुर्धर्मात्सुखमधर्माद्दुःखं [2]सुखाद्रागो दुःखाद्द्वेषस्ततश्च प्रयत्नस्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा। ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं [3]षडरं संसारचक्रम्। अस्य च प्रतिक्षणमावर्तमानस्याविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतुः। फलं तु यमाश्रित्य यस्य [4]प्रत्युत्पन्नता धर्मादेः, नह्यपूर्वोपजनः। मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्। न ह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते। यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम्। एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वा वासनाः। एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः॥११॥

हेतु—धर्म से सुख एवं अधर्म से दुःख की प्राप्ति होती है। सुख से राग होता है और दुःख से द्वेष होता है। राग-द्वेष से व्यक्ति प्रयत्न करता है। उस प्रयत्न से मन, वचन और शरीर से चेष्टा करता हुआ व्यक्ति दूसरे पर अनुग्रह करता है अथवा उसे पीडित करता है। इस अनुग्रह अथवा पीडा के द्वारा पुनः धर्म-अधर्म की उत्पत्ति होती है। उससे फिर सुख तथा दुःख होता है और उससे फिर राग-द्वेष होता है—इस प्रकार प्रवृत्त होने वाला छह अरों वाला संसारचक्र है। प्रतिक्षण आवर्त्तन करने (घूमने) वाले इस संसारचक्र को आगे

---

1. त्वदभावतः—इति पाठान्तरम्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—सुखाद्रागः दुःखाद्द्वेषः, ब—सुखानुशयी रागः दुःखानुशयी द्वेषः।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध प फ ब भ म य र—षडरं, न—षडक्षरम्।
4. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—प्रत्युत्पन्नता, छ थ—प्रत्यासन्नता।

बढ़ाने वाली अविद्या निखिल क्लेशों की जड़ है। यही अविद्या (संसाररूप वासना का) 'हेतु' कही जाती है।
**फल**—जिसके प्रयोजन से धर्मादि की उपस्थिति होती है, क्योंकि किसी असद्वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है—यही 'फल' है।
**आश्रय**—साधिकार मन ही वासनाओं का आश्रय है। क्योंकि मन के कृतकृत्य हो जाने पर निराश्रित वासनाएँ टिक नहीं सकती हैं।
**आलम्बन**—जो वस्तु अभिमुख होकर अर्थात् इन्द्रिय का विषय बनकर जिस वासना को अभिव्यक्त करती है, वह वस्तु उस वासना का 'आलम्बन' कही जाती है। इस प्रकार हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन इन के द्वारा सारी वासनाएँ संगृहीत होती हैं। इन हेत्वादि का अभाव होने पर इनके आश्रय में रहने वाली वासनाओं का भी अभाव हो जाता है॥११॥

## तत्त्ववैशारदी

**अथैताश्चित्त[1]वृत्तयो वासनाश्चानादयश्चेत्कथमासामुच्छेदः। न खलु चितिशक्तिरनादिरुच्छिद्यत इत्यत आह—हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः। अनादेरपि समुच्छेदो दृष्टः। तद्यथाऽनागतत्वस्येति। सव्यभिचारत्वादसाधनम्। चितिशक्तिस्तु विनाशकारणाभावान्न विनश्यति, न त्वनादित्वात्। उक्तं च वासनानामनादीनामपि समुच्छेदे कारणं सूत्रेणेति। अनुग्रहोपघातावपि [2]धर्माधर्मादिनिमित्तमुपलक्षयतः। तेन सुरा[3]पानादयोऽपि संगृहीता भवन्ति। नेत्री नायिका। अत्रैव हेतुमाह—मूलमिति। प्रत्युत्पन्नता वर्तमानता न तु धर्मस्वरूपोत्पादः। अत्रैव हेतुमाह—न हीति। यदभिमुखीभूतं वस्तु कामिनीसंपर्कादि। व्यापकाभावे व्याप्यस्याभाव इति सूत्रार्थः॥११॥**

**शङ्का**—यदि चित्तवृत्तियाँ एवं वासनाएँ अनादि हैं, तो उनका नाश किस प्रकार हो सकेगा? अर्थात् अनादि मानने पर उनका नाश नहीं हो सकेगा। जैसे, अनादि चितिशक्ति का उच्छेद सम्भव नहीं है।
**समाधान**—इस पर सूत्रकार कहते हैं—'हेत्विति' (तत्त्ववैशारदीकार पूर्वपक्षी के निम्नाङ्कित—

'वासना नोच्छिद्यन्ते'—अर्थात् वासनाओं का उच्छेद नहीं होता है—प्रतिज्ञा।

'अनादित्वात्'—अर्थात् अनादि होने से—हेतु।

'आत्मवत्'—आत्मा की तरह—उदाहरण।

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—वृत्तयः, ज—वृत्तिभ्यः।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—धर्माधर्मादिनिमित्तं, ज—धर्मादिनिमित्तम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—पान०, झ त—यान०।

अनुमान-प्रयोग में हेतु को **'असिद्ध'** बतलाते हुए कह रहे हैं कि) अनादि पदार्थ का भी नाश दिखलाई पड़ता है, जैसे अनागतत्व का। (अभिव्यक्ति से पूर्व पदार्थ की अनागतावस्था अनादि है, फिर भी पदार्थ के वर्तमानावस्था को प्राप्त होने पर वह नष्ट अर्थात् अभिभूत हो जाती है)। अतः **'अनादित्व'** हेतु सव्यभिचारी होने से वह **'वासनानुच्छेद'** साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। और जो चितिशक्ति का नाश नहीं होता है, वह अनादि होने के कारण नहीं, अपितु विनाश की सामग्री न होने से चितिशक्ति का उच्छेद नहीं होता है। (इस प्रकार **'अनादित्व'** हेतु से **'वासनानुच्छेद'** को सिद्ध करने में पूर्वपक्षी द्वारा प्रदत्त 'आत्मवत्' दृष्टान्त भी ठीक नहीं है)। पतञ्जलि ने वासनाओं के अनादि होने पर भी उनके उच्छेद का कारण (हेतु) सूत्र द्वारा उपन्यस्त किया है। अर्थात् हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन वासनाओं का **'स्थितिकारण'** है तथा हेत्वाद्यभाव वासना का **'वियोगकारण'** है। तत्त्ववैशारदीकार धर्माधर्म, सुख-दुःख तथा राग-द्वेष नाम के षट्कोणात्मक संसारचक्र के विषय में बतलाते हुए कहते हैं—इस प्रकार **'अनुग्रह'** और **'उपघात'** को भी धर्माधर्मादि का निमित्त कारण सूचित किया गया है। इसी से मदिरापान आदि अधर्म का भी संग्रह हो जाता है। **'नेत्री'** शब्द का अर्थ है—नायिका। अर्थात् अविद्या समस्त क्लेशों की अधिष्ठात्री है, अतः **'नेत्री'** है। अविद्या को नेत्री क्यों कहा गया? इसमें हेतु उपन्यस्त करते हुए भाष्यकार कहते हैं—**'मूलमिति।'** अविद्या अस्मितादि की उत्पत्तिभूमि (मूल) है, अतः अविद्या को **'नेत्री'** कहा गया है। **'प्रत्युत्पन्नता'** शब्द का अर्थ है—वर्तमानता, न कि धर्म की स्वरूपतः उत्पत्ति होना। अर्थात् जिस पुरुषार्थ को **'आश्रय'** करके धर्मादि की **'प्रत्युत्पन्नता'** अर्थात् वर्तमानता होती है, वह केवल पुरुषार्थ का ही नहीं, अपितु वासना का भी फल है। भाष्यकार इसी तथ्य में हेतु प्रस्तुत करते हैं—**'न हीति।'** क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं होती है। भाष्य के **'यदभिमुखीभूतं वस्तु'** से स्त्री-सम्पर्कादि को लिया गया है। वाक्यार्थ यह हुआ—कामिनी-सम्पर्कादि आलम्बनीभूत वस्तु जिस वासना को अभिव्यक्त करता है, उस वस्तु को तत्सम्बन्धित वासना का **'आलम्बन'** कहा जाता है। सूत्र के उत्तरार्द्ध **'एषामभावे तदभावः'** में निहित तथ्य को प्रकाशित करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि व्यापक (हेत्वादि) का अभाव होने पर व्याप्य (वासना) का अभाव होता है—ऐसा सूत्रार्थ है॥११॥

**बालप्रिया—**

**'व्यापकाभावे व्याप्यस्याभावः'**—व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार है—**यत्र-यत्र वासना तत्र-तत्र हेत्वादिः**—अन्वय व्याप्ति। **यत्र-यत्र हेत्वाद्यभावः तत्र-तत्र वासनाभावः**—व्यतिरेक व्याप्ति॥११॥

सम्प्रति, वार्त्तिककार स्वरचित अवतरणिका द्वारा अग्रिम सूत्र को उठाते हुए उसकी व्याख्या करते हैं—

**योगवार्त्तिकम्**

**इदानीं मोक्षोपपत्तयेऽऽनाद्यसंख्यानामपि वासनानामत्यन्तोच्छेद उपपाद्यते—हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः। वासनाहेतुः संसारचक्रम्, तस्यापि हेतुरविद्येत्यतोऽऽविद्यैव हेतुशब्दार्थ इत्याह—हेतुरित्यादिना इत्येष हेतुरित्यन्तेन। हेतुः संसारचक्रमित्यन्वयः। संसारचक्रस्य ज्ञानकर्मवासनाहेतुत्वे हेतुगर्भविशेषणम्—प्रवृत्तमिदं षडरमिति। धर्माधर्मसुखदुःखरागद्वेषरूपेणारषट्केणाविद्यादण्डप्रेरितेन भ्रमितं भवतीत्यतो वासनाहेतुरित्यर्थः। कुलालचक्रस्य हि दण्डेन शलाकाप्रेरणे कृते वेगाख्यः संस्कारो भवति येन कियत्कालं स्वयमपि भ्रमति तद्वदेव भ्रामितं संसारचक्रं वासनाहेतुरिति भावः। चक्रप्रवर्त्तकं दण्डमाह—अस्य चेति। नेत्री भ्रामिका। तथा च सर्ववासनोदयेऽविद्यैव मूलकारणम्, अविद्याक्षये च विहितनिषिद्धकर्मणां सत्त्वेऽपि संसारचक्रभ्रमणान्न वासनोदय इत्याशयः। हेतुमुपसंहरति—इत्ये[1]ष हेतुरिति। अविद्या हेतुर्वासनाया इत्यर्थः।**

सम्प्रति, मोक्ष की उपपत्ति के लिये अनादि और असंख्य होती हुई भी वासनाओं के आत्यन्तिक उच्छेद (सर्वथा नाश) को सूत्रकार उपपादित करते हैं—**'हेत्विति।'** वासनाहेतुक यह संसारचक्र है और इस वासना का कारण **'अविद्या'** है। अतः सूत्रगत **'हेतु'** शब्द का अर्थ **'अविद्या'** ही है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—**'हेतुरित्यादिना इत्येष हेतुरित्यन्तेन।'** यहाँ भाष्य के **'हेतु'** पद का अन्वय भाष्य के **'संसारचक्रम्'** पद के साथ किया जाता है। ज्ञान, कर्म तथा (तज्जन्य) वासनाहेतुक संसारचक्र में हेतुगर्भविशेषण है—**'प्रवृत्तमिदं षडरमिति।'** धर्म-अधर्म, सुख-दुःख तथा राग-द्वेषात्मक छह अरों के रूप से यह संसारचक्र **'अविद्या'** दण्ड से प्रेरित होकर घूमता रहता है। अतः वासनाकारणक यह संसारचक्र अविद्यानिमित्तक है। जिस प्रकार कुम्भचक्र के दण्ड से शलाका को प्रेरित करने पर उसमें वेगाख्य संस्कार उत्पन्न होता है। परिणामस्वरूप कुलालचक्र कुछ समय तक स्वतः ही घूमता रहता है। उसी प्रकार अविद्यारूप दण्ड से घूमता हुआ यह संसारचक्र वासनाकारणक है। भाष्यकार संसारचक्र के प्रवर्त्तक दण्ड के बारे में बतलाते हैं—**'अस्य चेति।' 'नेत्री'** शब्द का अर्थ **'भ्रामिका'** (घुमाने वाली) है अर्थात् **'अविद्या'** से संसारचक्र आवर्तित होता रहता है। निष्कर्षतः अखिल वासनाओं का उदय होने में अविद्या ही मूलकारण है तथा अविद्या का नाश हो जाने पर विहित और निषिद्ध कर्मों के विद्यमान रहने पर भी संसारचक्र के आवर्तन से वासना का उदय नहीं होता है। भाष्यकार वासना-

---

1. क घ—एव, ख ग च छ—एषः।

के हेतुभूत अविद्या को उपसंहृत करते हैं—'इत्येष हेतुरिति।' वासना का 'हेतु' यही अविद्या है।

सम्प्रति, सूत्र के 'फल' पद की व्याख्या की जा रही है—

**योगवार्त्तिकम्**

**फलं त्विति। यं पुरुषार्थमुद्दिश्य धर्माद्युत्पन्नं तदेव वासनानामपि फलम्, कर्मवासनयोरन्योन्यसहकारित्वादित्यर्थः। ननु फलेन कथं कारणस्य नियमरूपः संग्रहः, कथं वा फलाभावे कारणाभावः, फलाभावकालेऽपि कारणस्य सत्त्वादित्याशङ्कायामाह—न ह्यपूर्वोपजन इति। अपूर्वस्य सत उपजनो जन्म हि नास्तीत्यर्थः। तथा सत्कार्यस्वीकारेणानागतावस्थफलेन व्याप्तो वर्त्तमानहेतुर्भवत्येवेति भावः।**

वार्त्तिककार सूत्र के 'फल' पद के प्रतिपादक भाष्य को उठाते हैं—'फलमिति।' जिस पुरुषार्थ को उद्देश्य करके धर्मादि उत्पन्न होते हैं, वे धर्मादि ही वासनाओं के भी 'फल' होते हैं, क्योंकि कर्म और वासना एक-दूसरे के सहकारी होते हैं।

**शङ्का**—'धर्मादि' रूप 'फल' से कैसे वासनारूप कारण का नियमतः ग्रहण होता है? अथवा धर्मादिरूप फलाभाव से कैसे वासनारूप कारण का अभाव होता है, क्योंकि फलाभावकाल में भी कारण की सत्ता देखी जाती है?

**समाधान**—ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं—'न ह्यपूर्वोपजन इति।' 'अपूर्व' अर्थात् सत् पदार्थ का 'उपजन' अर्थात् जन्म (उत्पत्ति) नहीं होता है। भाव यह है कि सत्कार्यवाद के अनुसार वर्तमान हेतु अर्थात् वर्तमान लक्षणपरिणाम अनागतावस्थफल से व्याप्त होता है। शब्दान्तर में अनागतावस्थ अव्यक्त फल को ही क्रिया द्वारा वर्तमानरूप व्यक्तता प्रदान की जाती है। अर्थात् पहले से सत् कार्य को क्रिया द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।

सम्प्रति, सूत्र के 'आश्रय' पद का विश्लेषण किया जा रहा है—

**योगवार्त्तिकम्**

**आश्रयमाह—मनस्त्विति। साधिकारं पुरुषार्थवत्। अत्र प्रलये वासनासत्त्वस्या[1]नुच्छेदेन वासनाऽऽश्रयमनसो नित्यत्वमभिप्रेत्य साधिकारमिति विशेषणम्, अन्यथाऽधिकारसमाप्तौ मन एव न तिष्ठतीति विशेषणं व्यर्थमिति।**

भाष्यकार वासना के 'आश्रय' को बतलाते हैं—'मनस्त्विति।' यहाँ 'साधिकार' शब्द का अर्थ पुरुषार्थवत् है। अर्थात् भोगापवर्गयुक्त चित्त वासना का 'आश्रय' होता है (समाप्ताधिकार मन में वासना नहीं रहती है)। प्रलयावस्था में वासना का उच्छेद

---

1. क ख ग घ—अनुरोधेन, च छ—अनुच्छेदेन।

न होने से वासना के आश्रयभूत मन की नित्यता (भोगापवर्गरूप अधिकार की समाप्तिपर्यन्त स्थिति) बतलाने के लिये 'साधिकार' पद 'मन' का विशेषण है। अन्यथा 'अधिकार की समाप्ति होने पर मन नहीं रहता है'—मन का यह विशेषण व्यर्थ हो जायेगा।

सम्प्रति, सूत्र के 'आलम्बन' पद का विश्लेषण किया जा रहा है—

### योगवार्त्तिकम्

**आलम्बनमाह—यदभिमुखमिति। मोक्षकाले कामिनीरूपादीनां रागवासनाव्यञ्जकानां सत्त्वेऽप्यालम्बनाभावोपपादनायाभिमुखमिति विशेषणम्। तथा च सन्निकृष्टं वासनाव्यञ्जकमत्रालम्बनमित्यर्थः। हेत्वादीन् व्याख्याय सूत्रवाक्यार्थमाह—एवमिति। संगृहीताः व्याप्ताः, अत एषामभावेऽत्यन्तोच्छेदे विदेहमुक्तिसमये तदाश्रयाणां तन्नियतानां वासनानामत्यन्तोच्छेद इत्यर्थः। तथा च वासनानामनादित्वेऽपि मोक्षः संभवतीत्याशयः॥११॥**

भाष्यकार वासना के 'आलम्बन' को बतलाते हैं—'यदभिमुखमिति।' मोक्षकाल में रागात्मक वासना के अभिव्यञ्जक कामिनीरूपादि की सत्ता बनी रहने पर भी उस काल में आलम्बनाभाव को उपपन्न (सिद्ध) करने के लिये 'अभिमुख' यह विशेषण पद दिया गया है। इससे यह बतलाया गया है कि सन्निकृष्ट वासनाव्यञ्जक को ही प्रकृत में 'आलम्बन' शब्द से कहा गया है। अर्थात् 'आलम्बन' के सन्निकृष्ट रहने पर ही वासना उद्दीप्त होती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार 'हेत्वादि' पदों की व्याख्या करके भाष्यकार सूत्रवाक्य का अर्थ करते हैं—'एवमिति।' 'संगृहीत' शब्द का अर्थ 'व्याप्त' है अर्थात् हेत्वादि से सभी वासनाएँ परिव्याप्त रहती हैं। अतः विदेहमुक्ति के समय इन समस्त हेत्वादियों का 'अभाव' अर्थात् आत्यन्तिक उच्छेद (नाश) होने पर हेत्वादियों के आश्रयभूत (आधारभूत) अर्थात् हेत्वादियों के आश्रय में तत्पर्यन्त नियत रहने वाली वासनाओं का भी सर्वथा नाश (आत्यन्तिक लय) हो जाता है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि वासना के अनादि (तथा असंख्य) होने पर भी मोक्ष सम्भव है॥११॥

प्रश्नपरक वैयासिकी अवतरणिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

### व्यासभाष्यम्

**[1]नास्त्यसतः संभवः, न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन संभवन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासना इति—**

---

1. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ व भ म य र—नास्त्यसतः संभवः न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन संभवन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासना इति ४/१२ सूत्रस्य अवतरणिका, ग—नास्त्यसतः...इति ४/११ सूत्रस्य टीका।

शङ्का—'असत्' पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है और 'सत्' पदार्थ का नाश नहीं होता है—इस स्थिति में द्रव्यरूप से सर्वदा विद्यमान वासनाएँ कैसे नष्ट होंगी?—

समाधान—उक्त शंका के समाधानार्थ सूत्र की अवतारणा की जा रही है—

**योगसूत्रम्**

**अतीतानागतं [1]स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदा[2]द्धर्माणाम्॥१२॥**

धर्मों में काल का भेद होने से अतीत और अनागत वस्तु भी अपने रूप से सर्वदा विद्यमान रहती है॥१२॥

**व्यासभाष्यम्**

भविष्यद्व्यक्तिकमनागतम्, [3]अनुभूतव्यक्तिकमतीतम्, स्वव्यापारोपारूढं वर्तमानम्। त्रयं चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत् स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुत्पत्स्यत, तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽ[4]स्तीति। किञ्च भोगभागीयस्य वापवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशला[5]नुष्ठानं न [6]युज्यते। सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वो[7]पजनेन। सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषा[8]नुग्रहं कुरुते, नापूर्वमुत्पादयतीति। धर्मी चानेकधर्मस्वभावः। तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः। न च यथा वर्तमानं व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येवमतीतम[9]नागतं च। [10]कथं तर्हि? स्वेनैव [11]व्यङ्ग्येन स्वरूपेणा[12]नागतमस्ति, स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीत-

---

1. रूपतः—पाठान्तरम्।
2. तद्धर्माणाम्—इति पाठान्तरम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—अनुभूत०, ब—भूत०।
4. क ख ग घ च छ ज न थ द ध न प फ ब भ म य र—अस्तीति, झ—नास्तीति।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—अनुष्ठानं, ब—अनुशानम्।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—युज्येत, म—युज्यते।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—उपजनने, म—उपजनेन।
8. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—अनुग्रहं, ख घ प फ य र—अनुग्रहणम्।
9. क ख ग घ च छ ज झ त द घ न प फ ब भ म य र—अनागतं च, थ—अनागतं च न।
10. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—कथं, ब—किम्।
11. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—व्यङ्ग्येन, छ थ—भविष्यत् व्यङ्ग्येन।
12. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—अनागतं, झ—आगतम्।

**मिति, वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति, न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनोः। एकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मि[1]समन्वागतौ भवत एवेति, नाभूत्वा भावस्त्रयाणामध्वनामिति॥१२॥**

जिसकी अभिव्यक्ति आगे होने वाली है, वह पदार्थ 'अनागत' कहा जाता है। जिस वस्तु की अभिव्यक्ति पहले हो चुकी है, वह पदार्थ 'अतीत' कहलाता है। अभिव्यक्त होकर जो अपना कार्य करने में संलग्न रहता है, उसे 'वर्तमान' कहते हैं। ये तीनों अतीतादि पदार्थ ज्ञान के विषय बनते हैं। यदि ये पदार्थ स्वरूपतः न होते तो योगी को यह निर्विषयक प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न न होता (किन्तु योगी को ज्ञान होता है)। इससे यह सिद्ध होता है कि अतीत और अनागत पदार्थ स्वरूपतः सत् हैं। दूसरी बात यह है कि स्वर्गादि भोग के साधन अथवा मोक्ष के साधनभूत कर्म से उत्पन्न होने वाला फल यदि असत् हो, तब तो उसके उद्देश्य से अर्थात् उसके निमित्त से किया गया उचित शुभानुष्ठान युक्तिसंगत न होता। वस्तुतः (अव्यक्त रूप से कारण में) विद्यमान फल (कार्य) को वर्तमान (रूप से अभिव्यक्त) करने में (धर्मादि) साधन समर्थ होता है, न कि किसी असत् (अपूर्व) वस्तु की उत्पत्ति करने में। वर्तमान अवस्था वाला निमित्त ही फल (कार्य) को विशेष रूप से अभिव्यक्त करता है, असत् को उत्पन्न नहीं करता है। धर्मी अनेक धर्म के स्वभाव से युक्त होता है। उस (एक ही) धर्मी के (अतीतादि अनेक) धर्म कालभेद से उसमें अवस्थित रहते हैं। जिस प्रकार वर्तमान पदार्थ विशेषरूप से अभिव्यक्त होकर द्रव्य (धर्मी) में रहता है, उसी प्रकार अतीत और अनागत अभिव्यक्त होकर नहीं रहते। तो फिर (धर्मी में अतीत और अनागत धर्म) किस प्रकार रहते हैं? भविष्य में व्यक्त होने की क्षमता से युक्त होकर ही अनागत धर्म-धर्मी में रहता है और अतीत धर्म अनुभूत हो चुकी अभिव्यक्ति वाला होकर अपने रूप में रहता है। केवल वर्तमानकाल की ही स्वरूपतः अभिव्यक्ति होती है। अतीत और अनागत काल की स्वरूपतः अभिव्यक्ति नहीं होती है। एक अध्वा के काल में अन्य दो अध्वा धर्मी में समन्वित ही रहते हैं। इसलिये तीनों कालों वाले धर्मों की उपस्थिति पहले स्थित हुए विना नहीं होती, ऐसा सिद्धान्त है॥१२॥

---

1. छ थ—न (समन्वागतौ—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—न नोपलभ्यते।

**तत्त्ववैशारदी**

[1]उत्तरं सूत्रमवतारयितुं शङ्कते—नास्तीति। असत इति [2]तु संपातायातं निदर्शनाय वा। अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्। नासतामुत्पादो न सतां विनाशः। किं तु सतामेव धर्माणामध्वभेदपरिणाम एवोदयव्ययाविति सूत्रार्थः। अनुभूता प्राप्ता येन व्यक्तिस्तत् तथा, संप्रति व्यक्तिर्नास्तीति यावत्। इतश्च त्रैकाल्येऽपि धर्मः सन्नित्याह—यदि चेति। न ह्यसज् ज्ञानविषयः संभवतीति निरुपाख्यत्वात्। विषयावभासं हि विज्ञानं नासति विषये भवति। त्रैकाल्यविषयं च विज्ञानं योगिनामस्मदादीनां च विज्ञानमसति विषये नोत्पन्नं स्यात्। उत्पद्यते च। तस्मादतीतानागते सामान्यरूपेण समनुगते स्त इति। एवमनुभवतो ज्ञानं विषयसत्त्वे हेतुरुक्तम्।

उत्तर सूत्र को अवतरित करने के लिये भाष्यकार शंका करते हैं—'नास्तीति।' तत्त्ववैशारदीकार का वक्तव्य है कि भाष्य की 'असत इति' यह पंक्ति प्रसंगतः उत्थित है अथवा उदाहरण के लिये प्रस्तुत की गई है। सूत्र है—'अतीतेति।' 'असत्' पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है और 'सत्' पदार्थ का विनाश नहीं होता है, किन्तु 'सत्' रूप धर्मों का ही अनागतादि अध्वभेदरूप परिणाम होता है। यही उनका उदय और अस्त (नष्ट) होना है—ऐसा सूत्रार्थ है। तत्त्ववैशारदीकार 'अनुभूतव्यक्तिकमतीतम्' का प्रतिपादन करते हैं—'अनुभूता प्राप्ता येन व्यक्तिस्ततथा, सम्प्रति व्यक्तिर्नास्तीति यावत्' अर्थात् जिस परिणाम से धर्म अभिव्यक्तता को प्राप्त कर चुका है, उसे 'अनुभूत व्यक्ति' कहते हैं। अर्थात् जिस धर्म की सम्प्रति अभिव्यक्तता नहीं है, उसे 'अतीतव्यक्ति' कहते हैं। इससे तीनों कालों में भी पदार्थ 'सत्' है अर्थात् विद्यमान रहता है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—'यदि चेति।' 'असत्' पदार्थ अभावरूप (निरुपाख्य) होने से ज्ञान का विषय नहीं बनता है। विषयबोध (विषय का प्रकाश) रूप विज्ञान 'असत्' पदार्थ-विषयक नहीं हो सकता है। योगियों का त्रैकालिक पदार्थविषयक ज्ञान (प्रत्यक्ष) और साधारणजन का वर्तमान विषयज्ञान, पदार्थ के न होने पर, उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु ज्ञान उत्पन्न होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमानकालिक पदार्थविशेष के साथ अनागत और अतीतकालिक दोनों प्रकार के पदार्थ सामान्य-रूप से 'समनुगत' अर्थात् सम्बद्ध रहते हैं। इस प्रकार अनुभाविता (अनुभव करने वाले) के 'विषयज्ञान' को पदार्थ के अस्तित्व (सत्ता) को सिद्ध करने में 'हेतु' कहा गया है।

सम्प्रति, अतीत और अनागत पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार करने के लिये दूसरा हेतु उपन्यस्त किया जा रहा है—

---

1. क ख ग थ द ध—उत्तरसूत्रम्, घ च छ ज झ त न—उत्तरं सूत्रम्।
2. क ख घ च छ ज झ त न—तु उपलभ्यते, ग थ द ध—तु नोपलभ्यते।

### तत्त्ववैशारदी

**उद्देश्यत्वादप्यनागतस्य विषयत्वेन सत्त्वमेवेत्याह—किं च भोगभागीयस्येति। कुशलो निपुणः।**

सोद्देश्यक होने से भी अनागत अध्वा की विषयत्वरूप से सत्ता ही है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—'किञ्च भोगभागीयस्येति' (तात्पर्य यह है कि स्वर्गादि भोग अथवा अपवर्गभागीय मोक्ष की प्राप्ति के लिये शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान करने पर भी यदि फल 'असत्' होने से प्राप्त होने वाला नहीं है, तो कर्मानुष्ठान निष्प्रयोजन हो जायेगा। बुद्धिमान् की शुभ कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। अतः कर्मानुष्ठान का उद्देश्य अनागतकालीन स्वर्गादि को 'सत्' मानकर ही परिपूर्ण किया जा सकता है)। यहाँ 'कुशल' शब्द का अर्थ है—'निपुण'।

यदि कारण में कार्य पहले से ही विद्यमान रहता है, तो फिर मृत्तिका से घट-निर्माण के लिये कुम्भकार का प्रयत्न निरर्थक कहा जायेगा? इस प्रश्न की दृष्टि से तत्त्ववैशारदीकार आगे विचार करते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

**अनुष्ठेयेऽपि च यद्यन्निमित्तं तत्सर्वं नैमित्तिके सत्येव विशेषमाधत्ते। यथा काण्डलाव-वेदाध्यायादयः। न खल्वेते काण्डलावादयोऽसन्तमुत्पादयन्ति। सत एव तु तत्प्राप्तिविकारौ कुर्वन्ति। एवं कुलालादयोऽपि सत एव घटस्य वर्तमानीभावहेतव इत्याह—सतश्चेति।**

'अनुष्ठेय' में भी जो-जो 'निमित्त' अपेक्षित रहते हैं, वे सब 'नैमित्तिक' में पहले से विद्यमान रहने पर ही 'विशेष' का आधान करते हैं, जैसे काण्डलाव, वेदाध्यायादि। ये काण्डलाव आदि 'असत्' पदार्थ को उत्पन्न नहीं करते हैं, अपितु 'सत्' पदार्थ की ही प्राप्ति और विकार के कारण बनते हैं। (तात्पर्य यह है कि 'काण्ड' अर्थात् लकड़ी रूप 'निमित्त' 'लवन' अर्थात् 'छेदनरूप' नैमित्तिक' कार्य में 'विकार' रूप 'विशेषता' का आधान करता है। इसी प्रकार 'वेद' रूप 'निमित्त' 'अध्ययन' रूप 'नैमित्तिक' कार्य में 'प्राप्ति' रूप विशेषता का आधान करता है)। इसी प्रकार कुलालादि निमित्त भी (मृत्तिका में) पहले से ही विद्यमान घट की अभिव्यक्तिरूप वर्तमानता के हेतु कहे जाते हैं। वे किसी असद् वस्तु के वर्तमानीकरण के कारण नहीं होते हैं—इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं—'सतश्चेति।' अर्थात् उपादानकारणभूत मृत्तिका में अव्यक्त-रूप से सत् घटादि फल (कार्य) को वर्तमान अवस्था में लाने में दण्डादि निमित्त समर्थ होते हैं। ये निमित्तकारण में आत्यन्तिक रूप से असत् पदार्थ के वर्तमानीभाव में सक्षम नहीं होते हैं, अन्यथा शशशृङ्गादि की उत्पत्ति का असम्भाव्य प्रसङ्ग आयेगा।

'धर्म-धर्मी' के 'अभेद' पक्ष को दृष्टि में रखते हुए तत्त्ववैशारदीकार उपरिनिर्दिष्ट सिद्धान्त को ही परिपुष्ट करते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

**यदि तु वर्तमानत्वाभावादतीतानागतयोरसत्त्वं हन्त भो वर्तमानस्याप्यभावोऽतीतानागतत्वाभावात्, [1]अध्वधर्म्यविशिष्टतया तु सत्त्वं त्रयाणामप्यविशिष्टमित्यभिप्रायेणाह—धर्मी चेति। प्रत्येकमवस्थानं प्रत्यवस्थितिरिति। द्रव्यत इति द्रव्ये धर्मिणि। सार्वविभक्तिकस्तसिः। यद्यतीता- नागतावतीता[2]नागतत्वेन स्तस्तर्हि वर्तमानसमये तत्त्वाभावान्न स्यातामित्यत आह—एकस्य चेति। प्रकृतमुपसंहरति—इति नाभूत्वा भाव इति॥१२॥**

यदि वर्तमानत्वाभाव के कारण अतीत और अनागत अध्वाओं की असत्ता प्रतिपादित की जाय, तब तो अतीतत्वाभाव तथा अनागतत्वाभाव के कारण 'वर्तमान' अध्वा का भी अभाव मानना पड़ेगा। (किन्तु 'वर्तमान' अध्वा को न मानने पर प्रत्यक्ष का अपलाप करना पड़ेगा। इससे यह सिद्धान्तित होता है कि) धर्म-धर्मी का अभेद होने से अनागतादि तीनों अध्वाओं के 'सत्' होने में भी समानता है, इसी अभिप्राय से भाष्यकार बतलाते हैं—'**धर्मी चेति**' वह घटादि धर्मी अनागतादि अनेक धर्म स्वभाव वाला है। उसमें अनागतादि सभी धर्म कालभेद से अवस्थित रहते हैं। भाष्य के '**प्रत्यवस्थिताः**' पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं— '**प्रत्येकमवस्थानं प्रत्यवस्थितिः**।' अर्थात् धर्मी में अनागतादि प्रत्येक धर्म की अवस्थिति होती है। '**द्रव्यत इति**' '**द्रव्यतः**' पद का अर्थ है—धर्मीभूत द्रव्य में। इसमें सार्वविभक्तिक '**तसिल्**' प्रत्यय है। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ यह है—जैसे धर्मीभूत द्रव्य में वर्तमान धर्म की अभिव्यक्ति होती है, वैसे अनागतादि धर्मों की नहीं।

**शङ्का**—यदि अतीत और अनागत दोनों अतीतत्व और अनागतत्व रूप से ही रहें, तो वर्तमान समय में उनका तात्त्विक अभाव होने से उन्हें 'असत्' ही माना जाय?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**एकस्य चेति**' एक अध्व के वर्तमान काल में अन्य दो अध्व 'धर्मी' में अनुगत ही रहते हैं। भाष्यकार प्रकृत विषय का उपसंहार करते हैं—'**इति नाभूत्वा भाव इति**' अतः तीनों अध्वाओं का पूर्व न होकर उत्पन्न होना नहीं है, यह सिद्ध होता है॥१२॥

**बालप्रिया—**

**वर्तमानस्यैवाऽध्वनः**'—भाष्य के इस पद में षष्ठी विभक्ति सप्तमी के अर्थ में है। इसका अर्थ है—वर्तमानकाल में॥१२॥

---

1. क ख ग ज थ द ध न—**अध्वधर्म्यविशिष्टतया**, घ च छ झ त—**अध्वविशिष्टतया**।
2. क ख ग घ थ द ध न—**अनागतत्वेन**, घ च छ ज झ त—**अनागतत्वे न**।

## योगवार्त्तिकम्

सत्कार्याभ्युपगमाद् वासनानामत्यन्तोच्छेदो न संभवतीति शङ्कयोत्तरसूत्रमवतारयति—नास्तीति। द्रव्यत्वेन संभवन्त्यः वस्तुत्वेन तिष्ठन्त्यः। अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्। भवेदप्ययं दोषो यदि स्वरूपापायो वासनानामस्माभिरु[1]च्यते, ( [2]न त्वेतदस्ति ) किन्त्वत्यन्तातीततामात्रं यतोऽतीतानागतं वस्तु स्वरूपतोऽस्ति। नन्वेकदा विरुध्यमानानां धर्माणां कथमेकत्र सत्ता घटेत? तत्राह—अध्वभेदाद्धर्माणामिति। भिन्नाध्वकत्वादविरोध इत्यर्थः। वर्त्तमानलक्षणानामेव धर्माणाम् एकदा विरोध इति भावः। अतीतानागतयोः स्वरूपानपाये प्रमाणं दर्शयति भाष्यकारः—भविष्यदिति। भविष्यन्ती व्यक्तिरभिव्यक्तिर्यस्य तत्तथा। त्रयमिति। त्रयमप्येतद्वस्तु स्वरूपसत्, यतो योगिनां प्रत्यक्षज्ञानस्य ज्ञेयं विषयः। अत्र तर्कमाह—यदि चेति। नेदमिति। शशशृङ्गादीनां ज्ञाना[3]दर्शनादिति भावः। तथा चोक्तं ब्रह्ममीमांसासूत्रेण—नाभाव उपलब्धेः इति। ननु शुक्तिरजतादिवद् बुद्धिपरिणामविशेष एव योगजधर्मादिजन्योऽतीतादिस्थले साक्षिज्ञानविषयोऽस्त्विति चेत्? [4]न योगिना पूर्वानुभूतातीतादेः कालान्तरेऽपि प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, बाधकाभावेऽपि वस्तूनां बुद्धिमात्रत्वे वर्त्तमानावस्थवस्तूनामपि बुद्धिमात्रताप्रसङ्गाच्च। न चानुपलम्भो बाधकः, योगिप्रत्यक्षसिद्धस्य सौक्ष्म्येणानुपलम्भोपपत्तेः। तथा च सांख्यसूत्रम् सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः इति। नन्वतीताद्यवस्थायां नास्तीतिप्रत्ययो बाधक इति? मैवम्—योगिप्रत्यक्षेण लौकिकप्रत्यक्षस्य बाधनात्, इदानीं घटोऽतीत इत्यादिप्रतीतिबलाद् नास्तीतिप्रत्ययस्यातीतताऽऽदिविषयकत्वाच्चेति।

शङ्का—सत्कार्यवाद को अङ्गीकार करने से वासनाओं का आत्यन्तिक उच्छेद (सर्वथा नाश) होना सम्भव नहीं है? इस शंका की दृष्टि से भाष्यकार अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं—'नास्तीति।' 'द्रव्यत्व' अर्थात् वस्तुत्वरूप से अवस्थित (सम्भव) रहने वाली वासना कैसे निवृत्त होगी?

समाधान—सूत्रकार शंका का समाधान करते हैं—'अतीतेति।' यह दोष तभी सम्भव हो सकता था, यदि हम वासनाओं का स्वरूपतः उच्छेद कहते, पर ऐसा तो है नहीं। यहाँ वासनाओं की अत्यन्तातीतता को ही बतलाया जा रहा है। अर्थात् हम तो वासनाओं की केवल अत्यन्त अतीतावस्था को ही मोक्ष का हेतु कह रहे हैं। इससे सत्कार्यवाद व्याहत नहीं होता है, क्योंकि अतीतावस्थाक और अनागतावस्थाक वस्तु स्वरूपतः विद्यमान रहती है।

---

1. क ग छ—उच्यते, ख घ च—उच्येत।
2. छ—न त्वेतदस्ति—उपलभ्यते, क ख ग घ च—न त्वेतदस्ति नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ—अदर्शनात्, ख—दर्शनात्।
4. क ख ग घ च—न उपलभ्यते, छ—न नोपलभ्यते।

**शङ्का**—अतीतता, अनागतता और वर्तमानता रूप विरुद्ध धर्मों की एक ही समय एक धर्मी में सत्ता (विद्यमानता) कैसे सिद्ध हो सकती है?

**समाधान**—इस पर सूत्र का उत्तरार्ध कहा जा रहा है—'**अध्वभेदाद्धर्माणामिति।**' अतीत-तादि धर्मों का काल (अध्व) भिन्न-भिन्न होने से एक धर्मी में विरुद्ध धर्मों के रहने में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है। भाव यह है कि वर्तमान लक्षण वाले विभिन्न धर्मों का ही एक धर्मी में एक साथ उपलब्ध होना विरोधपूर्ण रहता है। भाष्यकार (धर्मनिष्ठ) अतीतलक्षण और अनागतलक्षण के स्वरूपतः सद्भाव में अर्थात् उन के स्वरूप का त्याग न होने में प्रमाण को प्रदर्शित करते हैं—'**भविष्यदिति।**' '**भविष्यन्ती व्यक्तिरभिव्यक्तिर्यस्य तत्तथा भविष्यद्व्यक्तिकम्**'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस (धर्मरूप कार्य) की अभिव्यक्ति आगे होने वाली है उस 'भविष्यद्-व्यक्तिक परिणाम को '**अनागत**' कहते हैं। इसी प्रकार अनुभूतव्यक्तिक परिणाम को '**अतीत**' तथा स्वव्यापारारूढ परिणाम को '**वर्तमान**' कहते हैं। वार्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'**त्रयमिति।**' ये तीनों प्रकार के अनागतादि परिणाम स्वरूपतः सत् हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक अनागतादिव्यक्ति योगियों के प्रत्यक्षज्ञान का विषय (ज्ञेय) होता है। भाष्यकार अनागतादि व्यक्ति के '**स्वरूपसत्**' होने में युक्ति देते हैं—'**यदि चेति।**' '**नेदमिति।**' यदि ये अनागतादिव्यक्ति स्वरूपसत् न होते तो विषयशून्य उनका ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता था, क्योंकि (अतात्त्विक अर्थात् अलीक) शशशृङ्गादि का प्रत्यक्षज्ञान देखने में नहीं आता है। यही तथ्य वेदान्तसूत्र द्वारा उक्त है—'**नाभाव उपलब्धेः**' (२/२/२८)। सूत्र का अर्थ है—'बाह्य पदार्थ का अभाव नहीं है, क्योंकि वस्तु की उपलब्धि होती है।'

**शङ्का**—जैसे शुक्ति में होने वाला रजत-ज्ञान (रजत-भ्रम) बुद्धि का परिणामविशेष ही होता है। अर्थात् शुक्ति में तात्त्विकरूप से रजत की सत्ता न होते हुए भी जैसे भ्रमज्ञान होता है वैसे ही अतीतादि व्यक्ति के प्रसङ्ग में अतीतादि व्यक्ति को योगजधर्मादि से जन्य साक्षिज्ञान का विषय माना जाय? अर्थात् अतीतादि व्यक्ति योगजधर्मादि से जन्य बुद्धि का परिणामविशेष ही रहे?

**समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि योगीं को पूर्वानुभूत (पहले प्रत्यक्ष हुए) अतीतादि व्यक्ति की कालान्तर में प्रत्यभिज्ञा भी होती है। दूसरा हेतु यह है कि किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न होने पर भी अतीतादि व्यक्तियों को यदि बुद्धिमात्र (बुद्धि का परिणामविशेष) ही माना जाय तो वर्तमानावस्थ वस्तु (वर्तमानव्यक्ति) को भी अतीतादि व्यक्तियों की भाँति बुद्धि का परिणामविशेष कहने का प्रसंग आयेगा और इस प्रकार समस्त वस्तुएँ असद्रूप हो जायेंगी।

**शङ्का**—अतीतादि पदार्थ की अनुपलब्धि ही अतीतादि पदार्थ के सिद्ध होने में बाधास्वरूप है?

**समाधान**—ऐसा कहना ठीक नहीं है कि अनुपलब्धि ही अतीतादि व्यक्ति की सिद्धि में बाधक है, क्योंकि योगी द्वारा प्रत्यक्षसिद्ध अतीतादि पदार्थ का सूक्ष्मता के कारण साधारणजन को प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। जैसा कि सांख्यसूत्र है—'**सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः**' (१/१०/९) अर्थात् 'सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति तत्त्व का प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता है।'

**शङ्का**—पदार्थ की अतीतादि अवस्था में होने वाला '**नास्ति**' ऐसा ज्ञान (ही) अतीतादि अवस्था वाले पदार्थ की सत्ता का बाधक होता है। अतः अतीतादि व्यक्ति को असद्रूप मानना चाहिये।

**समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि योगी के अलौकिक प्रत्यक्ष से लौकिक प्रत्यक्ष का बाध नहीं होता है तथा '**इदानीं घटोऽतीतः**' अर्थात् 'इस समय घट अतीतावस्थाक है'—इस प्रतीति (ज्ञान) के बल से '**नास्ति**' यह ज्ञान अतीतादिविषयक ही होता है। अतः अतीतादि व्यक्ति शशशृंग की भाँति अलीक नहीं है।

सम्प्रति, अतीतादि व्यक्ति की सत्ता को सिद्ध करने में हेत्वन्तर पर प्रकाश डाला जा रहा है—

**योगवार्त्तिकम्**

**अतीतानागतसत्त्वस्वीकारे बीजान्तरमाह—किं चेति। भोगभागीयस्य भोगसाधनस्य, निरुपाख्यम[1]सत्। [2]तदुद्देशेनेत्यस्य विवरणम्—तेन निमित्तेनेति। कुशलो निपुणः। कुशलो योगी अनागतं साक्षात्कृत्य तद्वर्त्तमानत्वाय यतते, यथाऽर्जुनः कृष्णशरीरे कालात्मके भीष्मादिप्रवेशं भाविनं दृष्ट्वा युद्धे [3]प्रवृत्त इति। नन्वेवं कारणव्यापारो विफलः, कार्यस्य नित्यत्वादित्याशङ्कां परिहरन्नेव परमते दूषणान्तरमाह—सतश्चेति। तथा चाव्यक्तावस्थया सतो वर्तमानतायां कारणव्यापारसाफल्यम्। दृष्टं च कारणव्यापारेण सदेवाभिव्यज्यत इति। यथा पाषाणेषु सतामेव [4]प्रतिमापट्टादीनां [5]लौकिकव्यापारेणाभिव्यक्तिमात्रमिति। तदुक्तं वासिष्ठे—**

---

1. क ख ग च छ—असत्, ङ—अलम्।
2. क ख ग च ङ—सत्, घ—सत्तत्।
3. ख—एतेन सत्कार्यव्यवस्थापनस्य फलं मोक्षाद्यर्थिकुशलं प्रवृत्त्युपपत्तिरित्यप्यायातम् (प्रवृत्त इति—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ —एतेन...आयातं नोपलभ्यते।
4. क ग छ—प्रतिमादीनां, ख घ—प्रतिमापट्टादीनां, च—प्रतिमापद्मादीनाम्।
5. क ग च छ—लौकिक०, ख घ—लैंगिक०।

सुषुप्तावस्था चक्रपद्मरेखा शिलोदरे।
यथा स्थिता चितेरन्तस्तथेयं जगदावली॥ इति।

चैतन्ये च जगदावली प्रकृतिपुरुषयोस्तप्तायःपिण्डवदविवेकेन प्रकृतिद्वारोपासनार्था श्रुतिस्मृत्योरुच्यते सर्वकर्तृत्वसत्यसंकल्पत्वादिवत्। अथ वा गगने वायोरिवाधारत्वमसङ्गेऽनेनैव चैतन्ये जगत उच्यत इति। ननु तथाऽपि कारणमित्यत्वेनातीताद्यवस्थादपि कारणात्सदैव कार्याभिव्यक्तिः स्यात्? तत्राह—सिद्धमिति। सिद्धं वर्तमानमेव निमित्तमित्यादिरर्थः। सतः कार्यस्योत्पत्तौ कारणवैफल्यशङ्कानिरासायोक्तं विशेषानुग्रहणमिति। परमतं निषेधति—नापूर्वेति। अतो नापूर्वामुत्पादयतीत्यर्थः। अपूर्वोत्पादने च शशशृङ्गाद्यपि कारणव्यापाराद्रुत्पद्येत, उत्पत्तेः प्राक् शशशृङ्गादिभ्यो घटादीनां वैलक्षण्याभावादिति। अधिकं तु प्रागुक्तम्।

भाष्यकार अतीतव्यक्ति और अनागतव्यक्ति की सत्ता को स्वीकार करने में अन्य हेतु (बीज) बतलाते हैं—'किं चेति।' 'भोगभागीय' शब्द का अर्थ 'भोगसाधन' है तथा 'निरुपाख्य' शब्द का अर्थ 'असत्' है। भाष्य के 'तदुद्देशेन' पद का विवरण है—'तेन निमित्तेनेति।' 'कुशल' शब्द का अर्थ 'निपुण' है। कुशल योगी अनागत पदार्थ का साक्षात्कार करके उसको वर्तमान अवस्था में लाने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार अर्जुन ने कालस्वरूप कृष्णशरीर में भविष्यमाण भीष्मादि का प्रवेश देखकर युद्ध में पदार्पण किया।

शङ्का—तब तो कार्य के नित्य होने से कारणव्यापार व्यर्थ हो जायेगा?

समाधान—उपरिनिर्दिष्ट शंका का परिहार करते हुए ही भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत में अन्य दोष की उद्भावना करते हैं—'सतश्चेति।' अव्यक्तावस्था के रूप में 'सत्' वस्तु (फल, कार्य) को वर्तमानता प्रदान करने में अर्थात् उसे व्यक्तावस्था में लाने में ही कारणव्यापार की सार्थकता है। और यह अनुभवसिद्ध भी है कि कारणव्यापार द्वारा 'सत्' वस्तु ही अभिव्यक्त होती है। उदाहरणार्थ पाषाणों में पूर्वतः विद्यमान प्रतिमाओं की ही लौकिक व्यापार द्वारा (मूर्तिकार की छैनी आदि द्वारा) अभिव्यक्तिमात्र होती है। जैसा कि योगवासिष्ठ में कहा गया है—'सुषुप्तावस्थया... जगदावली' अर्थात् चितिशक्ति के अन्दर यह जगदावली (सृष्टि) उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार शिला के मध्यभाग में चक्र, पद्मादि की रेखा सूक्ष्मरूप से स्थित (अङ्कित) रहती है।' प्रकृति-पुरुष में तप्तलोहपिण्ड की भाँति विवेकाग्रह होने से (दोनों तत्त्वों में पार्थक्य-प्रतीति न होने से) श्रुतिस्मृतिशास्त्रों में चैतन्य स्वरूप पुरुष में जगदावली (जगत् की स्थिति) प्रकृति द्वारा उपासनार्थ उसी प्रकार कही गई है जिस प्रकार पुरुष में सर्वकर्तृत्व, सत्यसंकल्पत्वादि धर्मों का व्यवहार किया जाता है। अथवा (चैतन्य में जगदावली की अवधारणा को इस प्रकार भी उपपन्न किया जा सकता है कि)

किया जा सकता है कि) असङ्ग पुरुष में जगत् की स्थिति उसी प्रकार कही जाती है जिस प्रकार आकाश को वायु का आधार माना जाता है।

**शङ्का**—तो फ़िर कारण के नित्य (सत्) होने से अतीताद्यवस्थाक कारण से ही सर्वदा कार्य की अभिव्यक्ति होने लगेगी?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'सिद्धमिति।'** यहाँ **'सिद्ध'** शब्द वर्तमानावस्थ 'निमित्त' ही है। सिद्ध अर्थात् वर्तमान अवस्था वाला जो निमित्त है, वही कार्य के ऊपर विशेष अनुग्रह करता है। **'विशेषानुग्रहण'** पद का प्रयोजन बतलाते हुए वार्त्तिककार आगे कहते हैं कि 'सत्' कार्य की उत्पत्ति में कारणव्यापार की विफलता-सम्बन्धी शंका का निरास करने के लिये भाष्यकार कहते हैं—**'विशेषानुग्रहणमिति।'** भाव यह है कि वर्तमान अवस्था वाला कारण ही अपने विशेषानुग्रह द्वारा अनागत कार्य को वर्तमान अवस्था प्रदान कर सकता है। यह विशेषानुग्राहकत्व शक्ति अतीत कारण में निहित नहीं है। अतः अतीतादि अवस्था वाले कारण से कार्य की सर्वदा अभिव्यक्ति होती रहेगी, यह शंका भी निरस्त हो जाती है। इस विषय में परमत का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं—**'नापूर्वेति।'** सिद्ध निमित्त **'अपूर्व'** अर्थात् 'असत्' कार्य को उत्पन्न नहीं करता है। यदि **'असत्'** वस्तु की उत्पत्ति मानी जाय तो शशशृङ्गादि अलीक पदार्थ भी कारणव्यापार से उत्पन्न होने लगेंगे, क्योंकि शशशृङ्गादि से घटादि में (उत्पत्ति से पूर्व) कोई विलक्षणता तो है नहीं। अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व शशशृंग और घटादि दोनों के असद्रूप होने से घटादि की भाँति शशशृङ्गादि अलीक पदार्थ भी उत्पन्न होने लगेंगे। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि घट की उत्पत्ति की भाँति शशशृङ्ग की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। अतः मानना पडेगा कि कारण-व्यापार से पूर्व भी कार्य कारण में सूक्ष्मतया **'सत्'** है। कार्यगत सूक्ष्मता जिस पदार्थ में नहीं होगी तो उसकी अभिव्यक्ति भी नहीं होगी। **'सत्कार्य'** का सिद्धान्त पीछे विस्तारपूर्वक व्याख्यात हो चुका है।

सूत्र के 'अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्ति' अंश की व्याख्या के पश्चात् **'अध्वभेदात्'** पद का विश्लेषण किया जा रहा है—

**योगवार्त्तिकम्**

**अध्वभेदादिति सूत्रावयवं व्याचष्टे—धर्मी चानेकेति। अतो न विरोध इत्याह—न चेति। अभिव्यक्तिरूपेण विशेषणेनैव धर्माणां विरोधो न स्वरूपत इति वाक्यार्थः। द्रव्यतः स्वक्रिया-कारित्वेन। पृच्छति—कथं तर्हीति। उत्तरम्—स्वेनैवेति। व्यङ्ग्येन भाविव्यक्तिकेन। वर्त्तमान-स्यैवेत्यादिरध्वनोरित्यन्त उपसंहारः। षष्ठी चात्र सप्तम्यर्थे। ननु तथाऽप्येकाध्वसमयेऽप-राध्वाभावादध्वन्येव सत्कार्यहानिरित्याशङ्कायामाह—एकस्य चाध्वन इति। एतच्च एतेन**

**भूतेन्द्रियेष्वित्यादिसूत्रे सम्यगुपपादितमस्माभिरिति। अभूत्वा=अस्थित्वा। त्रयाणामध्वनां लक्षणानामिति॥१२॥**

भाष्यकार सूत्र के **'अध्वभेदात्'** अंश की व्याख्या करते हैं—**'धर्मी चानेकेति'** घटादि धर्मी अतीतादि अनेक धर्मस्वभाव वाला होता है। अतः अतीतादि धर्मों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—**'न चेति'** अतीतादि धर्मों में स्वरूपतः विरोध नहीं है, केवल अभिव्यक्तिरूप विशेष की दृष्टि से ही उनमें विरोध आता है, ऐसा वाक्यार्थ है। भाष्य के **'द्रव्यतः'** पद का अर्थ है—'अर्थक्रियाकारित्व के रूप से'। अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व के रूप से जैसे वर्तमानव्यक्ति (घट) विशेषापन्न होता है, वैसे अतीतव्यक्ति अथवा अनागतव्यक्ति नहीं।

**शङ्का**—पूर्वपक्षी पूछता है—**'कथं तर्हीति'** तो फिर अतीतादि व्यक्ति का किस प्रकार ज्ञान होता है?

**समाधान**—भाष्यकार उत्तर देते हैं—**'स्वेनैवेति'** भाष्यगत **'व्यङ्ग्येन'** पद का अर्थ है—'भाविव्यक्ति के रूप से'। किस प्रकार अनागतादि व्यक्ति अपने-अपने स्वरूप से अभिव्यक्त होते हैं, इस तथ्य को उपसंहृत किया जा रहा है—**'वर्तमानस्यैवेत्यादि-रध्वनोरित्यन्तः'** यहाँ **'वर्तमानस्य'** में षष्ठी विभक्ति सप्तम्यर्थक है।

**शङ्का**—इस प्रकार एक अध्व के वर्तमान समय में अन्य दो अध्वाओं की प्रतीति न मानने पर उनका अभाव होने से सत्कार्यवाद का उच्छेद होगा?

**समाधान**—ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं—**'एकस्य चाध्वन इति'** अनागतादि एक अध्व के वर्तमान समय में अन्य दो अध्व धर्मी में समनुगत रहते हैं—यह सिद्धान्त हमारे द्वारा **'एतेन भूतेन्द्रियेषु'**...(३/१३) सूत्र में पीछे विस्तारपूर्वक उपपादित हो चुका है। भाष्यगत **'अभूत्वा'** पद का अर्थ **'अस्थित्वा'** है। अर्थात् यहाँ अस्थिर (अविद्यमान=असत्) मानकर अनागतादि लक्षणों (अध्वाओं) को प्रतिपादित नहीं किया जा रहा है॥१२॥

वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र प्रस्तुत हो रहा है—

**योगसूत्रम्**

## ते [1]व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः॥१३॥

## व्यक्त और सूक्ष्म वे सब धर्म त्रिगुणात्मक ही होते हैं॥१३॥

**व्यासभाष्यम्**

**ते खल्वमी [2]त्र्यध्वानो धर्मा वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः**

---

1. व्यक्तिः—इति पाठान्तरम्।
2. क ख ग घ च छ त थ द ध न प फ ब भ म य र—त्र्यध्वानः, ज झ—अध्वानः।

[1]षडविशेषरूपाः। सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविशेषमात्रमिति परमार्थतो गुणात्मानः। तथा च शास्त्रानुशासनम्—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टि[2]पथं प्राप्तं तन्[3]मायेव सुतुच्छकम्॥ इति ॥१ ३॥

(पूर्व सूत्र में वर्णित) वे तीन अध्वा वाले धर्म जब वर्तमान काल वाले होते हैं, तब 'व्यक्त' कहे जाते हैं और जब अतीत और अनागत काल वाले होते हैं, तब 'सूक्ष्म' कहे जाते हैं। ये सभी पदार्थ 'अविशेष' रूप से छह प्रकार के हैं। यह सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत् सत्त्व-रजस्-तसम् रूप त्रिगुणों का संयोगविशेषमात्र है। अतः तात्त्विक दृष्टि से सारा जगत् त्रिगुणरूप ही है। ऐसा ही शास्त्रीय वचन भी है—'गुणों का जो परम रूप प्रधान है, वह इन्द्रिय का विषय न होने से दृष्टि-पथ में नहीं आता है। और जो दृष्टिपथ में आता है, वह माया की तरह नश्वर है'॥१ ३॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार प्रश्नपरक अवतरणिका के साथ सूत्र को उठाकर उसकी व्याख्या करते हैं—

**तत्त्ववैशारदी**

स्यादेतत्—अयं तु नानाप्रकारो धर्मिधर्मावस्थापरिणामरूपो विश्वभेदप्रपञ्चो न प्रधानादेकस्माद्भवितुमर्हति, न ह्यविलक्षणात्कारणात्कार्यभेदसंभव इत्यत आह—ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः। ते त्र्यध्वानो धर्मा व्यक्ताश्च सूक्ष्माश्च गुणात्मानो न त्रैगुण्यातिरिक्तमेषामस्ति कारणम्, वैचित्र्यं तु तदाहितानादिक्लेशवासनानुगताद्वैचित्र्यात्। यथोक्तं वायुपुराणे—

वैश्वरूप्यात्प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुतः॥ इति।

व्यक्तानां पृथिव्यादीनामेकादशेन्द्रियाणां च [4]वर्तमानानामतीतानागतत्वं षडविशेषा यथायोगं भवन्ति। संप्रति विश्वस्य नित्यानित्यरूपे विभजन्नित्यरूपमाह—सर्वमिदमिति। इदं=[5]दृश्यमानम्। संनिवेशः संस्थानभेदवान्परिणाम इत्यर्थः। अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः। मायेव न तु माया। सुतुच्छकं विनाशि। यथा हि मायाह्नायैवान्यथा भवत्येवं विकारा अप्याविर्भावतिरोभावधर्माणः प्रतिक्षणमन्यथा। प्रकृतिर्नित्यतया माया[6]विधर्मिणी परमार्थेति॥१ ३॥

---

1. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ र—षडविशेषरूपाः, झ त—षडशेषरूपाः, म य—षडविशेषरूपाः/षडशेषरूपाः नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च ज त द ध न प फ ब भ म य र—पथं, छ थ—पद०, झ—पथ०।
3. क ख ग घ च झ त द ध न प फ ब भ म य र—मायेव, छ ज थ—मायैव।
4. क छ ज—वर्तमान०, ख ग घ च झ त थ द ध न—वर्तमानानाम्।
5. क छ—दृश्यमानः सन्निवेशः, ख ग घ च ज झ त न—दृश्यमानम्। सन्निवेशः थ द ध—इदं दृश्यमानम्। सन्निवेशः।
6. क ख ग घ च छ त न—विधर्मिणी, ज झ थ द ध—विधर्मेण।

**शङ्का**—ठीक है, अतीतादि धर्मों की सत्ता मान ली जाय, किन्तु प्रश्न यह है कि एक ही प्रधान से धर्मी, धर्म और अवस्थापरिणामरूप अनेक प्रकार का यह विचित्र संसार कैसे आविर्भूत हो सकता है? क्योंकि **'अविलक्षण'** अर्थात् एक कारण से **'कार्यभेद'** अर्थात् नाना प्रकार का कार्य नहीं हो सकता है।

**समाधान**—इस पर सूत्रकार बतलाते हैं—**'त इति'** ये तीन अध्व वाले व्यक्त और सूक्ष्म धर्म त्रिगुणात्मक हैं। त्रिगुण से अतिरिक्त उनका और कोई कारण नहीं है। और कार्य की नानारूपता तो त्रिगुणानुबिद्ध अनादि क्लेशवासना के वैचित्र्य के कारण है। जैसा कि वायुपुराण में कहा गया है—**'वैश्वरूप्यात्...अद्भुतः'** अर्थात् 'गुणों के वैश्वरूप्य होने से यह जगत् प्रधान का अद्भुत परिणाम है।' **'व्यक्त'** अर्थात् वर्तमान-परिणामविशिष्ट पृथिवी आदि पञ्च महाभूत तथा एकादशेन्द्रियों का अतीत और अनागतरूप छह **'अविशेष'** ही यथायोग हैं। संसार का **'नित्य'** और **'अनित्य'** दो प्रकार से विभाजन करके अब भाष्यकार उसके नित्यरूप के बारे में बतलाते हैं—**'सर्वमिदमिति'**। **'इदं'** शब्द का अर्थ दृश्यमान जगत् है तथा **'सन्निवेश'** शब्द का अर्थ संस्थान-भेद वाला परिणाम है। इस विषय में आचार्य वार्षगण्य द्वारा प्रणीत षष्टितन्त्रशास्त्र का वचन प्रमाण है। वचन में प्रयुक्त **'मायेव'** पद का अर्थ है—जो माया के समान है, न कि माया ही है। **'सुतुच्छकम्'** पद का अर्थ है—विनाशी। जिस प्रकार माया क्षणभर में ही अन्यथात्व (विकारत्व) को प्राप्त होती है, उसी प्रकार उत्पत्ति और विनाश धर्म वाले विकार भी प्रतिक्षण अन्यथात्व अर्थात् परिणामत्व को प्राप्त होते हैं। माया से विरुद्ध (भिन्न) धर्म वाली **'प्रकृति'** नित्य होने से वास्तविक है॥१३॥

**बालप्रिया**—

**'षडविशेषा यथायोगं भवन्ति'**—पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत पञ्चतन्मात्ररूप हैं और एकादश इन्द्रियाँ अहंकार (मात्ररूप) हैं। इस प्रकार **'षडविशेष'** से पञ्चतन्मात्र और अहंकार इन छह तत्त्वों का संग्रह होता है।

**'षष्टितन्त्रशास्त्रस्य'**—आचार्य वार्षगण्य द्वारा प्रणीत षष्टि (साठ) पदार्थ के प्रतिपादक सांख्यशास्त्र का नाम **'षष्टितन्त्र'** है॥१३॥

### योगवार्त्तिकम्

**तदेवं मोक्षयोग्यं चित्तं तदन्यचित्तानां बन्धप्रकार उक्तस्तस्य च मोक्षानुपपत्तिः [1]परि-**

---

1. क ग घ च छ—परिहृता। इतः परं मोक्षकारणस्य विवेकज्ञानाख्यसम्यग्ज्ञानस्य विषयो लक्षणादिकं चातिविस्तरेण प्रतिपादनीयं विशेषदर्शिन इत्यादिसूत्रत्रयपर्यन्तैः सूत्रैः, ख—परिहृता। तत्प्रसंगेनैव सम्यग्ज्ञानविषयैकदेशस्य सत्कार्यपरीक्षितम्। इतः परं विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय इत्युक्तां तस्य विवेकज्ञानाख्यसम्यग्ज्ञानस्य परे विषया लक्षणादिकं चातिविस्तरेण प्रतिपादनीयं विशेषदर्शन इत्यादिसूत्रपर्यन्तैः।

हृता। इतः परं मोक्षकारणस्य विवेकज्ञानाख्यसम्यग्ज्ञानस्य विषयो लक्षणादिकं चातिविस्तरेण प्रतिपादनीयं विशेषदर्शिन इत्यादिसूत्रत्रयपर्यन्तैः सूत्रैः। [1]तत्र चादौ सदसत्त्ववैधर्म्येण कार्यकारणयोर्विवेकं सम्यग्ज्ञानविषयैक[2]देशं दर्शयति—ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः। ते धर्मा यद्यपि नित्यास्तथाऽपि कालभेदेन व्यक्ताः सूक्ष्मा वा भवन्तु, सर्व एव गुणात्मानः सत्त्वादिगुणमात्रस्वरूपा एव भवन्ति, सदा वर्त्तमानत्वेन गुणा एव तदपेक्षया सत्या इत्यर्थः। व्याचष्टे—ते खल्विति। अत्र सूक्ष्मात्मान इत्यस्यानन्तरं षडविशेषा इति पाठः क्वचित्तिष्ठति, स तु प्रामादिकत्वादुपेक्षणीयः, सर्वविकाराणामेव गुणात्मकत्वस्य वक्तव्यतया षडविशेषमात्रनिर्देशानौचित्यादिति।

इस प्रकार कैवल्यभागीय चित्त और उससे अतिरिक्त (भिन्न) चित्तों के बन्ध के प्रकार पर प्रकाश डाला गया तथा मोक्षभागीय चित्त के मुक्त होने में आने वाली विरोधी बातों का खण्डन किया गया। अधुना, यहाँ से लेकर **'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः'** (४/२५) तक के अन्तिम तीन सूत्रों के द्वारा मोक्ष के साधनभूत विवेकज्ञानसंज्ञक सम्यग्ज्ञान के विषय और उसके लक्षणादि (स्वरूपादि) का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया जाना है। उसमें भी सर्वप्रथम सत् और असत् में परस्पर विपरीत-धर्मता होने से कार्य-कारण के विवेक (अन्तर, पार्थक्य) को प्रदर्शित किया जा रहा है, जो सम्यग्ज्ञान के विषय का एकदेश है—**'त इति'** 'ते' अर्थात् धर्म (महदादि कार्य) यद्यपि नित्य हैं, तथापि कालभेद से वे **'व्यक्त'** (वर्तमानावस्था वाले) अथवा **'सूक्ष्म'** (अतीतानागतावस्था वाले) हैं। ये सभी महदादि कार्य धर्म **'गुणात्मानः'** अर्थात् सत्त्वादिगुणात्मक ही हैं। सूत्र का तात्पर्य यह है कि सर्वदा वर्तमान रहने से सत्त्वादि गुण ही महदादि धर्म (कार्य) की अपेक्षा सत्य हैं। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'ते खल्विति'** यहाँ **'सूक्ष्मात्मानः'** इस पद के अनन्तर **'षडविशेषाः'** ऐसा पाठ कहीं-कहीं मिलता है, किन्तु प्रमादवश होने से इसे उपेक्षणीय पाठ समझना चाहिये, क्योंकि महदादि से लेकर घट, पटादिपर्यन्त समस्त कार्यों (धर्मों, विकारों) की त्रिगुणात्मकता अभिहित होने से (प्रकृत प्रसंग में) षड् अविशेष (पञ्चतन्मात्र तथा अहंकार) मात्र को त्रिगुणात्मक बतलाना औचित्यपूर्ण नहीं है।

**बालप्रिया—**

**'अत्र सूक्ष्मात्मान इत्यस्यानन्तरं षडविशेषा...प्रामादिकत्वादुपेक्षणीयः'—मिश्र-भिक्षु-**

---

1. ख—ननु द्वितीयपाद एव सम्यग्ज्ञानस्य विषयो द्रष्टृदृश्यविवेकः, तस्य लक्षणं च प्रतिपादितमिति चेत्, सत्यं तथापि तस्यैवार्थस्य तर्केण परीक्षणमिदानीं कर्त्तव्यमित्यपौनरुक्त्यं विकारा वस्तुत्वादिकं चाधिकमत्र वक्तव्यमिति (तत्र—प्राक्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—ननु...वक्तव्यमिति नोपलभ्यते।
2. ख—विकारवैराग्यार्थं (देशं—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—विकारवैराग्यार्थं नोपलभ्यते।

**मतभेद**—वाचस्पति मिश्र ने भाष्यगत 'षडविशेषाः' पाठ को प्रामाणिक और औचित्यपूर्ण मानकर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'**व्यक्तानां पृथिव्यादीनामेकादशेन्द्रियाणां च वर्तमानानामतीतानागतत्वं षडविशेषा यथायोगं भवन्ति।**' किन्तु विज्ञानभिक्षु ने 'षडविशेषाः' पाठ को प्रकृत प्रसंग में सिद्धान्तविरुद्ध माना है। उनका कहना है—'**सर्वविकाराणामेव गुणात्मकत्वस्य वक्तव्यतया षडविशेषमात्रनिर्देशानौचित्यादिति।**' वस्तुतस्तु प्रकृत में महाभूतादि कार्यों की साक्षात् त्रिगुणात्मकता नहीं बतलाई गई है, अपितु स्वस्वकारण की शृंखलापूर्वक महाभूतादि कार्यों का परम्परया सत्त्वादि त्रिगुण का कार्य होना बतलाया जा रहा है। अतः 'षडविशेषाः' पाठ रहने से भी किसी प्रकार की असंगति नहीं आती है।

सम्प्रति, वार्तिककार उपरिनिर्दिष्ट तथ्य का विश्लेषण करते हैं—

### योगवार्त्तिकम्

**अयमर्थः—ते धर्मा व्यक्तस्वरूपाः सूक्ष्मस्वरूपाश्च महदादिघटपटान्ताः परमार्थतो गुणात्मानो गुणरूपेणैव सन्तो न तु स्वरूपेण, यतः सर्वमिदं धर्मजातं सत्त्वादीनां संनिवेशः संयोगस्तद्विशेषमात्रं तद्विलये विलयात् तद्व[1]र्त्तमानतायां [2]वर्त्तमानत्त्वाभि[3]यतमिति। तदुक्तम्—आद्यन्तयोर्यदसदस्ति तदेव मध्य इति। त्रिगुणात्मकमायैव जगत्परमार्थ इति च। अत्र पारमार्थिकत्वं चानित्यतामात्ररूपासत्त्वम्, अन्यथा सृष्ट्यादिप्रतिपादकसूत्रादिविरोधात्। अत्रावयवसंयोगातिरिक्तो धर्मो नास्तीति न भाष्यार्थः, अवयविद्रव्यस्यातिरिक्तस्य स्थाने स्थाने व्यवस्थापितत्वादिति। उक्तार्थे शास्त्रं प्रमाणयति—तथा चेति। परमं पारमार्थिकं नित्यमिति यावत्। मायैव लौकिकमायावत् क्षणभङ्गुरम्, अतः सुतुच्छकम् अत्यन्ततुच्छम् अल्पसारं स्थिरांशाभावादिति। अत्र सुशब्देन परिणामितया गुणानामपि तुच्छत्वं सूचितम्। गुणा एव परिणामितया कूटस्थनित्यापेक्षया तुच्छाः, गुणकार्यं तु दृश्यमानं गुणापेक्षयाऽपि तुच्छम्। अतः सुतुच्छमिति। यद्यपि मायाशब्दो मिथ्यावस्तूनां कारणे मुख्यः, मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति श्रुतेः, विश्वस्य बीजं परमासि मायेतिस्मृतेश्च। मायात्वं हि मृषाविकारेण व्यामोहकत्वम्, तच्च प्रकृतावेव मुख्यम्,**

**प्रकृत्या सर्वमेवेदं जगदन्धीकृतं विभोः**
**जगन्मोहात्मकं विद्धि अव्यक्तं व्यक्तसंज्ञकम्॥**

**इति भारतात्, तथाऽपि कार्यकारणाभेदान्मायाशब्दः कार्येऽपि प्रयुक्तः—**

**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया**

---

1. क ख घ च छ—वर्तमानतायां, ग—वर्तमानतया।
2. ख ग—तत्, घ—त्तु (वर्तमानत्वात्—पश्चात्) उपलभ्यते, क च छ—तत्/त्तु नोपलभ्यते।
3. ख—अतो गुण एव विकाराणां पारमार्थिकं रूपं (नियतं—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—अतो...रूपं नोपलभ्यते।

इत्यादाविवेति मन्तव्यम्। नन्वेवं प्रपञ्चोऽपि प्रकृत्याख्यमूलमायाकार्यत्वान्मायैव, अन्यथा

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
मूलमायाऽभिधानं तत्सा शक्तिर्मयि तिष्ठति॥

इति कौर्मादिषु [1]मूलेतिविशेषण[2]वैयर्थ्यात्, तत् कथमिवशब्दः प्रयुक्त इति? मैवम्—लौकिकस्येन्द्रजालादेरेवात्र दृष्टान्तत्वेनेवशब्दौचित्यादिति। प्रपञ्चस्य मूलकारणमात्रत्वे श्रुतिरपि वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यादिरु[3]दाहर्त्तव्या, तथा विष्णुपुराणमपि—

शिबिका दारुसंघातो रचना स्थिति[4]संस्थितिः।
अन्विष्यतां नृपश्रेष्ठ! तद्भेदे शिबिका त्वया॥
एवं छत्रशलाकादिपृथगभावो विमृश्यताम्।
क्व [5]जातं छत्रमित्येष न्यायस्त्वयि तथा मयि॥

इत्यादि। एवंविधेषु च वाक्येषु विकाराणामनित्यतयैव विवेकवैराग्ययोस्तात्पर्यं न तु कार्यखण्डने, कार्यकारणभावप्रतिपादकवाक्यविरोधात्। न च तदनुवादमात्रम्, महदादिसृष्टेर्लौकिकप्रमाणानधिगतत्वेन अनुवादासंभवात्। प्रमाणान्तरसत्त्वे [6]च तेन सहापि विरोधस्यान्याय्यत्वात्। किं च सर्वविकारस्य मिथ्यात्वे प्रमाणस्यापि मिथ्यात्वनिश्चयेन श्रुतिप्रमाणावधृतेऽपि कारणत्वाभिमतब्रह्मादौ पुनः संशयः स्यात् [7]प्रामाण्यसंशयाहितार्थसंशयादिवदिति दिक्॥१३॥

भाष्यार्थ इस प्रकार है—व्यक्तस्वरूप तथा सूक्ष्मस्वरूप वाले महदादि से लेकर घट, पटादिपर्यन्त सभी धर्म (विकार, कार्य) तात्त्विक (पारमार्थिक) रूप से गुणरूप से ही अवस्थित रहते हैं, न कि अपने-अपने स्वरूप से। क्योंकि पुरोदृश्यमान यह समस्त विकारजात सत्त्वादि गुणों का 'संनिवेश' अर्थात् संयोगविशेषमात्र है। अतः संयोगविशेष का विलय (उच्छेद, नाश) होने पर विकारमात्र (कार्यजात) का लय होता है और संयोगविशेष के वर्तमान (विद्यमान) रहने पर महदादि कार्यजात भी वर्तमान अर्थात् विद्यमान रहता है, यह सुनिश्चित तथ्य है। जैसा कि कहा गया है—'आद्यन्तयोः...जगत्परमार्थ इति च' (श्रीमद्भागवत ११/१९/७) अर्थात् 'आदि और

---

1. क च छ—मूलेति, ख ग घ—मूल०।
2. क ग घ च छ—वैयर्थ्यात्, ख—अनुपपत्तेः।
3. क घ च छ—उदाहर्त्तव्या, ख ग—उदाहार्या।
4. क ग च छ—संस्थितिः, ख—संस्थिताः, घ—संस्थितः।
5. क घ च छ—जातं, ख ग—यातं।
6. क ग घ च छ—च, ख—वा।
7. क ग घ च छ—प्रामाण्यसंशयाहितार्थसंशयादिवदिति दिक्, ख—प्रामाण्यसंशयादिवत् दृष्टश्च लोके स्वाप्नवाक्यावगतस्याप्यर्थस्य जागरे वाक्यबाधात् पुनः संशय इति दिक्।

अन्त में जो 'असत्' है, वही मध्य में 'सत्' है। त्रिगुणात्मक माया वाला यह जगत् ही परमार्थ है।' यहाँ जगत् को जो परमार्थ कहा गया है, वह पारमार्थिकत्व अनित्यता-मात्ररूप 'असत्त्व' है, अन्यथा जगत् को पारमार्थिक सत् मानने पर सृष्ट्यादि-प्रतिपादक सूत्रादि से विरोध होगा। यहाँ अवयवसंयोग से अतिरिक्त 'धर्म' रूप अवयवी नहीं है, ऐसा भाष्यार्थ नहीं है, क्योंकि अवयवसंयोग से अतिरिक्त (भिन्न) अवयविरूप द्रव्य है, ऐसा जगह-जगह सिद्धान्तित हुआ है। भाष्यकार इस विषय में शास्त्र को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं—'तथा चेति।' यहाँ 'परम' शब्द का अर्थ पारमार्थिक नित्यता है। अर्थात् गुणों का पारमार्थिक नित्यरूप अतीन्द्रिय होने से दृष्टिपथ में नहीं आता है। और दृष्टिपथ में आने वाली माया ही लौकिक माया की भाँति क्षणभङ्गुर है। अतः स्थिरांश का अभाव होने से वह 'सुतुच्छ' अर्थात् अत्यन्त-तुच्छ अथवा अल्पसार वाली है। यहाँ 'सु' उपसर्ग (शब्द) के द्वारा परिणामी होने से गुणों का भी तुच्छत्व सूचित किया गया है। परिणामशील होने से सत्त्वादि गुण ही कूटस्थनित्य (रूप पुरुष) की अपेक्षया तुच्छ हैं और सत्त्वादि गुण का दिखलाई पडने वाला यह कार्यरूप जगत् तो 'गुण' की अपेक्षया भी अत्यन्त तुच्छ हैं। अतः जगत् को 'सुतुच्छ' कहा गया है। श्लोक में आये 'माया' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वार्तिककार आगे कहते हैं—यद्यपि 'माया' शब्द मिथ्यावस्तु के 'कारण' अर्थ में प्रसिद्ध (मुख्य) है, क्योंकि ऐसे श्रुति-स्मृति-वाक्य मिलते हैं—'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे. उप. ४/१०) अर्थात् 'माया को प्रकृति जानो', 'विश्वस्य बीजं परमासि माया' (मार्कण्डेय पु. ९१/४) अर्थात् 'विश्व का बीज परम माया है।' इस प्रकार मिथ्या कार्य (मृषाविकार) के रूप से मायात्व व्यामोहकत्वरूप है। यद्यपि माया प्रकृति के अर्थ में मुख्य है, क्योंकि ऐसा महाभारत का वाक्य है—'प्रकृत्या...- व्यक्तसंज्ञकम्' (मोक्षधर्म (३०३/३५) अर्थात् हे भगवन्! प्रकृति ने पुरोदृश्यमान् समस्त जगत् को अन्धा बना दिया है। व्यक्तसंज्ञा वाला यह मोहात्मक जगत् अव्यक्तरूप है, ऐसा समझो', तथापि कार्य-कारण में अभेदसम्बन्ध होने से यह 'माया' शब्द महदादि कार्यरूप जगत् के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। इसमें श्रुति प्रमाण है—'दैवी...दुरत्यया' (गीता ७/१४) अर्थात् 'यह अलौकिक अर्थात् अतिअद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योग-माया बड़ी दुस्तर है।'

**शङ्का**—यह प्रपञ्च भी तो प्रकृतिसंज्ञक मूल माया का कार्य होने से मायात्मक ही है, यदि ऐसा स्वीकार न करें तो 'मम योनिः...तिष्ठति' (कू.पु.उ. ८/३) अर्थात् 'मुझ प्रकृति का कारण महत् ब्रह्म है। उसी में सूक्ष्मरूप से मै रहता हूँ और मूल माया नाम वाली शक्ति मुझ में रहती है'—इस कौर्मवाक्य में माया के विशेषणरूप में

आया 'मूल' शब्द व्यर्थ हो जायेगा। और यदि ऐसा नहीं है तो फिर कैसे श्लोक में 'इवं' ( तन्मायेव ) शब्द का प्रयोग हुआ है?

**समाधान**—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि लौकिक इन्द्रजालादि के समान ही यहाँ दृष्टान्तरूप से 'इव' शब्द का प्रयोग औचित्यपूर्ण है। माया प्रपञ्च का मूलकारण है, इसमें श्रुतिवाक्य भी उद्धृत करने योग्य हैं—'**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**' (छा.उप. ६/११)। इसी प्रकार विष्णुपुराण का वाक्य उदाहर्त्तव्य है— '**शिबिका...तथा मयि**' (२/१३/९५-९६) अर्थात् हे नृपोत्तम! रचनाविशेष से एकत्रित हुआ काष्ठसमूह ही तो वह पालकी है। यदि यह काष्ठ से भिन्न है तो काष्ठ को उससे पृथक् करके खोजो। उसी प्रकार छत्र-शलाकाओं को पृथक् रखकर सोचो कि वह छत्र कहाँ रहता है? यही न्याय अपने और मेरे देह के प्रति रखो।' इस प्रकार के उपरिनिर्दिष्ट वाक्यों में विकारों (महदादि कार्यों=धर्मों) के अनित्य होने से ही उनके प्रति विवेक और वैराग्य को जागरित करने में तात्पर्य पर्यवसित होता है, न कि कार्यमात्र (विकारमात्र) का खण्डन करने में, अन्यथा माया और जगत् के कार्यकारणभाव के प्रतिपादक वाक्यों से विरोध होगा।

**शङ्का**—माया और जगत् के कार्यकारणभाव के प्रतिपादक वाक्यों को अनुवादमात्र मान लिया जाय?

**समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि महदादि सृष्टि लौकिक प्रमाण से ज्ञात (अधिगत) न होने से उसे अनुवादमात्र मानना सम्भव नहीं है। और महदादि सृष्टि के विषय में प्रमाणान्तर होने से उसके साथ सृष्ट्यनुवादमात्र का विरोध स्थापित करना न्याय-संगत नहीं है। किञ्च सभी विकारों के मिथ्या होने पर तत्प्रतिपादक प्रमाण में भी मिथ्यात्व का निश्चय होने से श्रुतिप्रमाण पर आधृत कारणत्वरूप से स्वीकृत ब्रह्मादि के विषय में भी संशय उसी प्रकार होने लगेगा, जिस प्रकार प्रामाण्य अर्थात् 'ज्ञान' में संशय होने पर 'अर्थ' (ज्ञान के विषय) में भी संशय होने लगता है॥१३॥

सम्प्रति, प्रश्नपरक वैयासिकी अवतरणिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

### व्यासभाष्यम्

**[1]यदा तु सर्वे गुणाः, कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति?**

**शङ्का**—जब सभी पदार्थ गुण ही हैं, तो (उन पदार्थों को) एक शब्द है और एक इन्द्रिय है, ऐसा कैसे कहा जाता है?—

---

1. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—यदा तु सर्वे गुणाः, कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति ४/१४ सूत्रस्य अवतरणिका, ग—यदा...इति ४/१३ सूत्रस्य टीका।

**समाधान**—उक्त शंका का समाधान सूत्र से किया जा रहा है—

**योगसूत्रम्**

## परिणामै[1]कत्वाद्वस्तुतत्त्वम्॥१४॥

परिणाम के एक होने से वस्तुभूत गुणों का तत्त्व भी एक ही होता है॥१४॥

**व्यासभाष्यम्**

प्रख्या[2]क्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां [3]करणभावेनैकः परिणामः [4]श्रोत्रमिन्द्रियम्। ग्राह्यात्मकानां [5]शब्दतन्मात्रभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति। शब्दादीनां मूर्तिसमान[6]जातीयानामेकः परिणामः पृथिवीपरमाणुस्तन्मात्रावयवः। तेषां [7]चैकः परिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादि। भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमे[8]कविकारारम्भः समाधेयः। नास्त्यर्थो विज्ञान[9]विसहचरः, अस्ति तु [10]ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमित्य[11]नया दिशा ये वस्तुस्वरूपम[12]पह्नवते, ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं [13]न परमार्थतोऽस्तीति य आहुस्ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्प[14]ज्ञानबलेन वस्तु[15]स्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः॥१४॥

---

1. ऐक्यात्—इति पाठान्तरम्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—क्रिया०, ब—प्रवृत्ति०।
3. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—करण०, छ थ—अन्तःकरण०।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—श्रोत्रमिन्द्रियं, ब—श्रोत्रेन्द्रियः।
5. क ग च छ थ ध न प फ भ म—शब्दतन्मात्रभावेन, ख घ ज झ त द ब य र—शब्दभावेन।
6. छ थ—गन्धादितन्मात्रभावेन (जातीयानां—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—गन्धादितन्मात्रभावेन नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ चं ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—चैकः, छ थ—व्रीहीतृणां नरादिभावेनैकः।
8. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—एकविकारारम्भः, छ थ—एव वस्तुतत्त्वं विकारारम्भः स्वस्मिन्प्रतिपुरुषे।
9. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र—विसह०, त—विरह०।
10. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—ज्ञानं, ब—विज्ञानम्।
11. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—अनया, ब—अमुया।
12. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न ब भ य र—अपह्नवते, प फ म—अपह्नुवते।
13. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—न, झ त—तु।
14. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—ज्ञान०, ख—विज्ञान०।
15. क ग घ च छ थ द ध न प फ भ म य र—स्वरूपमुत्सृज्य, ख ज—स्वरूपमुपगृह्य, झ त—स्वरूपमुपभृज्य, ब—स्वयमुपगृह्य।

ज्ञान, क्रिया और स्थिति स्वभाव वाले ग्रहणात्मक सत्त्वादि गुणों का करणरूप से एक परिणाम श्रोत्रेन्द्रिय है। और ग्राह्यस्वरूप इन गुणों का शब्दतन्मात्र रूप से एक परिणाम 'शब्द' विषय है। काठिन्यस्वरूप शब्दादि तन्मात्राओं का एक परिणाम तन्मात्रावयवरूप पृथिवीपरमाणु है और उनका एक परिणाम गौ, वृक्ष, पर्वत इत्यादि–(स्थूल) पृथिवी है। अन्य भूतों में भी स्नेह, उष्णता, प्रणामित्व तथा अवकाशदान इत्यादि को लेकर सजातीय एक विकार का आरम्भ होता है–ऐसा समाधान कर लेना चाहिये। 'विज्ञान की अभावावस्था में पदार्थ (सत्) नहीं है, किन्तु स्वप्नादि में अर्थरहित विज्ञान की सत्ता तो है ही'–इस युक्ति से जो वादी (बाह्य) पदार्थ की सत्ता का अपलाप करते हैं और यह कहते हैं कि 'स्वप्न के विषय की भाँति बाह्य पदार्थ ज्ञान के द्वारा परिकल्पित मात्र होता है, वस्तुतः उसकी सत्ता ही नहीं है', ऐसे लोग अप्रामाणिक विकल्पित ज्ञान के आधार पर वस्तु के स्वरूप को अनङ्गीकृत करके उपस्थित बाह्य पदार्थ का अपलाप करते हुए श्रद्धाभाजन कैसे बन सकते हैं?॥१४॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार प्रश्नपरक अवतरणिका द्वारा वैयासिकी उपस्थानिका को उठाते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं–

### तत्त्ववैशारदी

**भवतु त्रैगुण्यस्येत्थं परिणामवैचित्र्यम्, एकस्तु परिणामः पृथिवीति वा तोयमिति वा कुतः, नाना[1]त्मन एकत्वविरोधादित्याशङ्क्य सूत्रमवतारयति–यदा तु सर्वे गुणा इति। परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्। बहूनामप्येकः परिणामो दृष्टः। तद्यथा गवाश्वमहिषमातङ्गानां [2]रुमानिक्षिप्तानामेको लवणत्वजातीयलक्षणः परिणामो वर्तितैलानलानां च प्रदीप इति। एवं बहुत्वेऽपि गुणानां परिणामैकत्वम्। ततस्[3]तन्मात्रभूतभौतिकानां प्रत्येकं तत्त्वमेकत्वम्। ग्रहणात्मकानां सत्त्वप्रधानतया प्रकाशात्मनामहंकारावान्तरकार्याणां करणभावेनैकः परिणामः [4]श्रोत्रमिन्द्रियम्। तेषामेव गुणानां तमःप्रधानतया जडत्वेन ग्राह्यात्मकानां शब्दतन्मात्रभावेनैकः परिणामः शब्दो विषयः। शब्द इति शब्दतन्मात्रम्, विषय इति जडत्वमाह; न तु तन्मात्रस्य श्रोत्रविषयत्वसंभव इति। शेषं सुगमम्।**

शङ्का–ठीक है, पूर्वप्रतिपादित विवरण के अनुसार त्रिगुण की उक्त परिणामविविधता को स्वीकार किया जाय तो भी 'त्रिगुण का एक परिणाम पृथिवी है, एक परिणाम

---

1. क ग द–आत्मनः, ख थ द ध–त्र्यात्मनः, घ च छ ज झ त न–नानात्मनः।
2. क–रुपा०, ख ग घ च ज झ त थ द ध न–रूमा०, छ–रुम०।
3. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–तन्मात्र०, त–तन्मात्रा०।
4. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न–श्रोत्रम्, झ–न श्रोत्रम्।

जल है'—इस प्रकार नाना गुणों में एकत्व-व्यवहार कैसे? क्योंकि नानात्व का एकत्व से विरोध होता है। अर्थात् विविधता में एकता कैसे? ऐसी आशंका करके भाष्यकार सूत्र को अवतरित करते हैं—**'यदा तु सर्वे गुणा इति।'**

**समाधान**—समाधानपरक सूत्र है—'परिणामेति।' नाना पदार्थों का लोक में एक परिणाम देखा जाता है। जिस प्रकार रुमा अर्थात् लवण की खान में डाले गए गाय, घोड़ा, भैंस, हाथी (आदि नाना) पदार्थों का लवणत्वजातिलक्षणक एक लवणरूप परिणाम होता है। बत्ती, तेल और अग्नि रूप नाना पदार्थों का एक प्रदीप रूप परिणाम होता है। उसी प्रकार सत्त्वादि गुणों के अनेक होने पर भी उनमें परिणाम की एकता है। इसीलिये तन्मात्र, भूत-भौतिक सभी पदार्थों में परिणाम की तात्त्विक एकता है। **'ग्रहणात्मक'** अर्थात् सत्त्वप्रधान होने से प्रकाशात्मक अहंकार के अवान्तर कार्यों का करणभाव से एक परिणाम श्रोत्रेन्द्रिय है। **'ग्राह्यात्मक'** अर्थात् तमोगुण-प्रधान होने से जडात्मक गुणों का शब्दतन्मात्ररूप से एक परिणाम शब्दविषय वाला है। यहाँ **'शब्द'** पद से शब्दतन्मात्र का ग्रहण होता है और **'विषय'** शब्द **'तन्मात्र'** की जड़ता को बतलाता है। इससे तन्मात्र को श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होना नहीं कहा गया है। क्योंकि शब्दादि तन्मात्राएँ श्रोत्रादि इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकती हैं। शेष भाष्य सरल है।

सम्प्रति, **'बाह्यार्थ'** की सत्ता पर विचार प्रस्तुत हो रहा है—

### तत्त्ववैशारदी

**अथ विज्ञानवादिनं वैनाशिकमुत्थापयति—नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचर इति। यदि हि भूतभौतिकानि विज्ञानमात्राद्भिन्नानि भवेयुस्ततस्तदुत्पत्तिकारणमी[1]दृशं प्रधानं कल्प्येत, न तु तानि विज्ञानातिरिक्तानि सन्ति परमार्थतः। तत्कथं प्रधानकल्पनम्? कथं च ग्रहणाना-मिन्द्रियाणामहंकारविकाराणां कल्पनेति? तथा हि—जडस्यार्थस्य स्वयमप्रकाशत्वान्नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः। साहचर्यं संबंधः। तदभावो [2]विसहचरत्वम्। विरभावार्थः, विज्ञानासंबन्धी नास्तीति व्यवहारयोग्य इत्यर्थः। अस्ति तु [3]ज्ञानमर्थविसहचरम्, तस्य स्वयंप्रकाशत्वेन स्वगोचरास्तिताव्यवहारे कर्तव्ये जडमर्थं प्रत्यपेक्षाभावात्। तदनेन वेद्यत्वसहोपलम्भनियमौ सूचितौ विज्ञानवादिना। तौ चैवं प्रयोगमारोहतः—यद्वेद्यते येन वेदनेन तत्ततो न भिद्यते। यथा ज्ञानस्यात्मा। वेद्यन्ते च भूतभौतिकानीति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, निषेध्यभेदविरुद्धेन व्याप्तं वेद्यत्वं दृश्यमानं स्वव्यापकमभेदमुपस्थापयत्तद्विरुद्धं भेदं प्रतिक्षिपतीति। तथा यद्येन**

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—ईदृशं, झ—ईशम्।
2. क थ द ध—विसहचरः, ख ग घ च छ ज झ त न—विसहचरत्वम्।
3. क थ द ध—विज्ञानम्, ख ग घ च छ ज झ त न—ज्ञानम्,

नियतसहोपलम्भं तत्ततो न भिद्यते। यथैकस्माच्चन्द्राद् द्वितीयश्चन्द्रः। नियतसहोपलम्भश्चार्थो ज्ञानेनेति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। निषेध्यभेदव्यापकानियमविरुद्धो नियमोऽनियमं निवर्तयंस्तद्व्याप्तं भेदं प्रतिक्षिपतीति। स्यादेतत्—अर्थश्चेन्न भिन्नो ज्ञानात्कथं भिन्नवत्प्रतिभासत इत्यत आह—कल्पितमिति। यथाहुर्वैनाशिकाः—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥

इति। कल्पितत्वं विशदयति—ज्ञानपरिकल्पनेति। निराकरोति—त इति। ते कथं श्रद्धेयवचनाः स्युरिति संबन्धः। प्रतिज्ञानमुपस्थितं प्रत्युपस्थितम्। कथम्—तथेति। यथा यथावभासत इदंकारास्पदत्वेन तथा तथा [1]स्वयमुपस्थितं न तु कल्पनोपकल्पितं विज्ञानविषयतापन्नम्। स्वमाहात्म्येनेति [2]विज्ञानकारणत्वमर्थस्य दर्शयति। यस्मादर्थेन [3]स्वकीयया ग्राह्यशक्त्या विज्ञानमजनि तस्मादर्थस्य [4]ग्राहकम्। तदेवं भूतं वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पविज्ञानबलेनेति। [5]विकल्पस्याप्रमाणात्मकत्वात्तद्बलस्यापि तदात्मनोऽप्रमाणात्मकत्वम्। तेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्योपप्लुतं कृत्वा। उपगृह्येति [6]क्वाचित्कः पाठः। तत्रापि स एवार्थः। तदेवापलपन्तः श्रद्धातव्यवचनाः स्युरिति।

(बाह्यार्थ के विषय में) भाष्यकार विज्ञानवादी वैनाशिक मत का उपस्थापन करते हैं—'नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचर इति।'

पूर्वपक्ष—यदि भूत-भौतिक पदार्थ को विज्ञानमात्र से भिन्न माना जाय और उनकी उत्पत्ति के कारणभूत प्रधान की कल्पना भी की जाय तो भी वे पारमार्थिक दृष्टि से विज्ञान से अतिरिक्त तो हैं ही नहीं, तो फिर प्रधान की कल्पना क्यों की जाय? और अहंकार के विकारभूत (कार्यभूत) ग्रहणात्मक इन्द्रियों को क्यों स्वीकार किया जाय? तथा हि—जड़ पदार्थ स्वयं अप्रकाशरूप होता है, इसलिये विज्ञान के अभावकाल में पदार्थ की सत्ता नहीं रहती है। 'साहचर्य' शब्द का अर्थ है—सम्बन्ध। साहचर्य का अभाव 'विसहचर' कहलाता है। 'वि' उपसर्ग अभावार्थक होता है। जो विज्ञान के साथ असम्बन्ध रखने वाला नहीं है—इस प्रकार का व्यवहारयोग्य पदार्थ विज्ञान विसहचर नहीं है। किन्तु विज्ञान बाह्यार्थ से विसहचर अर्थात् असम्बद्ध होता है। क्योंकि विज्ञान के स्वयं प्रकाशरूप होने से स्वविषयक (ज्ञानविषयक)

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न—स्वयं, घ—प्रति।
2. क ख ग छ ज त थ द ध—कारणत्वं विज्ञानं प्रत्यर्थस्य, घ च झ न—विज्ञानकारणत्वमर्थस्य।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—स्वकीयया, न—स्वकीया।
4. क छ—अग्राहकम्, ख ग घ च ज झ त थ द ध न—ग्राहकम्।
5. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—विकल्पस्य, ज—विकल्पे अस्य।
6. क ख ग घ च छ ज झ त—क्वचित्, ध न—क्वाचित्कः, थ द—काचित्कः।

अस्तिता (ज्ञानमस्ति) व्यवहार होने में उसे (ज्ञान को) जड़ पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती है। इस प्रकार विज्ञानवादी ने 'वेद्यत्व' और 'सहोपलम्भ' इन दो नियमों को बतलाया है। दोनों नियमों को प्रयोग द्वारा इस प्रकार बतलाया जा सकता है—जिस ज्ञान के द्वारा जो जाना जाता है, वह विषय उस ज्ञान से पृथक् नहीं होता है, जैसे ज्ञानात्मा। भूत-भौतिक पदार्थ भी ज्ञान से वेद्य हैं, इसीलिये वे ज्ञान से भिन्न नहीं होते हैं। अतः निषेध्य भेद (ज्ञान से बाह्यार्थ की भिन्नता) के विरुद्ध (विपरीत) अभेद से व्याप्त दृश्यमान वेद्यत्व अपने व्यापक अभेद को उपस्थित करता हुआ विज्ञान से अर्थ के भेद के विरुद्ध सिद्धान्त को खण्डित करता है। तथा जिसका जिसके साथ नियत 'सहोपलम्भ' नहीं होता है, वह (विषय) उस (ज्ञान) से भिन्न नहीं होता है। जैसे एक चन्द्र से दूसरा चन्द्र भिन्न नहीं होता है। और 'ज्ञान' का 'अर्थ' से नियत 'सहोपलम्भ' है, इसलिये व्यापक विरुद्ध की उपलब्धि होती है। निषेध्य भेद के व्यापक अनियम का विरोधी नियम अनियम को हटाता हुआ भेद (ज्ञान से भिन्न बाह्यार्थ) का खण्डन करता है।

**शङ्का**—(सिद्धान्ती की ओर से) यदि बाह्य पदार्थ विज्ञान से भिन्न नहीं है, तो दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न कैसे प्रतीत होते हैं?

**समाधान**—(पूर्वपक्षी की ओर से) इस पर पूर्वपक्षी का वक्तव्य है—'**कल्पितमिति**।' जैसे स्वप्नादि में बाह्य पदार्थ न होते हुए भी वे विज्ञानमात्र से कल्पित होते हैं, वैसे ही जागरित अवस्था वाले पदार्थ भी विज्ञानमात्र से कल्पित माने जाते हैं। विज्ञान से भिन्न बाह्यार्थ नहीं है। जैसा कि वैनाशिकों ने कहा है—'**सहोपलम्भ....द्वये**' अर्थात् 'सहोपलम्भ नियम से 'नील' विषय और नीलविषयक 'ज्ञान' का अभेद है और जो विषय-विज्ञान में भेद प्रतीत होता है, वह भ्रान्त ज्ञान के कारण है। जैसे चन्द्रमा एक होता हुआ भी भ्रान्ति के कारण दो दिखलाई पड़ता है।' पदार्थ किस प्रकार ज्ञान से कल्पित है, इसका विशदीकरण किया जा रहा है—'**ज्ञानपरिकल्पनेति**।' वस्तु ज्ञान के द्वारा परिकल्पित मात्र होती है, वस्तुतस्तु विज्ञानातिरिक्त बाह्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं है।

**उत्तरपक्ष**—(पूर्वपक्ष का खण्डन) भाष्यकार पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं—'**त इति**।' '**ते कथं श्रद्धेयवचनाः स्युः**'—ऐसा वाक्यान्वय करना चाहिये। इसका अर्थ है—वे विज्ञान-वादी बौद्ध किस प्रकार श्रद्धा के योग्य हो सकते हैं? अर्थात् उनका सिद्धान्त कैसे मान्य हो सकता है? भाष्य में प्रयुक्त '**प्रत्युपस्थित**' शब्द का अर्थ है—प्रत्येक ज्ञान के साथ उपस्थित वस्तु। अर्थात् निद्रा, भ्रम आदि दोष से नहीं, अपितु अपने माहात्म्य से ही वस्तु प्रत्येक ज्ञान के प्रति उपस्थित होती है। प्रश्न है—कैसे? तो उत्तर है—'**तथेति**।' जैसे-जैसे इदमाकार विषय (**अयं घटः**) रूप से पदार्थ भासित होता है,

वैसे-वैसे विषय स्वयं उपस्थित होता जाता है। कल्पनारूढ विज्ञान की विषयता को प्राप्त अर्थात् विज्ञानाकार वाला विषय नहीं होता है। **'स्वमाहात्म्येन'** पद के द्वारा भाष्यकार ने **'अर्थ'** (बाह्यार्थ=पदार्थ) को **'विज्ञान'** का कारण प्रदर्शित किया है। (क्योंकि ज्ञान होने के लिये विषय की आवश्यकता रहती है। शब्दान्तर में ज्ञान सविषयक होता है)। क्योंकि पदार्थ (बाह्यार्थ) स्वनिष्ठ ग्राह्यशक्ति के द्वारा विज्ञान को उत्पन्न करता है, इसलिये विज्ञान **'ग्राह्य'** विषय का **'ग्राहक'** होता है। अतः प्रामाणिक यह बाह्यार्थ (विज्ञानातिरिक्त पदार्थ) विकल्पात्मक विज्ञानबल से कैसे असमाप्त (असत्) रूप से प्रतिष्ठित हो सकता है? क्योंकि ऐसी स्थिति में विकल्प के अप्रमाणात्मक होने से उस पर आधारित विकल्पस्वरूप विषय भी अप्रमाणात्मक हो जायेगा। इस प्रकार वस्तु के स्वरूप को छोड़कर भी बाह्यार्थ का खण्डन करने वाले वैनाशिक लोग कैसे श्रद्धा के योग्य हो सकते हैं? भाष्य में कहीं-कहीं **'उत्सृज्य'** के स्थान पर **'उपगृह्य'** ऐसा पाठभेद उपलब्ध होता है। किन्तु इससे वाक्यार्थ में अन्तर नहीं आता है। भाव यह है कि स्वाप्न-पदार्थों का अनुभव तो निद्रादिदोष के कारण होता है और जागरित अवस्था में अनुभूत पदार्थों का ज्ञान भावितस्मर्तव्यस्मृति से होता है। अतः जागरित दशा में स्वमाहात्म्य से अनुभूयमान बाह्य-पदार्थों की स्वप्न में अनुभूयमान पदार्थों से समता नहीं की जा सकती है। इसलिये इस विषम दृष्टान्त के बल से बाह्य पदार्थों की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता है?

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार **'तदेवापलपन्तः श्रद्धातव्यवचनाः स्युः'** का विशदीकरण करते हैं—

**तत्त्ववैशारदी**

**इदमत्राकूतम्—सहोपलम्भनियमश्च वेद्यत्वं च हेतू सन्दिग्धव्यतिरेकतयाऽनैकान्तिकौ। तथा हि—ज्ञानाकारस्य भूतभौतिकादेर्यदेतद्बाह्यत्वं स्थूलत्वं च भासेते न ते ज्ञाने संभवतः।**

तात्पर्य यह है—**'सहोपलम्भ'** नियम और **'वेद्यत्व'** दोनों हेतु सन्दिग्ध व्यतिरेकी होने से **'अनैकान्तिक'** (हेत्वाभास) हैं। इसी को स्पष्ट किया जा रहा है—ज्ञानाकाररूप भूत-भौतिक पदार्थ में यह जो बाह्यत्व और स्थूलत्व की प्रतीति होती है, वह बाह्यत्व और स्थूलत्व तो ज्ञान में सम्भव नहीं है। भाव यह है कि—**'ग्राह्य'** और **'ग्राहक'** के अभेद रूप साध्य को सिद्ध करने वाले **'वेद्यत्व'** और **'सहोपलम्भ'** नियमरूप हेतु साध्यभूत अभेद (ज्ञान और विषय के एकत्व) के विपक्षरूप **'भेद'** (ज्ञान और विषय के भेद) में भी रहने से अनैकान्तिक दोष से युक्त हैं। जब कि नियमतः सद्-हेतु को विपक्ष में नहीं रहना चाहिये। इस प्रकार प्रकृत में सहोपलम्भनियम और वेद्यत्व हेतु अनैकान्तिक दोष से युक्त हैं।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार ज्ञान में 'बाह्यत्व' और 'स्थूलत्व' की असम्भाव्यता को सिद्ध करते हैं—

**तत्त्ववैशारदी**

**तथा हि—नानादेशव्यापिता स्थौल्यं विच्छिन्नदेशता च [1]बाह्यत्वम्। न चैकविज्ञानस्य नानादेशव्यापिता विच्छिन्नदेशता चोपपद्यते, तद्देशत्वातद्देशत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्यैकत्रासंभवात्; संभवे वा त्रैलोक्यस्यैकत्वप्रसङ्गात्।**

जो परमाणुरूप देश से भिन्न एकाधिक परमाणु देश (अनेक देशावयव) में रहता है, अर्थात् जो नाना परमाणु देशव्यापी होता है, उसे 'स्थूल' कहते हैं और पृथक् अथवा वियुक्त अथवा भिन्न देशव्यापी को 'बाह्य' कहते हैं। किन्तु एक ज्ञान में नानादेशव्यापिता और विच्छिन्नदेशता की उपपत्ति नहीं लग सकती है। क्योंकि तद्देशत्व और अतद्देशत्वरूप परस्पर विरुद्ध संसर्ग की एक में अवस्थिति सम्भव नहीं है। यदि एक ज्ञान में परस्पर विरुद्ध धर्मों का संसर्ग अर्थात् सम्बन्ध माना जाय तो त्रिलोकी के एक होने का अर्थात् त्रैलोक्यज्ञान के एकत्व का प्रसंग उपस्थित होगा। इस प्रकार एक ज्ञान में 'स्थूलत्व' और 'बाह्यत्व' असम्भव है।

**बालप्रिया—**

**'तथाहि नानादेशव्यापिता...'**— अभिप्राय यह है—'बाह्यार्थ घट, पटादि परम सूक्ष्म नहीं हैं, अपितु स्थूल हैं'—यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। क्योंकि नाना-दिग्देश-व्यापित्व रूप स्थौल्य स्थूल पदार्थ में ही सम्भव है, अन्य परम सूक्ष्म में यह स्थूलता सम्भव नहीं है। इस प्रकार 'ज्ञान' और 'विषय' में भेद होने पर ज्ञान के द्वारा एक दिग्देश में प्रकाशित होने से विषय की अनावरणता तथा दूसरे दिग्देश में ज्ञान के द्वारा प्रकाशित न होने से विषय की आवरणता है। इस प्रकार 'आवरण' और 'अनावरण' रूप विरुद्ध धर्मों का अध्यास होने से 'एक' रूप विषय का भी भेद हो जायेगा। 'विषय' को 'ज्ञान' से भिन्न मानने पर ज्ञान के अवच्छेदक रूप ज्ञायमान ज्ञानाभिन्न पदार्थ के अनावृत्त होने से और ज्ञानात्मत्व का अभाव होने से आवृत्त पदार्थ में विरोध का अभाव रहने से दर्शन और अदर्शन की दृष्टि से एक ही स्थूल वस्तु में 'आवृत्त' और 'अनावृत्त' के सम्भव होने से स्थूल वस्तु में उक्त आनन्तर्य से किसी प्रकार का दोष नहीं है। वैनाशिकों के मत में ज्ञानोपाधि से अनावृत्त होने के कारण अज्ञानाकार रूप से आवरण और अनावरणरूप विरुद्ध धर्मों का संसर्ग होने से नाना-दिग्देशव्यापी-स्थौल्य यद्यपि उचित है, तथापि तद्देशत्व-अतद्देशत्व, कम्पत्व-अकम्पत्व, रक्तत्व-अरक्तत्व रूप विरुद्ध धर्मों का संसर्ग होने से प्रसज्यमान नानात्व का ज्ञानाकार होने पर भी कोई उसे निवारित करने में समर्थ नहीं हो सकता है।

---

1. क घ च छ ज झ त थ द ध न—बाह्यत्वम्, ख ग—बाह्यता।

सम्प्रति, **'विज्ञानभेद'** अर्थात् भिन्न-भिन्न विज्ञान मानने पर भी उसमें **'स्थौल्य'** और **'बाह्यत्व'** की असम्भाव्यता को प्रतिपादित किया जा रहा है—

**तत्त्ववैशारदी**

**अत एवास्तु विज्ञानभेद इति चेत्? हन्त भोः, परमसूक्ष्मगोचराणां प्रत्ययानां परस्पर-वार्तानभिज्ञानां स्वगोचरमात्रजागरूकाणां कुतस्त्योऽयं स्थूलावभासः। न च विकल्पगोचरोऽभिलापः, संसर्गाभावाद्विशदप्रतिभासत्वाच्च। न च स्थूलमालोचितं यतस्तदुपाधिकस्य विशदता भवेत्तत्पृष्ठभाविनः। न चाविकल्पवद्विकल्पोऽपि स्वाकारमात्रगोचरः, तस्य चास्थूलत्वान्न स्थूल-गोचरो भवितुमर्हति। तस्माद् बाह्ये च प्रत्यये स्थूलस्य बाह्यस्य चासंभवाद[1]लीकमेव तदा-स्यातव्यम्। न चालीकं विज्ञानादभिन्नम्, विज्ञानस्य तद्वत्तुच्छत्वप्रसङ्गात्। तथा च वेद्यत्वस्या-भेदव्याप्यत्वाभावात्कुतो भेदप्रतिपक्षत्वम्। सहोपलम्भनियमश्च सदसतोरिव विज्ञानस्थौल्ययोः सतोरपि स्वभावाद्वा कुतश्चित्प्रतिबन्धाद्वोपपत्स्यते। तस्मादनैकान्तिकत्वादेतौ हेत्वाभासौ विकल्पमात्रमेव बाह्याभावे प्रसुवाते। न च प्रत्यक्षमाहात्म्यं विकल्पमात्रेणापोद्यते। तस्मात्साधूक्तं कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेनेति। एतेन प्रत्ययत्वमपि स्वप्नादिप्रत्ययदृष्टान्तेन निरालम्बनत्वसाधनमपास्तम्। प्रमेयविकल्पस्त्ववयविव्यवस्थापनेन प्रत्युक्तः। विस्तरस्तु न्याय-कणिकायामनुसरणीय इति तदिह कृतं विस्तरेणेति॥१४॥**

यदि विज्ञानभेद से ज्ञान में **'स्थौल्य'** और **'बाह्यत्व'** की उपपत्ति कही जाय तो यह भी चिन्तनीय है। क्योंकि परमसूक्ष्मविषयक परम्परा अर्थात् एक दूसरे की वार्ता (समाचार, ज्ञान) से असम्बद्ध तथा स्वविषयमात्र में जागरूक अर्थात् अपने ही विषय में सीमित रहने वाले प्रत्ययों अर्थात् ज्ञानों में स्थूलावभास (स्थूलत्व की प्रतीति) कैसे हो सकता है? अर्थात् विज्ञानभेद से भी विज्ञान में स्थौल्य की प्रतीति नहीं हो सकती है। (नाम, जाति, रूप आदि पञ्चविध) संसर्ग का अभाव होने से और स्पष्टतया प्रतिभासित न होने से ज्ञान को सविकल्पक (सविकल्पविषयक) नहीं कहा जा सकता है। ज्ञान में स्थूलता का भान भी नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान के उपाधिभूत बाह्य विषय के पृष्ठभाव से उसकी स्पष्टता होती है। **'निर्विकल्पक'** ज्ञान के समान **'सविकल्पक'** ज्ञान भी स्वाकारमात्र विषय वाला नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञान के अस्थूल होने से वह स्थूलविषय वाला नहीं हो सकता है। इससे बाह्यविषयक ज्ञान में स्थूलता तथा बाह्यता असम्भव होने से उसे तब **'अलीक'** कोटि में ही रखना पड़ेगा। किञ्च **'अलीक'** को **'विज्ञान'** से अभिन्न भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तब अलीक के समान विज्ञान को भी तुच्छ कहने का प्रसंग आयेगा। किञ्च **'वेद्यत्व'** में अभेद-व्याप्यत्व का अभाव होने से कैसे उसमें भेदप्रतिपक्षत्व रह

---

1. क थ द घ न—अलीकमेव तत्, ख ग घ च छ ज झ त—अलीकमेतत्।

सकता है? और **'सहोपलम्भनियम'** सत्-असत् के समान विज्ञान और स्थौल्य के रहने पर भी वे स्वभावतः अथवा किसी प्रतिबन्ध के कारण उत्पन्न होंगे। इसलिये अनै- कान्तिक होने से ये दोनों हेत्वाभास विकल्परूप ही बाह्य पदार्थ के अभाव को उत्पन्न करते हैं। किञ्च प्रत्यक्ष के माहात्म्य को केवल विकल्पज्ञान के द्वारा खण्डित भी नहीं किया जा सकता है। इसलिये भाष्यकार ने युक्तियुक्त कहा है—**'कथम्प्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेनेति।'** इससे स्वप्नादिज्ञान के दृष्टान्त द्वारा प्रत्ययत्व भी निरालम्बनत्व (निर्विकल्पकत्व) का साधक है—यह भी खण्डित हो जाता है। प्रमेय-विकल्प तो **'अवयवी'** की स्थापना करने से ही खण्डित हो जाता है। विधिविवेक की टीका न्यायकर्णिका में यह विषय विस्तारपूर्वक विवेचित हुआ है। अब यहाँ अधिक क्या कहा जाय॥१४॥

**बालप्रिया—**

**'अत एवास्तु विज्ञानभेदः'**—पदार्थ के जितने बाह्य आकार हैं, उतने ही ज्ञान हैं? ऐसी शंका इस वाक्य द्वारा की जा रही है। पृष्ठभावी समस्त ज्ञानों के आकार का संकलनात्मक एक स्थूल विकल्प कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि स्थूल विकल्प के भी साकार होने से स्थौल्य का संयोग नहीं हो सकता है। जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है—

**'तस्मान्नार्थे न च ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः।**
**एकत्र प्रतिषिद्धत्वात् बहुष्वपि न सम्भवः॥**

**'कुतश्चित्प्रतिबन्धाद्वोपपत्स्येते...'**—भाव यह है—मनुष्यों को जैसे प्रमारूप से अनुबिद्ध बुद्धिबोध्य समस्त चाक्षुषज्ञान नियमतः उपलब्ध होता है, किन्तु वह प्रमात्मक ज्ञान घटादिरूप नहीं होता है अर्थात् घटादि बाह्य विषय ज्ञानात्मक नहीं होता है। घटादिविषय तो प्रमाज्ञान के उपायमात्र होते हैं। इसी प्रकार प्रकृत में ज्ञान और विषय में उपाय-उपेयभाव हेतु वाला जो सहोपलम्भ नियम है, वह ज्ञान और विषय के अभेद का साधक नहीं है। अतः **'वेद्यत्व'** और **'सहोपलम्भ'** नियम हेत्वाभास (असद्धेतु) रूप होने से भ्रमज्ञान की पद्धति द्वारा ही घट, पटादि बाह्य विषय के अभाव का बोध कराते हैं, न कि यथार्थतः। अतः विकल्पात्मक ज्ञान के द्वारा बाह्य पदार्थ के अभाव को सिद्ध करना निष्फल प्रयास है, क्योंकि बाह्य पदार्थ का सद्भाव अनुभवसिद्ध है।

**'विस्तरस्तु न्यायकणिकायामनुसरणीयः'**—विज्ञानवादियों से प्रश्न है—विज्ञान के आलम्बनरूप से स्वीकृत जो घट, पटादि बाह्य विषय हैं, वे 'परमाणुरूप' हैं अथवा 'परमाणुसमूहरूप'। प्रथम विकल्प के अनुसार बाह्यार्थ को 'परमाणुरूप' नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि एक स्थूल नीलाभास ज्ञान परमसूक्ष्म परमाणुविषयक नहीं हो

सकता है। और न ही अन्य (स्थूल) रूप से आभास अर्थात् प्रकाशित होने वाला ज्ञान (स्वभिन्न) अन्य सूक्ष्म को विषय करने के लिये समर्थ हो सकता है। अन्यथा आभासज्ञान के सर्वविषयक (सर्वगोचर) होने से सभी के सर्वज्ञ होने का अतिप्रसङ्ग आयेगा। यदि उपरिनिर्दिष्ट असंगति को दूर करने के लिये **'स्थौल्य'** को ज्ञान प्रातिभासिक धर्म कहा जाय तो पूर्वपक्षी का यह कथन भी विकल्प के आगे टिका न रह सकने के कारण युक्तियुक्त नहीं है। विकल्पासहत्व इस प्रकार है—यह 'स्थौल्य' प्रतिभास **'ज्ञान'** का धर्म है अथवा प्रतिभास के समय **'अर्थ'** (विषय) का धर्म है? यदि पूर्व विकल्प के अनुसार 'स्थौल्य' को प्रतिभास 'ज्ञान' का धर्म कहा जाय, तब तो पूर्वपक्षी सन्तुष्ट रहें, क्योंकि ऐसी स्थिति में न तो कोई तुम्हारे प्रति प्रतिकूल आचरण करेगा और न मेरे प्रति अनुकूल आचरण वाला होगा? यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार 'स्थौल्य' को प्रतिभासकाल में **'अर्थ'** का धर्म कहा जाय? तो यह भी कैसे हो सकेगा। इसी का विस्तार किया जा रहा है—एक विज्ञानारूढ, निरन्तर उत्पन्न रूप परमाणु ही क्या **'स्थौल्य'** है? यदि ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो समुचित नहीं है। क्योंकि गन्ध, रस, स्पर्श परमाणुओं से अन्तरित रूप परमाणुओं में होने वाला नैरन्तर्यावभास सान्तराल वृक्षों में होने वाले 'यह एक सघन वन है' इस प्रत्यय के समान भ्रान्तिपूर्ण है। इस पद्धति से घटादि प्रत्ययों में परमाणुविषयता को स्वीकार करने से निर्वाह नहीं हो सकता है। यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार विज्ञानालम्बन-रूप से अभिमत **'बाह्यार्थ'** को परमाणुसमूह से उत्पन्न एक अवयविरूप स्वीकार किया जाय तो अवयवी का परमाणु से अभेद होने पर परमाणु ही अवयवी कहे जायेंगे। अतः इस पक्ष में भी उपरिवर्णित प्रथम विकल्प के दोष ही आयेंगे। यदि अवयवी को परमाणु से भिन्न माना जाय तो इस स्थिति में दोनों में गाय और भैंस के समान अत्यन्त विलक्षणता कहनी होगी, न कि तादात्म्य। अवयवी का परमाणु से समवायसम्बन्ध मानने पर परमाणु अवयवी से सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध होकर ज्ञान को अत्पन्न करता है? इत्यादि अनेक विकल्पों से वह ग्रसित हो जायेगा। इसलिये विज्ञान ही अनादि विचित्र वासना के कारण तत्तद् रूप से भासित होता है, ऐसा कहना चाहिये—ऐसा पूर्वपक्ष है।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ तत्त्ववैशारदीकार ने कहा है—**'प्रमेयविकल्पाश्चेति'** घटादि बाह्य पदार्थ परमाणु से न अत्यन्त भिन्न हैं और न अत्यन्त अभिन्न हैं—इस प्रकार योग के प्रथम पाद के तिरालिसवें **'स्मृति परिशुद्धौ'** सूत्र द्वारा अवयव से भिन्न अवयवी की स्थापना करते हुए वैनाशिकों के 'विज्ञानातिरिक्त बाह्यार्थ खण्डन' का निराकरण किया गया है। योगमत की ओर से विज्ञानवाद का खण्डन इस प्रकार है—

पूर्वपक्षी ने जिस सहोपलम्भनियम से बाह्यार्थ का खण्डन किया है, वह हेतु ही भ्रान्तिकारक है, क्योंकि वह निम्नाङ्कित विकल्प के आगे टिका नहीं रह सकता है। यदि 'ज्ञान' और 'अर्थ' की साहित्य रूप से उपलब्धि होती है, तो हेतु (सहोपलम्भ-नियम) ही विरुद्ध होता हुआ कैसे अभेद को सिद्ध कर सकता है। क्योंकि साहित्य अभेद के विरुद्ध भेद में व्याप्त रहता है। अतः ज्ञान और बाह्यार्थ का अभेद मानने पर वहाँ दोनों का 'साहित्य कथन' उपपन्न नहीं हो सकता है। यदि **'सहोपलम्भनियम'** न कह कर पूर्वपक्षी उसे **'एकोपलम्भनियम'** कहे तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि **'सह'** शब्द एकत्ववाचक नहीं होता है। यदि किसी प्रकार से **'सह'** शब्द को एकत्ववाचक मान भी लिया जाय तो भी प्रश्न है कि ज्ञान और अर्थ की **'एकत्व'** अथवा **'एक'** रूप से उपलब्धि कैसे होती है? प्रथम विकल्प के अनुसार ज्ञान और अर्थ के **'एकत्वोपलम्भ'** को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि विषय के **'बाह्य'** और ज्ञान के **'आन्तर'** होने से उन दोनों की एकत्व रूप से प्रतीति सम्भव ही नहीं है और द्वितीय विकल्प का अनौचित्य इस प्रकार है कि **'एकोपलम्भनियम'** तो उपाय-उपेय-भाव का हेतु होने से (जिसमें विषय उपाय और ज्ञान उपेय होता है) उनके अभेद को सिद्ध नहीं कर सकता है। दूसरी बात यह है कि नीलादि बाह्य पदार्थ को ज्ञानाकार (विज्ञानाभिन्न) मानने पर **'अहम्'** इत्याकारक प्रतिभास अर्थात् ज्ञान होना चाहिये, न कि उससे भिन्न ज्ञान। यदि पूर्वपक्षी कहे कि नीलाकार (बाह्य विषय) ज्ञानस्वरूप होता हुआ भी भ्रान्तिवश भेदरूप से अवभासित होता है—तो पूर्वपक्षी का यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि बाह्य विषय के लिये **'अहम्'** (ज्ञान) शब्द का उल्लेख नहीं किया जाता है। जैसा कि कहा है—**'यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं तद् बहिर्वदव-भासते'**। स्वयं इस वाक्य के अनुसार बाह्यार्थ का अभाव मानने पर **'बहिर्वत्'** यह उपमानोक्ति असङ्गत हो जायेगी। यदि पूर्वपक्षी कहे कि बाह्य पदार्थ न होने पर भी उसकी **'बहिर्वत्'** उपलब्धि को **'बन्ध्यापुत्र'** के समान मान लिया जाय? तो ऐसा मानने के लिये कोई भी बुद्धिमान् पुरुष तैयार नहीं होगा, क्योंकि चैत्र, मैत्रादि बाह्य पदार्थ बन्ध्यापुत्र की भाँति अलीक नहीं हैं। अन्य युक्ति यह भी है कि एक विज्ञान के विषयीभूत घट, पटादि जहाँ 'घटज्ञान' तथा 'पटज्ञान' के रूप से भासित होते हैं, वहाँ भी विद्वान् लोग अर्थभेद और विज्ञानाभेद का ही निश्चय करते हैं। इन दोनों ज्ञानों की कल्पना एकात्मरूप से नहीं की जा सकती है। स्वप्नविषयवत् बाह्यपदार्थ को असत् मानकर भी बाह्यार्थ का खण्डन नहीं किया जा सकता है। क्योंकि स्वाप्निक विषय का बाध होता है और जागरित काल में होने वाले ज्ञान के विषय का बाध नहीं होता है। इस प्रकार बाधाबाध के वैधर्म्य के कारण स्वप्नप्रत्यय वाले दृष्टान्त के द्वारा जाग्रत्प्रत्यय का निरालम्बनत्व सम्भव नहीं है। और पूर्वपक्षी को

भी जाग्रत्प्रत्यय का अबाधितत्व अवश्य स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा स्वप्नप्रत्यय का निरालम्बनत्व कैसे सिद्ध हो सकेगा। जाग्रत्प्रत्यय के द्वारा बाधित होने से ही स्वप्नप्रत्यय का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। और यदि जाग्रत्प्रत्यय को भी बाधित ही कहा जाय, तो फिर उसे स्वप्नप्रत्यय का बाधक ज्ञान नहीं माना जा सकता हैं। क्योंकि बाध्य ही कैसे बाधक हो सकता है? अर्थात् बाध्य होते हुए भी उसे बाधक नहीं कहा जाता है। और इस प्रकार जाग्रत्प्रत्यय को बाध्य मान लेने पर स्वप्न-प्रत्यय का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा और इस स्थिति में उसे साध्यविकल दृष्टान्त कहना पड़ेगा। उपरिनिर्दिष्ट समस्त युक्तियों द्वारा 'विज्ञानातिरिक्त' बाह्य 'पदार्थ' की सत्ता सिद्ध होती है—

'न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः।
नीचेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः॥१४॥

### योगवार्त्तिकम्

सूत्रान्तरमवतारयति—यदेति। यदि सर्वे विकारा अनेकगुणमात्राः तदा कथमेकं शब्द-तन्मात्रम् एकं चक्षुरिति लोकशास्त्रयोर्व्यवहार इति शङ्कावाक्यार्थः। तत्र सिद्धान्तसूत्रम्—परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्। परिणामस्यैकत्वाद्वस्तूनां गुणानां तत्त्वमे[1]कत्वमिति योजना। परमार्थतो नानात्वेऽपि व्यावहारिकेणानित्येन परिणामरूपेण वस्तूनां गुणानामेकत्वव्यवहार इत्यर्थः। अत एव श्रुतिर्व्यावहारिकस्याग्न्याद्यवयविन एकस्यावयवविभागे सति नानात्वमेव पारमार्थिकमुक्तवती—यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्य, अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव [2]सत्यमिति।

भाष्यकार सूत्रान्तर को अवतरित करते हैं—'यदेति'।

शङ्का—जब सभी महदादि विकार (कार्य, धर्म) अनेकगुणात्मक (त्रिगुणात्मक) ही हैं तो फिर एक तत्त्व को 'शब्दतन्मात्र' और दूसरे तत्त्व को 'चक्षु' नाम से लोक तथा शास्त्र में कैसे व्यवहृत किया जाता है? यह व्यासभाष्य के शंकावाक्य का अर्थ है।

समाधान—समाधानार्थ सिद्धान्तसूत्र इस प्रकार है—'परिणामेति'। परिणाम के एक होने से गुणात्मक वस्तुओं की तात्त्विक एकता मानी जाती है, ऐसी सूत्रार्थ-योजना है। पारमार्थिक दृष्टि से शब्दतन्मात्र तथा चक्षुरादि कार्यों में भिन्नता (नानात्व) है, तथापि व्यवहारतः परिणामरूप से अनित्य होने के कारण गुणात्मक वस्तुओं में एकत्व व्यवहार किया जाता है। अत एव श्रुति भी व्यावहारिक अग्न्यादि एक

---

1. ग घ च छ—एकत्वं उपलभ्यते, क ख—एकत्वं नोपलभ्यते,
2. ख—अनेन सूत्रद्वयेन अनेकगुणा एव प्रकृतिरिति लब्धम्। अतः प्रकृतेरेकत्वश्रुतिस्मृतयः पूर्वोक्तरीत्या शंकोच्या इति (सत्यमिति—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—अनेन...शंकोच्या इति नोपलभ्यते।

अवयवी के अवयव का विभाग होने पर नानात्व को ही पारमार्थिक कहती है— 'यदग्ने...सत्यम्' (छा. उप. ६/४/१) अर्थात् 'अग्नि का जो रोहित (लाल) रूप है वह तेज का ही रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जल का ही रूप है और जो कृष्ण रूप है वह अन्न का ही रूप है। इस प्रकार अग्नि से अग्नित्व निवृत्त हो गया। अतः केवल तीन रूप हैं, इतना ही सत्य है।'

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार भाष्य की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

### योगवार्त्तिकम्

परिणामस्यैकत्वं भाष्यकारो दर्शयति—प्रख्येति। ग्रहणात्मकानां सात्त्विकान्तःकरणरूपेण परिणतानां बाह्यकरणभावेन श्रोत्रमित्येकः परिणाम इत्यर्थः। तेन महदहंकाररूपेणापि परिणामैकत्वकथनान्न न्यूनता। अत्र श्रोत्रशब्देनान्यान्यपि ज्ञानेन्द्रियाण्युपलक्षणीयानि। ग्राह्यात्मकानामिति तामसान्तःकरणरूपेण परिणतानामित्यर्थः। अत्र शब्द इति शब्दतन्मात्ररूपं द्रव्यं मूर्त्तिसमानजातीयानामित्यागामिभाष्येण द्रव्यत्वलाभात्। एतदपि रसादितन्मात्राणामुपलक्षणम्। [1]एवं कर्मात्मकानां राजसान्तःकरणरूपेण परिणतानां कारणान्तर्भावेनैकैकः परिणामो वागादीन्द्रियमित्यपि बोध्यम्। अतः परं स्थूलभूतरूपेणैकं परिणामं दर्शयति—शब्दादीनामिति। मूर्त्तिः काठिन्यं पृथिवीत्वमिति यावत्। मूर्त्या सजातीयानां शब्दादितन्मात्राणाम् एकः परिणामः पृथिवीपरमाणुः स्थूलपृथिव्याः परमसूक्ष्मावस्थेत्यर्थः। [2]इदं चाग्रे प्रतिपादयिष्यामः। अयमेव सूक्ष्मशब्देन सांख्ये प्रोक्तः—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।

इत्यत्र। अयं च परमाणुर्वैशेषिकैस्त्रसरेणुशब्देनोच्यते, अस्माभिस्तु प्रत्यक्षपृथिव्याः परमसूक्ष्मत्वात्पृथिवीपरमाणुरिति। गुणेषु पृथिवीत्वादिव्यवहाराभावेनाणुत्वेऽपि न पृथिव्याद्यणुत्वव्यवहार इति। तस्य च पार्थिवपरमाणोर्निरवयवत्वभ्रम[3]निरासाय पञ्चतन्मात्राण्येवावयवा इत्याह—तन्मात्रावयव इति। बहुव्रीहि[4]विग्रहः।

---

1. क ग घ च छ—एवं कर्मात्मकानां राजसान्तःकरणरूपेण परिणतानां कारणान्तर्भावेनैकैकः परिणामो वागादीन्द्रियमित्यपि बोध्यम् उपलभ्यते, ख—एवं...बोध्यं नोपलभ्यते।
2. अ—क ग घ च छ—इदं चाग्रे प्रतिपादयिष्यामः...मणुत्वव्यवहार इति उपलभ्यते, ख—इदं...इति नोपलभ्यते।
   आ—क घ च छ—उच्यते, ग—परिभाष्यते।
   इ—क च छ—पृथिव्यां, ग घ—पृथिव्यादि०।
3. क ग घ च छ—निरासाय पञ्चतन्मात्राण्येवावयवा इत्याह—तन्मात्रावयव इति। बहुव्रीहिविग्रहः; ख—निरासाय—तन्मात्रावयव इति। तन्मात्राणि अवयवाः अस्येति बहुव्रीहिः।
4. ख—अत्र मूर्त्तिसजातीयानामिति बहुवचनात्। त्रिभिस्तन्मात्रैः परमाणूत्पत्तिरवगम्यते। न तु तन्मात्रेषु पृथिवीत्वाद्यंगीकारे तान्येव भूतपरमाणवो भवन्ति तत्कथमुच्यते तैर्भूतपरमाणुरारभ्यत इति नैवं गन्धादिमत्त्वमात्रेण तन्मात्रेषु सूक्ष्मपृथिव्यादिव्यवहारात्। शान्तादिविशेषवतां विशेषाख्यानां

भाष्यकार परिणाम के एकत्व को प्रदर्शित करते हैं—**'प्रख्येति'। 'ग्रहणात्मक'** अर्थात् सात्त्विक अन्तकरण के रूप से परिणत ज्ञान, क्रिया तथा स्थिति स्वभाव वाले सत्त्वादि अनेक गुणों का बाह्यकरण रूप से एक परिणाम श्रोत्रादि इन्द्रिय है। इससे महत्, अहंकार रूप से भी परिणाम की एकता कहने से न्यूनता नहीं आती है। यहाँ 'श्रोत्र' शब्द से अन्यान्य (त्वगादि) ज्ञानेन्द्रियाँ भी उपलक्षित होती हैं। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—**'ग्राह्यात्मकानामिति'। 'ग्राह्यात्मक'** शब्द का अर्थ तामस अन्तःकरणरूप से परिणत गुण अर्थात् तामस अन्तःकरण के रूप से परिणत गुणों का शब्दतन्मात्ररूप से एक परिणाम शब्दादिरूप विषय है। यहाँ **'शब्द'** इस पद से शब्दतन्मात्ररूप द्रव्य का ग्रहण होता है, क्योंकि (प्रकृत सूत्र के) **'मूर्त्तिसमानजातीया-नाम्'** इस आगामी भाष्य के द्वारा **'शब्द'** तन्मात्र का द्रव्यत्व सिद्ध किया गया है। शब्दतन्मात्र भी रसादितन्मात्राओं का उपलक्षक (संग्राहक) है। इसी प्रकार राजस अन्तःकरण के रूप से परिणत कर्मात्मक गुणों का कारणान्तर्भाव (करण वर्ग के अर्न्तगत) रूप से वागादि इन्द्रियरूप एक-एक (पृथक्-पृथक्) परिणाम भी होता है, ऐसा समझना चाहिये। इससे आगे स्थूलभूतरूप से होने वाले एक परिणाम को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं—**'शब्दादीनामिति'। 'मूर्त्तिः'** शब्द का अर्थ **'काठिन्य'** है अर्थात् इससे पृथिवीत्व को बतलाया गया है। अतः काठिन्यरूप से सजातीय शब्दादि-तन्मात्राओं का एक परिणाम पृथिवीपरमाणु है, जो स्थूल पृथ्वी की परम सूक्ष्मा-वस्था है, यह बात आगे स्पष्ट की जायेगी। स्थूल के इस परम सूक्ष्मावस्थारूप परमाणु को सांख्यशास्त्र में **'सूक्ष्म'** शब्द से कहा गया है—**'सूक्ष्मा...विशेषाः स्युः'** (सां. का. ३९) अर्थात् 'सूक्ष्म शरीर, माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर तथा पञ्च महाभूत—ये तीन प्रकार के स्थूल विषय होते हैं।' और योगसम्मत इस **'परमाणु'** को वैशेषिक लोग **'त्रसरेणु'** शब्द से कहते हैं। हम लोग तो प्रत्यक्षीभूत (स्थूल) पृथिवी की अपेक्षा परम सूक्ष्म होने से शब्दादितन्मात्राओं के एक परिणाम को **'पृथिवी-परमाणु'** कहते हैं। किन्तु गुणों में पृथिवीत्वादि का व्यवहार नहीं देखा जाता है। अतः अणु (सूक्ष्म) होने पर भी पृथिवी आदि के लिये **'अणुत्व'** का व्यवहार नहीं किया जाता है। और पार्थिव परमाणु को कोई भ्रमवश निरवयव न समझ ले, इस भ्रम के निरासार्थ बतलाया जा रहा है कि परमाणु तन्मात्रात्मक अवयव वाला ही होता है—**'तन्मात्रावयव इति'। 'तन्मात्रावयव'** में बहुव्रीहि समास है। इसका विग्रह है **'तन्मात्राणि अवयवाः यस्य स इति तन्मात्रावयवः, पृथिवीपरमाणुः'।**

सम्प्रति, महाभूतों में परिणामैकत्व को प्रदर्शित किया जा रहा है—

---

**स्थूलभूतानां मध्ये परमसूक्ष्मस्यैव तु परमाणुशब्देन वचनादिति ( विग्रहः—पश्चात् )** उपलभ्यते, क ग घ च छ—**अत्र...वचनादिति** नोपलभ्यते।

## योगवार्त्तिकम्

महा[1]भूतादिरूपपरिणामेष्वप्येकत्वं दर्शयति—[2]तेषामिति। एवमिति। एवं भूतान्तरेष्वपि जलादिषु स्नेहादिजातीयानि जलत्वतेजस्त्ववायुत्वाकाशत्वजातीयानि तन्मात्राणि गृहीत्वा सामान्यं सजातीयानामनेकेषां धर्मभूत एकविकारारम्भ उपपादनीय इत्यर्थः। [3]तद्यथा गन्धतन्मात्रं वर्जयित्वा चतुस्तन्मात्राणां स्नेहजातीयानामेकः परिणामो जलपरमाणुः तेषां च महाजलादिः, एवं गन्धरसौ वर्जयित्वा औष्ण्यजातीयानां त्रितन्मात्राणां तेजोऽणुस्तेभ्यो महातेजआदि, एवं गन्धरसरूपाणां वर्जनाद् द्वाभ्यां वाय्वणुस्तेभ्यो महावाय्वादिः, एवं शब्दतन्मात्रादहङ्कारांशसहकृतादाकाशाणुस्तेभ्यो महाकाशादिरिति। इदमत्रावधेयम्—शब्दादीनां मूर्त्तिसजातीयानामित्यादिवाक्यादत्र दर्शनेऽयं सिद्धान्तः—शब्दादितन्मात्रपञ्चके काठिन्यस्नेहादिव्यङ्ग्याः पृथिवीत्वादिजातयः सन्ति। तत्र पृथिवीजातीयैः शब्दादिगन्धान्तपञ्चतन्मात्रैः पृथिवीपरमाणुरारभ्यते, पृथिव्यां पञ्चगुणोपलम्भात्; एवं जलजातीयैः शब्दादिरसपर्यन्तैश्चतुस्तन्मात्रैर्जलपरमाणुः, एवं तेजोजातीयैः शब्दादिरूपान्तत्रितन्मात्रैस्तेजःपरमाणुः, एवं वायुजातीयाभ्यां शब्दस्पर्शतन्मात्राभ्यां वायुपरमाणुः, एवमाकाशजातीयाच्छब्दतन्मात्रादहङ्कारसहकृतादाकाशाणुर्जायते। एवं परमाणुगणोत्पत्त्यनन्तरं तेभ्य एवाकाशादिक्रमेण पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यन्ते। श्रुतौ चाकाशादिक्रमेण महाभूतोत्पत्तिसिद्धेरिति समानतन्त्रन्यायेन च सांख्येऽपीत्थमेव सिद्धान्त उन्नीयते।

सम्प्रति, भाष्यकार महाभूतादिरूप परिणामों में भी अनेक गुणों की एक रूप से परिणामिता को प्रदर्शित करते हैं—'तेषामिति।' उन अनेक गुणों का एक परिणाम पृथिवी, गौ, वृक्ष तथा पर्वत इत्यादि हैं। 'एवमिति।' इसी प्रकार जलादि भूतान्तरों में भी स्नेहादिजातीय जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व तथा आकाशत्व जाति वाले तन्मात्राओं को लेकर 'सामान्य' अर्थात् अनेक सजातीयों का धर्मभूत एक विकारारम्भ होता है,

---

1. क ख ग घ—पृथिव्यादि०, च छ—भूतादि०।
2. ख—तेषां च पृथिवीपरमाणूनां सङ्गतानां महापृथिव्यादिरूप एकैकः परिणामोऽवयवबहुत्वाल्पत्वादिनिमित्तको भवतीत्यर्थः। ननु तन्मात्रेभ्य एव संहतेभ्यो महापृथिव्यादिकमुपपाद्यताम्, अलं पृथिवीपरमाणुकल्पनयेति चेन्न। स्वर्गादिवच्छास्त्रसिद्धमर्थे गौरवस्य प्रामाणिकत्वेन कुतर्कस्यानवकाशात्। अन्यथा वैशेषिकनयेऽपि परमाणुभ्य एव त्रिसरेणूत्पत्तौ लाघवेन द्व्यणुककल्पनाऽनौचित्यापत्तेः। तेषामिव च यथाकथञ्चिदनुमानमस्माकमप्यस्त्येव। यथा पृथिव्यादिमहाभूतानि विशेषाख्यभूतोपादानकानि प्रत्यक्षत्वे सति भूतत्वात् घटादिवदिति (तेषामिति—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—तेषां च...घटादिवदिति नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ—तद्यथा गन्धतन्मात्रं...तस्माद्वायुरेवंक्रमेण सृष्टिः स्मर्यते, ख—त्रितन्मात्रैः परमाणूत्पत्तिरित्यादिसर्वं पूर्ववत्। अत्र तन्मात्रेभ्यः पृथिव्यादिपरमाणूत्पत्तिश्च जलादिपूर्वपूर्वभूतैरहंकारसहितैरुपष्टम्भात् प्रत्येतव्यः।

ऐसी उपपत्ति लग जाती है। उदाहरणार्थ—गन्धतन्मात्र को छोड़कर स्नेहजातीय चार तन्मात्राओं का एक परिणाम 'जलपरमाणु' है और उन जलपरमाणुओं का महा-जलादिरूप परिणाम होता है। इसी प्रकार गन्धतन्मात्र तथा रसतन्मात्र को छोड़कर औष्ण्यजातीय तीन तन्मात्राओं का एक परिणाम 'तेजस्परमाणु' है तथा उनका 'महातेजस्' रूप परिणाम होता है। इसी प्रकार गन्धतन्मात्र, रसतन्मात्र तथा रूप-तन्मात्राओं को छोड़कर वहनत्वजातीय दो परमाणुओं का एक परिणाम 'वायवीय-परमाणु' है और उनसे 'महावायु' रूप परिणाम होता है। इसी प्रकार अहंकारांश-सहकृत शब्दतन्मात्र से 'आकाश-अणु' रूप एक परिणाम होता है और उससे महाकाशादिरूप परिणाम होता है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि **'शब्दादीनां मूर्त्तिसजातीयानाम्'** इस वैयासिक वाक्य से योगदर्शन में यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि शब्दादितन्मात्रपञ्चक में काठिन्य, स्नेहादि से व्यङ्ग्य (अभिव्यक्त) 'पृथिवीत्व' आदि जातियाँ हैं। उनमें पृथिवीजातीयक वाले शब्दतन्मात्र से लेकर गन्धतन्मात्र संज्ञक तन्मात्राओं से 'पृथिवीपरमाणु' का आविर्भाव (आरम्भ) होता है, क्योंकि पृथिवी में पाँचों शब्दादिरूप (पञ्चगुण) की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार जलजातीय वाले शब्द से लेकर रसपर्यन्त चार तन्मात्राओं से 'जल- परमाणु' का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार तेजोजातीय वाले शब्द से लेकर रूपपर्यन्त तीन तन्मात्राओं से 'तेजःपरमाणु' का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार वायुजातीय वाले शब्द और स्पर्श संज्ञक दो तन्मात्राओं से वायुपरमाणु का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार आकाशजातीय वाले अहंकारसहकृत शब्दतन्मात्र से 'आकाश-अणु' उत्पन्न होता है। इस प्रकार (उपरिनिर्दिष्ट) परमाणुसमूह की उत्पत्ति के पश्चात् उनसे ही आकाशदि क्रम से पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। श्रुति के द्वारा भी आकाशादि क्रम से महाभूतों की उत्पत्ति सिद्ध होती है। और 'समानतन्त्र' होने से योग की भाँति सांख्य में भी यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित होता है।

पुराणसम्मत सृष्टि-क्रम को उद्धृत करते हुए वार्त्तिककार आगे कहते हैं—

**योगवार्त्तिकम्**

**विष्णुपुराणादौ तु शब्दतन्मात्रादाकाशमाकाशात् स्पर्शतन्मात्रं तस्माद्वायुरेवंक्रमेण सृष्टिः स्मर्यते। यथा विष्णुपुराणेऽहंकारसृष्ट्यनन्तरम्—**

[1]तथा प्रधानेन महान्महता स तथावृतः ।
भूतादिस्तु विकुर्वाणः सर्गं तन्मात्रिकं ततः ॥

1. क ग घ च—यथा, ख छ—तथा।

ससर्ज शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दलक्षणम् ।
शब्दमात्रं तदाकाशं भूतादिः [1]स समावृणोत् ॥
आकाशस्तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज ह ।
बलवानभवद्वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः ॥

इत्यादिक्रमेण पञ्चभूतसृष्टिरुक्ता। [2]तस्या अयमर्थः—सोऽहङ्कारो महताऽऽवृत आपूरितः यथा पृथिवी जलेनानुविद्धा भवति तद्वत्, ततो महताऽऽपूरणाद् द्वाभ्यां मिलित्वा भूतादिस्तामसाहंकारः तन्मात्रिकं सर्गं तन्मात्राणां सृष्टिं ससर्ज चकार, तदनन्तरं स एव भूतादिः शब्दतन्मात्रात्स्वद्वितीयात् शब्दगुणकम् आकाशं ससर्जेत्यनुषज्यते। तथा चाहङ्कारशब्दतन्मात्राभ्यां मिलित्वाऽऽकाशं सृज्यते न तु तन्मात्रान्तरमपेक्ष्यत इति सिद्धम्। तच्च शब्दगुणकमाकाशं भूतादिनाऽहङ्कारेणापूरितं भूत्वा स्पर्शमात्रं ससर्ज। अत्र चाकाशेऽहङ्कारस्यापि कारणत्ववचनादपरभूतचतुष्केऽपि तत्तन्मात्राणामहङ्कारसहितानामेव हेतुत्वमवगम्यते, युक्तिसाम्यात्। एतत्सूचनायैव भूतादिशब्देनाहङ्कारोपन्यासः। ततश्च स्पर्शतन्मात्राद् बलवान्महावायुरभवदिति। एवं क्रमेण तत्तन्मात्राधिक्येन तेजआदिभूतत्रयोत्पत्तिवाक्यान्यपि तत्र व्याख्येयानि।

विष्णुपुराणादि शास्त्रों में शब्दतन्मात्र से आकाश, आकाश से स्पर्शतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र से वायु—इत्यादि क्रम से सृष्टि वर्णित हुई है। जैसे विष्णुपुराण में अहंकारतत्त्व की उत्पत्ति के पश्चात्—'तथा प्रधानेन...गुणो मतः' (१/२/३७-३९) अर्थात् 'जिस प्रकार प्रधानतत्त्व द्वारा महत्तत्त्व आवृत्त होता है, उसी प्रकार अहंकार महत्तत्त्व से आवृत्त रहता है। तामस अहंकार से क्षुभित अर्थात् कार्योन्मुख होकर शब्दतन्मात्र तथा शब्दतन्मात्र से (शब्दगुणक) आकाश की सृष्टि की और दोनों को आवृत्त कर लिया। आकाश ने क्षुमित होकर स्पर्शतन्मात्र की सृष्टि की और उससे स्पर्शगुणविशिष्ट बलवान् वायु की उत्पत्ति हुई और आकाश ने वायु को आवृत्त कर लिया'—इत्यादि क्रम से पञ्च महाभूत की उत्पत्ति बतलाई गई है।

वार्त्तिककार स्वयं विष्णुपुराणवर्णित सृष्टि (से सम्बन्धित उद्धृत श्लोकों) का अर्थ करते हैं—'अहंकार' तत्त्व महत्तत्त्व से उसी प्रकार आपूरित (आवृत) रहता है, जिस प्रकार पृथ्वी जल से अनुविद्ध (युक्त) रहती है। इस प्रकार प्रकृति से महत् और महत् से अहंकार और तदनन्तर महत् से आपूरित होने से सात्त्विक-अहंकार और राजस-अहंकार दोनों से मिलकर 'भूतादि' अर्थात् तामस-अहंकार ने 'तन्मात्रिक सर्ग' अर्थात् तन्मात्राओं की सृष्टि की। तत्पश्चात् उसी 'भूतादि' अर्थात् तामस

---

1. क ख ग च छ—स समावृणोत्, घ—सप्तमावृणोत्।
2. क ग घ च छ—तस्या अयमर्थः...तत्र व्याख्येयानि। ख—अत्र वाक्ये स्पर्शादितन्मात्रकारणत्वमप्याकाशादीनामहंकारोपष्टम्भकत्वमात्रेणैवोक्तम्। तन्मात्राणामहंकारिकत्वात् भूतानां केवलविकृतित्वसिद्धान्ताच्चेति दिक्।

अहंकार ने अपने से भिन्न शब्दतन्मात्र (की सहायता) से शब्दगुणक (शब्दविषयक) 'आकाश' भूत को उत्पन्न किया, ऐसा वाक्यान्वय किया जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अहंकार और शब्दतन्मात्र से मिलकर आकाश की उत्पत्ति होती है, न कि 'आकाश' भूत की उत्पत्ति में तदतिरिक्त तन्मात्र की अपेक्षा रहती है। और उस शब्दगुणक आकाश ने 'भूतादि' अर्थात् तामस अहंकार से आपूरित (अनुविद्ध) होकर स्पर्शतन्मात्र को उत्पन्न किया। यहाँ 'आकाश' भूत की उत्पत्ति में (शब्दतन्मात्र के साथ) अहंकार को भी कारण बतलाया जाने से अन्य वाय्वादि चार भूतों की उत्पत्ति में भी अहंकारसंवलित तन्मात्राओं को ही 'कारण' रूप से समझना चाहिये, क्योंकि यहाँ युक्तिसाम्य है। इस तथ्य को सूचित करने के लिये ही (श्लोक में) 'भूतादि' शब्द से अहंकार का ग्रहण किया गया है। तदनन्तर स्पर्शतन्मात्र से बलवान् महावायुसंज्ञक भूत उत्पन्न हुआ। इस क्रम से एक-एक तन्मात्र की अधिकता से तेज आदि भूतत्रय की उत्पत्ति के प्रतिपादक वाक्यों को भी विष्णुपुराण में वर्णित किया गया है।

सम्प्रति, विज्ञानवादी बौद्धों के एतत्सन्दर्भीय मत के खण्डनार्थ आगे विचार किया जा रहा है—

### योगवार्त्तिकम्

कार्यकारणयोर्विवेकप्रकारः प्रदर्शितः। इदानीं यथोक्तं कार्यकारणरूपं सर्वं वस्त्वसत् चित्त-कल्पितमात्रं स्वप्नवदिति य आहुस्तन्निषिध्य चित्ततदर्थयोर्विवेकप्रकारं दर्शयिष्यति सूत्रकारः, तत्सूत्रमवतारयितुमुपक्रमते—नास्त्यर्थ इति। विज्ञानवादिन आहुः—बाह्यवस्तुनः प्रातीतिक्येव सत्ता; परमार्थतस्तु गुणा वा तत्परिणामो वा अतीतादिकं वा किमपि नास्ति—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।<br>
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥<br>
यथा रथादयः स्वप्ने भान्त्येव [1]नैव सन्ति ते ।<br>
तथा जाग्रदवस्थायां भूतानि च न सन्ति वै ॥

इत्यादिश्रुतिस्मृतिपरम्परयैव बाह्यवस्तुनिराकरणात्। तथा युक्तिरप्यस्ति—स्वप्नादौ तावत् विषयं विनाऽपि ज्ञानमुभयवादिसिद्धम्, अनुभवविषयत्वं विना हि विषयः परैरपि न स्वी-क्रियते, अत उभयवादिसिद्धेन ज्ञानेनैव स्वप्नादिवत्सर्वव्यवहारोपपत्तौ ज्ञानातिरिक्तार्थकल्पने गौरवमिति।

तामिमां युक्तिं प्रदर्शयन् स्वमतमुपन्यस्यति—नास्त्यर्थ इत्यादिना। विज्ञानविसहचरो विज्ञानाभावकालीनोऽर्थ उभयसिद्धो नास्ति, ज्ञानं त्वर्थाभावकालीनं स्वप्नादौ कल्पितमुभय-वादिसिद्धमित्यनया दिशा—एतद्युक्तिमार्गेण ये वस्तुस्वरूपमत्यन्तमपन्हुवते। य इत्याद्यपन्हुवत

1. क ख घ च छ—एव, ग—चा

इत्यन्तं विवृणोति—ज्ञानेत्यादिना आहुरित्यन्येन। दिक्शब्दसूचिताश्च पराभिप्रेतश्रुत्यादयः पूर्वोक्ताः, तथा युक्त्यन्तराणि च,

सहोपलम्भनियमादभेद नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥

इत्यादीनि। तन्मतं स्वयमादौ निराकरोति—ते तथेति। ते विज्ञानवादिन एवासन्त इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—प्रत्युपस्थितमित्यादिना स्युरित्यन्तेन। अस्यार्थः—इदं सर्वं वस्तु स्वमाहात्म्येन सन्निकर्षादिनैवोपस्थितं न तु दोषादिना, स्वप्नवदत्यन्तबाधादर्शनात्। अतः कथं वस्तुस्वरूपं गृहीत्वाऽपि प्रमाणरूपेण स्वप्नज्ञानरूपदृष्टान्तबलेन वस्तुस्वरूपमपलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः, तेषां ज्ञानस्यापि भ्रमत्वेन तद्वाक्यस्य यथाऽर्थवाक्यार्थज्ञानाजन्यत्वात्, तद्वाक्यार्थस्यापलापाच्च तद्वाक्यस्याश्रद्धेयत्वादित्यर्थः। न हि जाग्रज्ज्ञानस्य स्वप्नदृष्टान्तेन विषयापलापे क्रियमाणे स्वाभिप्रेतस्य यत्किंचिज्ज्ञानस्य विषयः सन्नित्यमप्युभ्युपगन्तुं शक्यते प्रामाणिकैरित्यतस्त एव नास्तिकाः, न पुनरर्थो नास्तीति भावः। एतेनाधुनिकानां दृष्टिसृष्टिवादिनां वेदान्तिब्रुवाणामपि मतं प्रच्छन्ननास्तिकतयोपेक्षणीयम्, स्वप्नादिदृष्टान्तेन श्रीहर्षादीनामसत्खण्डनेन च वेदान्तज्ञानतज्जन्यज्ञानयोरपि भ्रमत्वापत्त्या वेदान्तप्रामाण्यासिद्धौ तत्प्रतिपाद्यब्रह्मासिद्धिप्रसङ्गादिति। नन्वनुभवस्वरूपस्यात्मनः स्वप्रकाशत्वात् न तत्र प्रमाणापेक्षेति चेत्? न; तथा सति वेदान्तश्रवणवैयर्थ्यापत्तेः। अथापूर्णत्वसद्वितीयत्वभ्रमनिरासार्थं श्रवणापेक्षेति चेत्? न, अप्रमाणीभूतेन वेदान्तेनापूर्णत्वाद्यभावस्यासिद्ध्यापत्तेः। ननु श्रुत्या स्वार्थे बोधिते सति पश्चात्तद्बाधेऽप्यक्षतिः, श्रुतिप्रवृत्तेः प्राक् अबाधितमेव सर्वमिति? मैवम्—श्रुतिप्रामाण्यग्राहकानुमानादीनामप्यप्रामाण्ये स्वप्रमाणीभूतां बाधितां च श्रुतिम् उत्पादितज्ञानामपि प्रामाण्यसंशयाहितः स्वार्थसंशयः कथं नाजागलस्तनवत् विफलीकुर्यादिति दिक्॥१४॥

इस प्रकार कार्य-कारण में भेद का प्रकार प्रदर्शित किया गया। सम्प्रति, पूर्वोल्लिखित कार्य-कारणरूप निखिल वस्तु 'असत्' अर्थात् स्वाप्निक पदार्थ की तरह चित्त से कल्पित मात्र हैं—ऐसा जो लोग कहते हैं, उनके मत का खण्डन करके सूत्रकार **'चित्त'** और उसके विषयभूत **'पदार्थ'** के अन्तर को प्रदर्शित करेंगे। अतः इस सिद्धान्त के प्रतिपादक सूत्र को अवतरित करने के लिये भाष्यकार भूमिका बांध रहे हैं—**'नास्त्यर्थ इति'**।

**पूर्वपक्षः विज्ञानवादी बौद्धों की ओर से—**

विज्ञानवादियों का कहना है कि बाह्य वस्तु की प्रातीतिकी सत्ता ही है। अर्थात् वस्तु न होते हुए भी उसकी प्रतीतिमात्र होती है। तात्त्विक (पारमार्थिक) दृष्टि से सत्त्वादि गुण, उनका महदादिरूप कार्यात्मक परिणाम अथवा महदादिरूप धर्मों की अतीतादि अवस्थाएँ कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि—**'न निरोधो...सन्ति वै'** (आत्मोपनिषद् ३१) अर्थात् 'न निरोध अर्थात् प्रलय होती है, न उत्पत्ति अर्थात् सृष्टि होती है, न

कोई साधक बद्ध होता है, न कोई मोक्ष-प्राप्ति का इच्छुक होता है और न कोई मुक्त होता है, यही पारमार्थिक स्थिति है। जिस प्रकार स्वप्न में दिखलाई पड़ने वाले रथादि पदार्थों की वास्तविक सत्ता नहीं होती है। उसी प्रकार जाग्रदवस्था में भी निश्चितरूप से पदार्थ नहीं होते हैं'—इत्यादि श्रुति-स्मृति-शास्त्रों की परम्परा से ही बाह्य वस्तु का निराकरण किया गया है। इस विषय में युक्ति भी है—स्वप्नादि में विषय न होते हुए भी पूर्वपक्षी और उत्तरपक्षी दोनों ज्ञान को स्वीकार करते हैं और अनुभव के अविषयीभूत (अनुभव का विषय बने विना) विषय को तो परवादी भी स्वीकार नहीं करते हैं। अतः उभयवादिसिद्ध ज्ञान से ही स्वप्नादि की तरह सर्व व्यवहार की उपपत्ति हो जाने पर ज्ञानातिरिक्त बाह्य विषय (अर्थ) की कल्पना करने में गौरव है। (भाव यह है कि जिस प्रकार बाह्य विषय के न रहने पर भी स्वाप्निक ज्ञान को बौद्ध और सांख्य-योग वाले दोनों वादी स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार अन्य अवस्थाकालिक ज्ञान भी बाह्य विषय के विना निष्पन्न हो जाता है और ज्ञान की उभयत्र निष्पत्ति में ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को विज्ञानरूप ही मानना चाहिये)।

विज्ञानवादी बौद्धों की उपरिनिर्दिष्ट युक्ति को प्रदर्शित करते हुए भाष्यकार योगसम्मत स्वमत को उपन्यस्त करते हैं—**'नास्त्यर्थ इत्यादिना।'** **'विज्ञानविसहचर'** अर्थात् विज्ञानाभावकालीन पदार्थ उभयवादिसिद्ध नहीं है और स्वप्नादि में अर्थाभाव-कालीन ज्ञान **'कल्पित'** अर्थात् उभयवादिसिद्ध है—इस दिशा से अर्थात् युक्तिमार्ग से विज्ञानवादी बौद्ध लोग वस्तुस्वरूप अर्थात् उसके विज्ञानातिरिक्त बाह्य रूप का अत्यन्त अपलाप करते हैं। भाष्य के **'इत्याद्यपह्नुवत इत्यन्तं'** वाक्यांश को भाष्यकार स्वयं **'ज्ञानेत्यादिना...आहुरित्यन्तेन'** से खोलते हैं। भाष्य में प्रयुक्त **'दिक्'** शब्द के द्वारा परवादी द्वारा मान्य पूर्वोल्लिखित **'न निरोधो'**...इस प्रकार की श्रुत्यादियों तथा निम्न लिखित अपर युक्तियों को इंगित किया गया है—**'सहोपलम्भ...द्वये'**। श्लोक का अर्थ है—'एक साथ प्राप्त होने का (इन दोनों में) नियम है। इसलिये नील (क्षणिक पदार्थ) और उसके ज्ञान में कोई भेद नहीं है। भेद तो भ्रान्त ज्ञान के कारण एक चन्द्र में (दो चन्द्र के) भ्रम की तरह दृष्टिगोचर होता है।'

**उत्तरपक्षः योगाचार्यों की ओर से—**

भाष्यकार स्वयं पूर्वपक्षी बौद्धों के मत का सर्वप्रथम निराकरण करते हैं—**'ते तथेति।'** बाह्य पदार्थ को ज्ञानातिरिक्त न मानने वाले विज्ञानवादी बौद्ध ही स्वयं **'असत्'** हैं अर्थात् प्रामाणिक नहीं हैं। भाष्यकार इसमें कारण बतलाते हैं—**'प्रत्युप-स्थितमित्यादिना...स्युरित्यन्तेन।'** वैयासिक वाक्य का अर्थ यह है—पुरोदृश्यमान निखिल बाह्य पदार्थ **'स्वमाहात्म्य'** अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के द्वारा ही उपस्थित होते हैं, न

कि ऐन्द्रिक दोषादि से, क्योंकि स्वाप्निक पदार्थ के बाध की तरह जाग्रदादिकालिक पदार्थ का अत्यन्त बाध नहीं देखा जाता है। अतः प्रमाणरूप से बाह्य पदार्थ का तात्त्विक (वास्तविक) स्वरूपग्रहण करके भी स्वप्नज्ञानरूप दृष्टान्तबल से बाह्य-पदार्थ के स्वरूप का अपलाप करने वाले बौद्ध लोग किस प्रकार श्रद्धास्पद (प्रामाणिक) हो सकते हैं? अर्थात् बौद्धवचन अप्रामाणिक हैं। इन विज्ञानवादी बौद्धाचार्यों का ज्ञान भी भ्रमपूर्ण होने से उनके वाक्य यथार्थ वाक्यार्थज्ञान के जनक कैसे हो सकते हैं? स्वप्नदृष्टान्त से जाग्रत् ज्ञान के विषय का अपलाप करने पर वे स्वाभिप्रेत 'यत्किञ्चित् ज्ञान का विषय होता है' ऐसा स्वीकार करने में (अर्थात् विज्ञान के विषय को अङ्गीकार करने में) समर्थ नहीं हो सकते हैं, इसलिये प्रामाणिकों द्वारा वे नास्तिक कहे जाते हैं, न कि 'बाह्य पदार्थ नहीं हैं, ऐसा स्वीकार करने से वे 'नास्तिक' पुकारे जाते हैं। इससे दृष्टिसृष्टिवादी आधुनिक वेदान्तिब्रुवों का मत भी प्रच्छन्न नास्तिकतापूर्ण होने से उपेक्षणीय है। अर्थात् दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्ती भी प्रच्छन्न नास्तिक हैं। अतः वे भी श्रद्धेयास्पद नहीं हैं, क्योंकि स्वप्नादि के दृष्टान्त से और श्रीहर्षादि द्वारा कृत असत्-खण्डन से वेदान्तज्ञान और तज्जन्य ज्ञान के भी भ्रान्तिपूर्ण होने की आपत्ति आती है, जिससे वेदान्तशास्त्र का प्रामाण्य सिद्ध न होने पर उसके विषयभूत (प्रतिपाद्य विषय) ब्रह्म के भी सिद्ध न होने का प्रसङ्ग आयेगा।

**शङ्का**—यदि कहा जाय कि अनुभवस्वरूप आत्मा स्वप्रकाशस्वरूप है। अतः स्वयं प्रकाशरूप आत्मा की सिद्धि के लिये प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं है?

**समाधान**—तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर वेदान्तवाक्य का श्रवण भी व्यर्थ होने लगेगा?

**शङ्का**—वेदान्तवाक्य के श्रवण की अपेक्षा तो ब्रह्मसम्बन्धी अपूर्णत्व और द्वितीयत्व आदि भ्रम के निरसनार्थ होती है, अतः वेदान्तवाक्य का श्रवण व्यर्थ नहीं कहा जा सकेगा?

**समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि अप्रमाणीभूत वेदान्तवाक्य से ब्रह्म में अपूर्णत्व आदि का अभाव ही सिद्ध नहीं हो पायेगा।

**शङ्का**—श्रुति द्वारा स्वार्थ का ज्ञान होने पर तत्पश्चात् उस ज्ञान का भी बाध हो जाने पर किसी प्रकार की क्षति नहीं है, क्योंकि श्रुति की प्रवृत्ति के पूर्व सब अबाधित ही था?

**समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि श्रुतिप्रामाण्यग्राहक अनुमानादि का भी प्रामाण्य न होने पर, स्वप्रमाणीभूत और उत्पादित ज्ञान वाली बाधित श्रुति को भी प्रामाण्य-संशययुक्त स्वार्थसंशय, किस प्रकार अजागलस्तन की भाँति विफल नहीं बना

पायेगा? अर्थात् बकरियों के गले में लटकने वाले थन की भाँति विफल बना देगा॥१४

सम्प्रति, प्रश्नपरक वैयासिकी अवतरणिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

**व्यासभाष्यम्**

[1]कुतश्चैतदन्याय्यम्—

किस कारण से विज्ञानवादी बौद्ध का मत अनुचित है?

**योगसूत्रम्**

**वस्तु[2]साम्ये चित्तभेदात्तयो[3]र्विभक्तः पन्थाः॥१५॥**

वस्तु के एक होने पर भी ज्ञान का भेद होने से 'ज्ञान' और 'वस्तु' का मार्ग पृथक्-पृथक् है॥१५॥

**व्यासभाष्यम्**

बहुचित्तालम्बनीभूतमे[4]कं वस्तु साधारणम्। तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्त[5]परिकल्पितम् किं तु [6]स्वप्रतिष्ठम्। कथम्? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्। धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवत्यधर्मापेक्षं तत एव दुःखज्ञानमविद्यापेक्षं सम्यग्दर्शनापेक्षं [7]तत एव मूढज्ञानं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति। [8]कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितम्? न चान्य[9]चित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तः। तस्माद्वस्तुज्ञानयोर्ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्थाः। नानयोः संकरगन्धोऽप्यस्तीति। सांख्यपक्षे [10]पुनर्वस्तु त्रिगुणं चलं च गुणवृत्तमिति धर्मादि-

---

1. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—कुतश्चैतदन्याय्यम् ४/१५ सूत्रस्य अवतरणिका, ग—कुतश्चैतदन्याय्यम् ४/१४ सूत्रस्य टीका।
2. अपि—इति पदं 'साम्ये' पश्चादुपलभ्यते।
3. विविक्तः—इति पाठान्तरम्।
4. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—एकं, झ त—एव।
5. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—परिकल्पितं, ख—परिकल्प्यम्।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—स्वप्रतिष्ठं, ब—स्वरूपप्रतिष्ठम्।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—तत एव मूढज्ञानं सम्यग्दर्शनापेक्षं, म—सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव मूढज्ञानम्।
8. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—कस्य, छ—एकस्य।
9. क ख ग घ च ज झ त द ध प फ ब भ म य र—चित्तपरिकल्पितेन, छ थ न—कल्पितेन चित्तेन।
10. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—पुनर्वस्तु, झ त—वस्तुपुरुषः।

**[1]निमित्तापेक्षं चित्तैरभिसंबध्यते, निमित्तानुरूपस्य [2]च प्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य तेन तेना[3]त्मना हेतुर्भवति॥१५॥**

बहुत से चित्तों का विषय बनी हुई एक ही वस्तु सर्वसाधारण है। और वह सर्वसाधारण वस्तु न तो एक व्यक्ति के चित्त द्वारा परिकल्पित है और न अनेक व्यक्तियों के चित्त द्वारा परिकल्पित है, अपितु वह वस्तु स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहती है। वह वस्तु किस प्रकार स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है? क्योंकि विषय के एक होने पर भी विज्ञान अनेक होते हैं। विषय के एक होने पर भी धर्मापेक्ष चित्त को उस वस्तु से सुखपूर्ण ज्ञान होता है, अधर्मापेक्ष चित्त को उससे दुःखपूर्ण ज्ञान होता है, अविद्यापेक्ष चित्त को उससे मूढज्ञान (विषादपूर्ण अनुभव) होता है और तत्त्वज्ञान से युक्त चित्त को उसी विषय से माध्यस्थ्यज्ञान अर्थात् औदासीन्यात्मक अनुभव होता है। यदि वस्तु को चित्तकल्पित माना जाय? तो प्रश्न होगा कि वस्तु को किस चित्त के द्वारा परिकल्पित कहा जाय? और किसी अन्य के चित्त में परिकल्पित पदार्थ से अन्य व्यक्ति के चित्त का उपरञ्जित होना भी समीचीन नहीं है। अतः ग्राह्य और ग्रहण के भेद से भिन्न-भिन्न वस्तु और ज्ञान का मार्ग (स्वरूप अथवा अस्तित्व) पृथक-पृथक् है। इन दोनों में सांकर्य की संभावना का अंश भी नहीं है। सांख्यपक्ष में वस्तु त्रिगुणात्मक है और गुणवृत्त परिणमनशील होता है, इसलिये धर्मादि निमित्तों की अपेक्षा से वह वस्तु लोगों के चित्तों से सम्बन्धित होती है। और वह वस्तु धर्मादि निमित्तों के अनुरूप उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखात्मक अनुभवों का उस-उस रूप से कारण बनती है॥१५॥

**तत्त्ववैशारदी**

**तदेवमुत्सूत्रं भाष्यकृद्विज्ञानातिरिक्तस्थापने युक्तिमुक्त्वा सौत्रीं युक्तिमवतारयति—कुतश्चैतदिति। वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः। यन्नानात्वे यस्यैकत्वं तत्ततोऽत्यन्तं भिद्यते। यथा चैत्रस्य ज्ञानमेकं भिन्नेभ्यो देवदत्तविष्णुमित्र[4]मैत्रप्रत्ययेभ्यो भिद्यते। ज्ञाननानात्वेऽपि चार्थो न भिद्यत इति भवति विज्ञानेभ्योऽन्यः। अभेदश्चार्थस्य ज्ञानभेदेऽपि प्रमातॄणां परस्परप्रतिसंधानादवसीयते। अस्ति हि रक्तद्विष्टविमूढमध्यस्थानामेकस्यां योषिति**

---

1. छ थ—वस्तु ( निमित्तापेक्षं—पश्चात् ) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—वस्तु नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—च प्रत्ययस्य उपलभ्यते, ख ज—च प्रत्ययस्य नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—आत्मना, झ—आत्मा।
4. क ग घ च छ ज झ त थ द ध—मैत्र० उपलभ्यते, ख न—मैत्र० नोपलभ्यते।

**प्रतीयमानायां प्रतिसंधानं या त्वया दृश्यते सैव मयापीति। तस्माद्वस्तुसाम्ये चित्तभेदाज्ज्ञान-भेदात्तयोरर्थज्ञानयोर्विभक्तः पन्थाः स्वरूपभेदोपायः। सुखज्ञानं कान्तायां कान्तस्य, सपत्नीनां दुःखज्ञानम्। चैत्रस्य तु तामविन्दतो मूढज्ञानं विषादः।**

इस प्रकार विज्ञानातिरिक्त बाह्यार्थ के स्थापन में सूत्र से बाहर अर्थात् सूत्र में अनिर्दिष्ट स्वयुक्ति को कहकर भाष्यकार अब सौत्र युक्ति के प्रतिपादक सूत्र को अवतरित करते हैं—**'कुतश्चैतदिति।'** किस हेतु से विज्ञानवादी का विज्ञानातिरिक्त **'बाह्यार्थ'** खण्डनपक्ष दोषपूर्ण है? तदर्थ सूत्र है—**'वस्त्विति।'** जिस (ज्ञान) के अनेक होने पर जिस (वस्तु) का एकत्व प्रतिपादित किया जाता है, वह (ज्ञान) उससे (विषय से) अत्यन्त पृथक् होता है। जैसे चैत्र का एक ज्ञान देवदत्त, विष्णुमित्र, मैत्रादि अन्य व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न ज्ञानों से पृथक् होता है। इस प्रकार ज्ञान के अनेक होने पर भी अर्थात् देवदत्तनिष्ठ ज्ञान, विष्णुमित्रनिष्ठज्ञान आदि रूप से अनेक होने पर भी ज्ञान का विषयभूत 'अर्थ' भिन्न-भिन्न नहीं होता है। शब्दान्तर में **'ज्ञान'** के भेद से **'पदार्थ'** का भेद नहीं होता है। बाह्यार्थ विज्ञान से भिन्न है। **'ज्ञानभेद'** अर्थात् ज्ञान के अनेक होने पर भी **'विषय का अभेद'** अर्थात् विषय का एकत्व प्रमाताओं के परस्पर के वाक्व्यवहार (प्रतिसंधान) से सुनिश्चित किया जाता है। जिस प्रकार एक स्त्री के प्रति राग, द्वेष, विमूढ़ एवं मध्यस्थ-प्रतीति वाले व्यक्तियों की अनुभूति (प्रतिसंधान) इस प्रकार होती है—**'या त्वया दृश्यते सैव मयापि'** अर्थात् 'जो तुम्हारे द्वारा देखी गई, वहीं (स्त्री=बाह्य वस्तु) मेरे द्वारा भी देखी गई है।' इससे यह सिद्धान्तित होता है कि **'वस्तु'** के **'एक'** होने पर भी **'चित्तभेद'** अर्थात् ज्ञानभेद से उन दोनों **'अर्थ'** और **'ज्ञान'** का **'पन्था'** अर्थात् मार्ग अर्थात् स्वरूपभेद का उपाय **'विभक्त'** अर्थात् भिन्न-भिन्न होता है। जैसे पत्नी के प्रति पति को **'सुखज्ञान'**, सपत्नियों को **'दुःखज्ञान'** तथा उसे प्राप्त न कर सकने वाले चैत्र को **'मूढज्ञान'** अर्थात् विषाद (मोह) होता है। इस प्रकार वस्तु के एक रहने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियों देखी जाती हैं।

विज्ञानातिरिक्त बाह्य पदार्थ की सत्ता के खण्डनार्थ पूर्वपक्षी चित्तपरिकल्पित वस्तु को लेकर पुनः तर्क करता है—

### तत्त्ववैशारदी

**स्यादेतत्—य एकस्य चित्तेन परिकल्पितः कामिनीलक्षणोऽर्थस्तेनैवान्येषामपि चित्तमुपरज्यत इति साधारणमुपपद्यत इत्यत आह—न चान्येति। तथा सत्येकस्मिन्नीलज्ञानवति सर्व एव नीलज्ञानवन्तः स्युरिति।**

**शङ्का**—एक के चित्त से परिकल्पित जो स्त्रीरूप अर्थ है, उसी से अन्य पुरुषों का चित्त भी उपरञ्जित हो जाता है। इससे **'विज्ञान'** और **'विषय'** का साधारणत्व उपपन्न

होता है। अतः विज्ञान और विषय का मार्ग भिन्न-भिन्न नहीं है, अपितु विषय विज्ञानात्मक ही है।

समाधान—इस पर भाष्यकार का वक्तव्य है—'न चान्येति' (एक पुरुष के चित्त से परिकल्पित पदार्थ से अन्य पुरुषों के चित्तों में उपरागरूप प्रतीति युक्तियुक्त नहीं है। अर्थात् जिस पुरुष के चित्त से परिकल्पित पदार्थ होता है, उसी पुरुष को वह भासता है, अन्यों को नहीं। क्योंकि एक व्यक्ति के स्वप्नज्ञान की विषयीभूत वस्तु अन्य व्यक्तियों को अज्ञात रहती है—ऐसा नियम है), अन्यथा एक के नीलज्ञानवान् होने पर सभी व्यक्ति नीलज्ञानवान् होने लगेंगे। अतः 'ग्राह्य' और 'ग्रहण' रूप वैधर्म्य से दोनों का मार्ग भिन्न-भिन्न है।

सम्प्रति, पूर्वपक्षी सिद्धान्ती द्वारा प्रतिपादित 'वस्तुसाम्य' में भी होने वाले विज्ञानभेद को लेकर शंका करता है—

### तत्त्ववैशारदी

**नन्वर्थवादिनामप्येकोऽर्थः कथं सुखादिभेदभिन्नविज्ञानहेतुः, न ह्यविलक्षणात्कारणात्कार्यभेदो युक्त इत्यत आह—सांख्यपक्ष इति। एकस्यैव बाह्यस्य वस्तुनस्त्रैगुण्यपरिणामस्य त्रैरूप्यमुपपन्नम्। एवमपि सर्वेषामविशेषेण सुखदुःखमोहात्मकं विज्ञानं स्यादित्यत आह—धर्मादिनिमित्तापेक्षमिति। रजःसहितं सत्त्वं धर्मापेक्षं सुखज्ञानं जनयति। सत्त्वमेव तु विगलितरजस्कं विद्यापेक्षं माध्यस्थ्यज्ञानमिति। ते च धर्मादयो न सर्वे सर्वत्र पुरुषे सन्ति, किं तु कश्चित्क्वचिदित्यभ्युपपन्ना व्यवस्थेति॥१५॥**

शङ्का—अर्थवादी (प्रमेयवादी) योगाचार्यों के मत में भी कैसे एक ही पदार्थ सुखादि-भेद से भिन्न-भिन्न ज्ञान का कारण हो सकता है? क्योंकि कारण के अविलक्षण अर्थात् एक होने से कार्य का भेद मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। अर्थात् विषयमूलक विज्ञान विषय के एक होने पर अनेक कैसे हो सकता है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'सांख्यपक्ष इति'। 'सांख्यपक्ष' अर्थात् सांख्य के समानतन्त्र योग में त्रिगुण के परिणामभूत एक ही बाह्य वस्तु की त्रैगुण्योपपत्ति सम्भव है। अर्थात् त्रिगुणात्मक होने से एक ही पदार्थ से त्रिगुणात्मक सुख, दुःख तथा मोहात्मक तीन प्रकार का ज्ञान हो सकता है।

शङ्का—तब तो एक ही पदार्थ को लेकर सभी व्यक्तियों की समानरूप से सुख-दुःख-मोहात्मक बुद्धि होने लगेगी? (जब कि यह अव्यावहारिक है)।

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'धर्मादिनिमित्तापेक्षमिति'। धर्म-सापेक्ष रजोयुक्त सत्त्वगुण 'सुखज्ञान' को उत्पन्न करता है। विद्या-सापेक्ष विगलितरजोगुणयुक्त सत्त्व 'माध्यस्थ्यज्ञान' को उत्पन्न करता है। और ये धर्मादि सभी पुरुषों में समान रूप से सर्वदा नहीं रहते हैं, अपितु किसी व्यक्ति में धर्मादि में से किसी की कदाचित्

उत्पत्ति होती है—ऐसी व्यवस्था है। अतः बाह्य पदार्थ एक होता हुआ भी धर्मादि निमित्त की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न पुरुषों में पृथक्-पृथक् ज्ञान को उत्पन्न करता है। इस प्रकार सभी पुरुषों के युगपत् धर्मादिवान् होने की पूर्वपक्षीय शंका भी निरस्त हो जाती है॥१५॥

**बालप्रिया—**

'उत्सूत्रम्'—इस शब्द का अर्थ है—'सूत्राद् बहिः'॥१५॥

**योगवार्त्तिकम्**

**विज्ञानवादे दूषणान्तरपरतयोत्तरसूत्रमवतारयति—कुतश्चेति। चशब्दो हेत्वन्तरे, कुतोऽपीत्यर्थः। वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः। एकस्मिन्नेव विषये [1]चित्तान्तर-वियोगे चित्तान्तरालम्बनदर्शनात्तयोश्चित्तार्थयोर्विभक्तः पृथगेव पन्थाः स्वरूपभेदोन्नयनवर्त्म, विरुद्धधर्मद्वयरूपमेकानेकत्वरूपमित्यर्थः। क्षणिकविज्ञानमेव परेषां चित्तमित्यतः चित्ताद्भेदेनैव विज्ञानभेदोऽर्थेषु सिद्ध इति भावः।**

'विज्ञानवाद' के अन्य दूषण से युक्त होने से तत्परक उत्तर सूत्र को भाष्यकार अवतरित करते हैं—'**कुतश्चेति**।' यहाँ '**च**' शब्द '**हेत्वन्तर**' अर्थ में है। इसी प्रकार '**कुतः**' पद भी हेत्वन्तरार्थक है।

**शङ्का**—और किस कारण से विज्ञानवादी का मत दोषपूर्ण है?

**समाधान**—सूत्र से उत्तर दिया जा रहा है—'**वस्त्विति**।' एक ही विषय में एक चित्त का वियोग होने पर अन्य चित्त का संयोग (आलम्बन बनना) देखा जाने से '**चित्त**' और (चित्त के विषयभूत बाह्य) '**पदार्थ**' दोनों का स्वरूपभेदपरक मार्ग (वर्त्म) भिन्न-भिन्न है। अर्थात् 'एकत्व' और 'अनेकत्व' रूप विरुद्ध धर्म वाले विषय और चित्त होते हैं। विज्ञानवादियों के मत में क्षणिक विज्ञान ही चित्त है। अतः चित्त से पदार्थ का भेद सिद्ध होने से ही विज्ञानभेद भी पदार्थों में सिद्ध हो जाता है, यह सूत्र का पर्यवसित अर्थ है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार भाष्यार्थ प्रारम्भ करते हैं—

**योगवार्त्तिकम्**

**तत्रादौ भाष्यकारोऽनुभवबलाद् हेतुं साधयति—बहुचित्तालम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणमिति। प्रत्यभिज्ञासिद्धमिति शेषः। [2]सौत्रेऽनुमाने तर्कमादौ दर्शयति—तत्खल्वित्यादिना प्रतिष्ठमित्यन्तेन। नैकेति। नैकमात्रीयपुरुषचित्तात्मकं तथा नानेकपुरुषीयचित्तात्मकम् अपि तु स्वप्रतिष्ठं चित्तातिरेकेणैव स्वातन्त्र्येणैव स्थितमित्यर्थः। सिद्धहेतुं योजयितुं पृच्छति—**

---

1. क ख घ च छ—चित्तान्तरवियोगे उपलभ्यते, ग—चित्तान्तरवियोगे नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ—सौत्रेऽनुमाने तर्कमादौ, ख—साध्यम्।

कथमिति। उत्तरम्—वस्त्विति। आदावेकपुरुषीयचित्तकल्पितत्वानुपपत्तिमुक्तहेतुना प्रतिपादयति—धर्मापेक्षमिति। पुरुषभेदेनैकस्मिन्नेव योषिद्वस्तुनि धर्मनिमित्तात्सुखज्ञानं [1]सुखवती स्त्र्याकारवृत्तिर्भवति, अधर्मनिमित्ताच्च [2]दुःखवती स्त्र्याकारवृत्तिरित्येवमादिरूपैश्चित्तभेदोऽस्ति। अतः कस्य पुरुषस्य चित्तेन तत् कल्पितं स्यात्? न कस्यापीत्यर्थः। नन्वेवं भवत्वनेकपुरुषचित्तपरिकल्पितमिति द्वितीय पक्षः? तत्राह—न चान्येति। नाप्यन्यपुरुषचित्तात्मकेन वस्तुनाऽन्यस्य चित्त उपरागः संभवति, परस्वप्नस्य परेणाज्ञानादित्यर्थः। [3]तर्कं प्रदर्श्य सूत्रार्थं व्याचष्टे—तस्मादिति। ग्राह्यग्रहणयोर्भेदेन वैधर्म्येण भिन्नयोरित्यर्थः। ननु चित्तातिरिक्तार्थवादिनाम् अर्थस्य स्थिरत्वान्निरन्तरमेव कथं ज्ञानं न भवति, कथं वा एक एवार्थः [4]स्वप्नादिभेदभिन्नासु वृत्तिषु हेतुः स्यात्, न ह्यविलक्षणात् कार्यभेदो घटत इत्याशङ्कायामाह-सांख्यपक्ष इति। सांख्यानुसारिमते सुखदुःखमोहात्मकं भवति वस्तु, चित्तं चलस्वभावमतो धर्मादिनिमित्तवशात्सुखाद्यर्थमेव चित्तैर्वस्तु संबध्यत इति न सर्वदा ज्ञानम्। तथा धर्मादिनिमित्तानुरूपं सुखाद्यात्मकप्रत्ययं प्रति सुखाद्यात्मकत्वेनैव वस्तुहेतुर्भवतीति कारणताऽवच्छेदकभेदान्न द्वितीयोऽपि दोष इत्यर्थः॥१५॥

भाष्यकार सर्वप्रथम अनुभव के आधार पर चित्त से विषय के भिन्न होने में हेतु उपन्यस्त करते हैं—'बहुचित्तालम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणमिति।' अनेक चित्त की विषयीभूत वस्तु एक अर्थात् सर्वसाधारण है—ऐसा ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञा' से सिद्ध होता है। 'मैं उसी स्त्री को पुनः देख रहा हूँ, जिसे मैंने पहले देखा था'—यह प्रत्यभिज्ञा ज्ञान है। भाष्यकार सूत्रगत अनुमान के तर्क (हेतु) अंश को सर्वप्रथम प्रदर्शित करते हैं—'तत्खल्वित्यादिना प्रतिष्ठमित्यन्तेन।' 'नैकेति।' सर्वसाधारण वस्तु न तो एक चित्त से परिकल्पित है और न अनेक चित्त से, अपितु चित्त की अपेक्षा किये विना स्वतन्त्र रूप से अपने स्वरूप में स्थित है। सिद्ध हेतु की योजना करने के लिये पूछा जा रहा है—'कथमिति।'

शङ्का—कैसे?

समाधान—उत्तर दिया जा रहा है—'वस्त्विति।' विषय रूप 'वस्तु' के एक होने पर भी 'चित्त' के अनेक होने से चित्त और विषय का मार्ग भिन्न-भिन्न है। पदार्थ को एक पुरुषीय चित्त से कल्पित मानने पर आने वाली अनुपपत्ति को भाष्यकार उक्त हेतु

---

1. अ—क ख ग घ च—सुखवती स्त्र्याकारवृत्तिर्भवति, अधर्मनिमित्ताच्च उपलभ्यते, छ—सुखवती...निमित्ताच्च नोपलभ्यते।
   आ—रूपाकारं, ख ग घ च—स्त्र्याकार०।
2. क ख च छ—दुःखवती, ग घ—सुखवती।
3. क ग घ च छ—तर्कं प्रदर्श्य सूत्रार्थं व्याचष्टे, ख—उपसंहरति।
4. क ग घ च छ—स्वप्न०, ख—सुख०।

से सिद्ध करते हैं—'धर्मापेक्षमिति।' पुरुषभेद से एक ही स्त्रीरूप वस्तु के विषय में धर्म की अपेक्षा (महिमा) से 'सुखज्ञान' अर्थात् सुखात्मिका स्त्र्याकाराकारिता वृत्ति तथा अधर्म की अपेक्षा (महिमा) से 'दुःखज्ञान' अर्थात् दुःखात्मिका स्त्र्याकाराकारिता वृत्ति होती है। इस प्रकार विभिन्न रूपों से चित्तभेद सिद्ध होता है। अतः चित्त और विषय को एक मानने पर अर्थात् विषय को विज्ञानरूप मानने पर प्रश्न उठेगा कि किस पुरुष के चित्त से स्त्रीरूप वस्तु को कल्पित माना जाय? किन्तु किसी भी एक पुरुष के चित्त से स्त्रीरूप बाह्य विषय को कल्पित नहीं माना जा सकता है। अतः प्रथम पक्ष त्याज्य है।

शङ्का—यदि स्त्रीरूप वस्तु को एक चित्त से कल्पित मानने पर असंगति आती है तो अनेक पुरुषों के चित्तों से स्त्रीवस्तु को परिकल्पित मान लिया जाय? ऐसा दूसरा पक्ष है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'न चान्येति।' अन्य पुरुष के चित्त का 'उपराग' अर्थात् सम्बन्ध नहीं हो सकता है (क्योंकि वह वस्तु उस अन्य व्यक्ति के चित्त से परिकल्पित तो है नहीं। जैसे दूसरे के स्वप्न का अन्य पुरुष को ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार (चित्तपरिकल्पित वस्तु की बौद्धमान्यता के विरोध में) तर्क को प्रदर्शित करके भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'तस्मादिति।' इस प्रकार 'ग्राह्य' और 'ग्रहण' के भेद से 'विषय' और 'चित्त' में विधर्मता होने से दोनों का मार्ग (वर्त्म) भिन्न-भिन्न है।

शङ्का—चित्त (विज्ञान) से पदार्थ को भिन्न मानने वाले वादियों (योगाचार्यों) के मत में बाह्य वस्तु के स्थिर होने से (अर्थात् वस्तु के क्षणिक न होने से) निरन्तर विषयज्ञान क्यों नहीं होता है? अथवा कैसे एक ही पदार्थ स्वप्नादि-भेद से भिन्न-भिन्न वृत्तियों का हेतु (कारण) हो सकता है, क्योंकि अविलक्षण अर्थात् तुल्य कारण से कार्यभेद घटित नहीं होता है।

समाधान—ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं—'सांख्यपक्ष इति।' सांख्यानुसारी योगमत में पदार्थ सुखात्मक, दुःखात्मक तथा मोहात्मक है तथा चित्त चञ्चल स्वभाव वाला है। अतः धर्मादि निमित्तवशात् सुखादि प्रयोजनार्थ ही तत्-तत् चित्तों के साथ वस्तु संयुक्त होती है। अर्थात् चित्त का सुखाद्याकार परिणाम होता है। किन्तु पुरुष का उस विषय के साथ सर्वदा सम्बन्ध नहीं रहता है। अतः पुरुष को सर्वदा विषय-ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार सुखाद्यात्मक अनुभव (प्रत्यय, ज्ञान) के प्रति वस्तु सुखाद्यात्मक रूप से ही कारण (हेतु) होती है। अतः सुखात्मक, दुःखात्मक आदि कारणतावच्छेदक के भिन्न-भिन्न होने से एक ही वस्तु कार्यभेद की

हेतु हो सकती है। अतः पूर्वपक्षी का आरोपित दूसरा दोष भी दूर हो जाता है कि अविलक्षण कारण से कार्यभेद कैसे उपपन्न होगा?॥१५॥

**व्यासभाष्यम्**

[1]केचिदाहुः—ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात्सुखादिवदिति। त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरक्षणेषु वस्तुरूपमेवापह्नुवते—

कुछ लोग कहते हैं—सुखादि के समान भोग्य होने से बाह्यार्थ 'विज्ञान-सहभू' अर्थात् विज्ञान के साथ ही उत्पन्न होता है (तथा विज्ञान के साथ ही नष्ट हो जाता है)। इस मान्यता के अनुसार वे लोग वस्तु के (सर्वपुरुष) साधारणत्व का बाध अर्थात् खण्डन करते हुए ज्ञान के पूर्वक्षणों (ज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व) तथा परवर्ती क्षणों (ज्ञान के विनाश के बाद) में बाह्यार्थ के अस्तित्व का अपलाप करते हैं। इस मत के खण्डनार्थ सूत्र प्रस्तुत हो रहा है—

**योगसूत्रम्**

## न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तद[2]प्रमाणकं तदा किं स्यात्॥१६॥

**बाह्य पदार्थ किसी एक ज्ञान के अधीन रहने वाला नहीं है। अन्यथा ज्ञानरूप प्रमाण में अगृहीत वस्तु की क्या स्थिति होगी?॥१६॥**

**व्यासभाष्यम्**

एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वा[3]स्वरूपमेव तेना[4]परामृष्टम[5]न्यस्याविषयीभूतमप्रमाणकम[6]गृहीतस्वभावकं केनचित्तदानीं किं [7]तत्स्यात्? संबध्यमानं [8]च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत? ये चास्यानुपस्थिता भागास्[9]ते चास्य न

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ—केचिदाहुः—ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात् सुखादिवदिति। त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरक्षणेषु वस्तुरूपमेवापह्नुवते ४/१५ सूत्रस्य टीका, घ प फ म य र—केचिदाहु...मेवापह्नुवते ४/१६ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. प्रमाणकं—इति पाठान्तरम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—स्वरूपं, म—अस्वरूपम्।
4. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—अपरामृष्टं, छ थ—परामृष्टम्।
5. क ख ग च छ ज झ त थ ध न फ ब भ म र—अन्यस्य, घ प य—अन्य०।
6. क ख घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ य र—अगृहीतस्वभावकं, ग—अगृहीतस्वभावं, द—गृहीतस्वभावकं, म—अगृहीतमस्वभावकम्।
7. क ख ग घ च छ ज थ द ध प फ ब भ म य र—तत्स्यात्, झ त न—न स्यात्।
8. क ख ग ब—वा, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—च।
9. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—ते चास्य, थ—ते तस्यैवास्य।

**स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न [1]गृह्येत। तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः, [2]स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते। तयोः संबन्धादु[3]पलब्धिः पुरुषस्य भोग [4]इति॥१६॥**

यदि वस्तु की सत्ता एक चित्त के अधीन होगी तो चित्त के व्यग्र अथवा निरुद्ध हो जाने पर उस चित्त से असम्बद्ध तथा अन्य चित्तों की अविषयी-भूत वस्तु अप्रमाणक तथा अगृहीतस्वभाव अर्थात् स्वरूपशून्य वाली होकर कैसे रहेगी अर्थात् उसका क्या स्वरूप होगा? और फिर जब वही वस्तु चित्त से पुनः सम्बद्ध होगी, तो वह कहाँ से उत्पन्न हो सकेगी? और फिर चित्त द्वारा ग्रहण' की गई वस्तु के अनुपस्थित अर्थात् अज्ञात अवयव उस वस्तु-विशेष के अवयव नहीं कहे जा सकेंगे। और फिर पृष्ठ के अभाव में उदर भी गृहीत न होगा। इसलिये पदार्थ स्वतन्त्र है, वह सभी पुरुषों के लिये समान है। और प्रत्येक पुरुष को प्रवृत्त करने वाले चित्त भी स्वतन्त्र हैं। पदार्थ और पुरुष के सम्बन्ध से होने वाला जो ज्ञान है, वही पुरुष का 'भोग है॥१६॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार वैयासिकी अवतरणिका के अभिप्राय को विस्तारपूर्वक समझाते हुए सूत्र को उठाते हैं—

**तत्त्ववैशारदी**

**[5]अत्र केचिदाहुः प्रावादुकाः—ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात्सुखादिवदिति। एतदुक्तं भवति—भवत्वर्थो ज्ञानाद्व्यतिरिक्तस्तथाप्यसौ जडत्वान्न ज्ञानमन्तरेण शक्यः प्रतिपत्तुम्। ज्ञानेन**

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—गृह्येत, ब—स्यादेव।
2. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—स्वतन्त्राणि च चित्तानि, छ थ—विवेकाख्यः स्वतन्त्राणि च चित्तानि विवेकान्वयेन।
3. छ—साधारणवस्तुनः (उपलब्धिः—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—साधारणवस्तुनः नोपलभ्यते।
4. छ थ—अयं विवेकानुगतः संप्रज्ञातः समाधिः साधारणविवेके स्थूलप्रकृतिलयदर्शनादिति (इति—पश्चाद्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—अयं...इति नोपलभ्यते।
5. क ख ग थ द ध न—अत्र केचिदाहुः प्रावादुकाः—ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात् सुखादिवदिति। एतदुक्तं भवति—भवत्वर्थो ज्ञानाद्व्यतिरिक्तस्तथाप्यसौ जडत्वान्न ज्ञानमन्तरेण शक्यः प्रतिपत्तुम्। ज्ञानेन तु भासनीयः। तथा च ज्ञानसमय एवास्ति नान्यदा, प्रमाणाभावादिति। तदेतदुत्सूत्रं तावद् दूषयति भाष्यकारः—न एतया द्वारेति। वस्तु खलु सर्वचित्तसाधारणमनेकक्षणपरम्परोह्यमानं परिणामात्मकमनुभूयते लौकिकपरीक्षकैः। तच्चेद्विज्ञानेन सह भवेन्नूनमेवंविधमेवं चेदिदमंशस्योपरि कोऽयमनुरोधो येन सोऽपि नापह्नूयेतेत्यर्थः ४/१६ सूत्रस्य अवतरणिका, घ च छ ज झ त—अत्र केचिदाहुः...नापह्नूयेतेत्यर्थः ४/१५ सूत्रस्य टीका।

**तु भासनीयः। तथा च ज्ञानसमय एवास्ति नान्यदा, प्रमाणाभावादिति। तदेतद्दुस्सूत्रं तावद् दूषयति भाष्यकारः—त एतया द्वारेति। वस्तु खलु सर्वचित्तसाधारणमनेकक्षणपरम्परोह्यमानं परिणामात्मकमनुभूयते लौकिकपरीक्षकैः। तच्चेद्विज्ञानेन सह भवेन्नूनमेवंविधमेवं चेदिदमंशस्योपरि कोऽयमनुरोधो येन सोऽपि नापह्नूयेतेत्यर्थः। मा वा भूदिदमंशस्यापह्नवो ज्ञानसहभूरेवास्त्वर्थः? तत्राप्याह—न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्। यद्धि घटग्राहि चित्तं तद्यदा पटद्रव्यव्यग्रतया न घटे वर्तते, यद्वा विवेकविषयमासीत्त[1]दैव च निरोधं समापद्यते तदा घटज्ञानस्य [2]वा विवेकज्ञानस्य वाऽभावाद्विवेको वा घटो वा ज्ञानभेदमात्रजीवनस्तन्नाशान्नष्ट एव स्यादित्याह—एकचित्तेति। किं तत्स्यान्न स्यादित्यर्थः। सम्बध्यमानं च चित्तेन तद्वस्तु विवेको वा घटो वा कुत उत्पद्येत।**

परस्पर विरोधी बातें करने वाले विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं—**'ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात्सुखादिवदिति।'** यहाँ **'ज्ञानसहभूरेवार्थः'** प्रतिज्ञा, **'भोग्यत्वात्'** हेतु तथा **'सुखादिवत्'** उदाहरण है। भाव यह है—ठीक है, विज्ञान से पृथक् बाह्यार्थ है, तथापि जडरूप होने से बाह्यार्थ का विज्ञान अर्थात् चित्त के विना ज्ञान होना सम्भव नहीं है। ज्ञान से ही विषय भासित अर्थात् प्रकाशित होता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानकाल में ही पदार्थ की सत्ता है, न कि ज्ञानातिरिक्त काल में भी। क्योंकि ज्ञानातिरिक्त काल में पदार्थ की सत्ता मानने में कोई प्रमाण नहीं है। पूर्वपक्षी की उक्त शंका को भाष्यकार सूत्र के विना ही दूषित (खण्डित) करते हैं—**'त एतया द्वारेति।'** लौकिक प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा **'सर्वचित्तसाधारण'** अर्थात् सभी पुरुषों के ज्ञान का विषय बनने वाली, अनेक क्षणपर्यन्त स्थित रहने वाली तथा परिणामस्वभाव वाली वस्तु का अनुभव किया जाता है। यदि विज्ञानकाल में ही वस्तु होगी तो विज्ञानाधीन वस्तु को (विज्ञान के समान) उत्पत्ति-नाशशील मानना पड़ेगा तो (**अयं घटः, अयं पटः इदं** फलम् इत्यादि उदाहरणों में) **'इदमंश'** के ऊपर विज्ञान का ऐसा कौन सा अनुग्रह है, जिससे विज्ञान से भिन्न काल में पदार्थ न रहते हुए भी इदमंश का अपह्नव नहीं होता है? यदि पूर्वपक्षी कहे कि **'इदमंश'** का अपह्नव नहीं होता है तो ऐसी बात नहीं है, अपितु **'इदमंश'** के अपह्नव (छिपाव) पूर्वक पदार्थ **'विज्ञानसहभू'** अर्थात् विज्ञाना- धीन ही होता है। इस पर सूत्रकार कहते हैं—**'न चैति।'** यह जो घट को ग्रहण करने वाला चित्त है, वह जब पट द्रव्य में व्यग्र होता है अर्थात् पट को अपने ज्ञान का विषय बनाता है, उस समय वह घटविषयक नहीं रहता है अथवा जब चित्त प्रकृति-पुरुष के भेद विषय वाला होता है, तभी वह **'निरोध'** को प्राप्त होता है अर्थात् निर्वृत्तिक हो जाता है। उस समय घटज्ञान अथवा विवेकज्ञान का

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त—सत्, थ द ध न—सदा।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—वा उपलभ्यते, न—वा नोपलभ्यते।

अभाव रहने से ज्ञानविशेष के अधीन जिनका अस्तित्व है, ऐसे 'विवेक' अथवा 'घट' विषयज्ञान के नष्ट होने पर वे नष्ट ही हो जायेंगे, इसीलिये भाष्यकार कहते हैं— 'एकचित्तेति।' भाष्य में आये 'किं तत्स्यात्' का अर्थ है—'न स्यात्' अर्थात् चित्त अविषयीभूत बाह्यार्थ का अभाव मानना पड़ेगा और बाद में चित्त का विषय बनने पर वह 'विवेक' अथवा 'घट' रूप वस्तु कहाँ से उत्पन्न हो सकेगी। अर्थात् ज्ञान का विषय न होने से नष्ट हुई वस्तु पुनः ज्ञान का विषय होने के लिये कहाँ से उत्पन्न होगी?

पूर्वपक्षीय उक्त असंगति को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार आगे कहते हैं—

## तत्त्ववैशारदी

**नियतकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिभावानि हि कार्याणि न स्वकारणमतिवर्त्य कारणान्तराद्भवितुमीशते मा भूदकारणत्वे तेषां कादाचित्कत्वव्याघातः। न च तज्ज्ञानकारणत्वमेव तत्[1]कारणत्वमिति युक्तम्, आशामोदकस्योपार्जितमोदकस्य चोपयुज्यमानस्य रसवीर्यविपाकादिसाम्यप्रसङ्गात्। तस्मात्साधूक्तं संबध्यमानं [2]च पुनश्चित्तेनेति [3]कुत उत्पद्येतेति।**

निश्चित कारण के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने वाले भावरूप कार्य अपने (नियत) कारण का उल्लंघन करके दूसरे (अनियत) कारण से उत्पन्न होने में समर्थ नहीं होते हैं और कार्य की उत्पत्ति कारण के विना भी नहीं कही जा सकती है, अन्यथा कार्योत्पत्ति का कादाचित्कत्व व्याहत होगा। अर्थात् सहकारिकारण की सहायता से कदाचित् उत्पन्न होने वाला कार्य अनियत कारण वाला होकर सर्वदा उत्पन्न होने लगेगा, जो अनुभवविरुद्ध है और पदार्थविषयक ज्ञान को पदार्थ की उत्पत्ति का कारण मानना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि तब 'आशामोदक' और भक्ष्यमाण 'उपार्जितमोदक' दोनों में एक ही प्रकार के रसवीर्यविपाकादि का प्रसङ्ग आयेगा। इसलिये भाष्यकार ने ठीक ही प्रश्न उठाया है—'संबध्यमानं वा पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येतेति।'

सम्प्रति, ज्ञानसापेक्ष अर्थात् विज्ञानाधीन वस्तु को मानने पर अन्य दोषों की उद्भावना की जा रही है—

## तत्त्ववैशारदी

**अपि च यो योऽर्वाग्भागः स सर्वो मध्यपरभागव्याप्तः, ज्ञानाधीने सद्भावे त्वस्या[4]ननुभूयमानत्वान्मध्यपरभागौ न स्त इति व्यापकाभावादर्वाग्भागोऽपि न स्यादित्यर्थाभावात्कुतो**

---

1. क ग थ द ध—कारणम्, ख घ च छ ज झ त न—कारणत्वम्।
2. क ख ध—वा, ग घ च छ ज झ त थ द न—च।
3. थ द ध—कुत उत्पद्येत इति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—कुत उत्पद्येत इति नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—अननुभूयमानत्वात्, न—अनुभूयमानत्वात्।

**ज्ञानसहभूरर्थ इत्याह—ये चास्येति। अनुपस्थिता अज्ञाताः। उपसंहरति—तस्मादिति। सुगमं शेषम्॥१६॥**

अन्य दोष यह है कि (घटादि) सभी बाह्य पदार्थों का जो अर्वाक् अर्थात् सामने का हिस्सा है, वह मध्य और पृष्ठभाग से व्याप्त रहता है। किन्तु ज्ञानाधीन अर्थात् ज्ञानसापेक्ष पदार्थ का सद्भाव मानने पर तो घटादि पदार्थों के मध्य और पश्चिम के भाग (अंश) सामने के भाग के समान ज्ञान के विषय न बन पाने के कारण स्वीकार नहीं किये जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में पदार्थ के पृष्ठादि व्यापक भाग का अभाव होने से उसका व्याप्य अर्वाग्भाग (सामने का हिस्सा) भी नहीं बन पायेगा। (जैसे व्यापक वह्नि के अभाव से व्याप्य धूम भी सिद्ध नहीं होता है)। इस प्रक्रिया से पदार्थ की सत्ता ही न रहने से **'विज्ञानसहभू अर्थ'** की मान्यता कहाँ टिकी रह सकती है, इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं—**'ये चास्येति'** भाष्य में प्रयुक्त **'अनुपस्थित'** शब्द का अर्थ है—**अज्ञात**। भाष्यकार विषय को उपसंहृत करते हैं—**'तस्मादिति'** अतः पदार्थ विज्ञाननिरपेक्ष है। शेष भाष्य सुगम है॥१६॥

**बालप्रिया—**

**'व्यापकाभावादर्वाग्भागोऽपि न स्यात्'**—तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु में अगला भाग, बीच का भाग तथा पिछला भाग—ये तीन भाग अवश्यम्भावी होते हैं। जब कोई घटादि वस्तु चक्षुरादि इन्द्रिय का विषय बनती है, तो घटादि पदार्थ का सम्मुखान्वित उदर भाग ही इन्द्रियसन्निकृष्ट रहता है, पृष्ठान्वयी उदरभाग नहीं। इस प्रकार वस्तु के एकचित्ततन्त्रत्व को स्वीकार करने पर ज्ञानकाल में भी वस्तु के अज्ञात भाग की अप्रामाणिकता सम्पूर्ण पदार्थ की सत्ता पर निषेधात्मक विचार करने के लिये प्रेक्षावान् को विवश कर देगी। फलतः विज्ञानवादी बौद्ध की **'विज्ञान-सहभू पदार्थ'** की अवधारणा भी इस विषम परिस्थिति में खड़ी नहीं रह सकेगी। किन्तु सांख्य-योग के अनुसार घटादि पदार्थ को विज्ञानातिरिक्त मानने पर किसी भी प्रकार की विसंगति नहीं आती है। अतः योगपक्ष संग्राह्य एवं अनुकरणीय है॥१६॥

## योगवार्त्तिकम्

**बौद्धवादान्तरनिरासकसूत्रान्तरमवतारयितुं तन्मतमुपन्यस्यति—के चिदाहुरिति। केचि-ताहुः—अस्तु ज्ञानाद्भिन्नोऽर्थः, तथाऽपि ज्ञानसमकालीन एव सोऽस्तु, [1]अन्यथा प्रमाणाभावात्। प्रयोगश्चायम्—ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात् सुखादिवदिति। [2]असुखदृष्टान्तस्तन्मतेनैव, अस्म-**

1. क ख ग घ—अन्यदा, च छ—अन्यथा।
2. क च छ—असुख०, ख ग घ—अत्र सुख०।

**न्मते सुखस्यापि विषये स्थिरत्वात्। रागद्वेषादिश्चोभयसिद्धो दृष्टान्त इति। अर्थस्य ज्ञानसहभावित्वेन यत् सिध्यति तदाह—त एतयेति। ते एतेनानुमानेन विषयस्य पुरुषान्तरसाधारण्यं बाधमाना ज्ञानपूर्वोत्तरक्षणेषु विषयमपलपन्तीत्यर्थः। ततश्चाननुभूयमानतया न मोक्षसिद्धिरिति भावः। तत्र प्रत्युत्तरं सूत्रमिदम्—न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तत्प्रमाणकं तदा किं स्यात्। वृत्त्याख्यज्ञानातिरिक्तं तेषां चित्तं नास्तीति ज्ञानमेवात्र चित्तम्, तत्तन्त्रं तन्नियतम्। तथा च नापि वस्तु एकज्ञाननियतमिति प्रतिज्ञा। तत्र हेतुः—तदित्यादि। तदा तर्हि तच्चित्तप्रमाणकं वस्तु किं स्यात् चित्तापाये कुत्र विलीयेत? न कुत्रापीत्यतो वस्तु स्थिरमिति शेषः। अयं भावः—यदि चित्तस्य कारणे विलीयत इत्युच्यते तदा घटादिरूपार्थानां लाघवाच्चित्ताभेदापत्त्या विज्ञानवादिमत एव प्रवेशः, तच्च दूषितम्। यदि च मृदादिषूच्येत तदा विनाशकारणाकाङ्क्षायां [1]परिदृष्टस्य मुद्गरपातादेरेव नाश[2]कारणत्वेन चित्तनाशसमकालं घटादिवस्तु[3]नाशानुपपत्तिरिति।**

एकदेशी बौद्धों के मत का निराकरण करने वाले एक दूसरे सूत्र को अवतरित करने के लिये भाष्यकार उनके मत को उपन्यस्त करते हैं—**केचिदाहुरिति।** कोई विज्ञानवादी बौद्ध ऐसा कहते हैं—भले ही पदार्थ को ज्ञान से भिन्न माना जाय तथापि वह बाह्य पदार्थ ज्ञान के समकालीन ही रहता है, क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त काल में बाह्य पदार्थ के होने में कोई प्रमाण नहीं है। बाह्य पदार्थ के ज्ञान के समकालीन होने में अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—

**'ज्ञानसहभूरेवार्थः'** अर्थात् अर्थ ज्ञानसहभू ही होता है—प्रतिज्ञा।

**'भोग्यत्वात्'** अर्थात् भोग्य होने से—हेतु।

**सुखादिवत्** अर्थात् सुखादि के समान—उदाहरण।

यद्यपि उक्त अनुमान प्रयोग में बौद्धों के **'सर्वं दुःखं दुःखम्'** सिद्धान्त के अनुसार 'असुख' अर्थात् दुःख को ही **'सुखादिवत्'** इस प्रकार उदाहरणरूप से उपन्यस्त किया जाना चाहिये था, किन्तु योगमत में सुख को भी विषयरूप से स्थिर माना जाता है। अतः उभयसिद्ध सुख-दुःख की भाँति राग-द्वेषादि भी दृष्टान्त बन सकते हैं। बाह्य पदार्थ को ज्ञानसहभावी (ज्ञानसहभू) मानने से जो सिद्ध होता है, उसे भाष्यकार बतलाते हैं—**'त एतयेति।'** बौद्धैकदेशिक लोग उपरिनिर्दिष्ट अनुमान-प्रयोग द्वारा विषय

---

1. क च छ—परिपृष्ठस्य, ख ग घ—परिदृष्टस्य।
2. क ग घ च छ—कारणत्वेन, ख—कारणतौचित्यात्।
3. ख—एतेनाधुनिकानां मायावादिनां शुक्त्यादावनिर्वचनीयरजताद्युत्पत्तिरूपोऽपसिद्धान्तोऽपास्तः। तस्य चित्तवृत्तिसमानकारणकत्वे चित्तवृत्त्यतिरिक्ततायां प्रमाणाभावात्। शुक्त्यादिकारणत्वे च वृत्तिनाशेऽपि तत्सत्ताप्रसंगात्। अत्र मूढानामुपर्युपरिकक्षाः बुद्धिभिः स्वयं निरस्या इति (नाशानुपपत्तिरिति—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—एतेन...निरस्या इति नोपलभ्यते।

के पुरुषान्तर साधारण होने का खण्डन करते हुए ज्ञानोत्पत्ति के पूर्वकालिक और ज्ञानोत्पत्ति के उत्तरकालिक क्षणों में बाह्य विषय के अस्तित्व का अपलाप करते हैं। जिससे पदार्थ के अननुभूयमान होने से मोक्ष-सिद्धि नहीं होती है। पूर्वपक्षी के उक्त पक्ष के प्रत्युत्तर (खण्डन) में प्रकृत सूत्र है—'न चेति।' विज्ञानवादी बौद्धों के मत में वृत्त्याख्य 'ज्ञान' से भिन्न चित्त है ही नहीं। उनके मत में ज्ञान ही चित्त है। इसलिये वे वस्तु को 'चित्ततन्त्र' अर्थात् ज्ञाननियत मानते हैं। बौद्धों के इस मत का सूत्र द्वारा खण्डन किया जा रहा है—'वस्तु' को एक ज्ञान से नियत नहीं कह सकते हैं। इसका प्रतिज्ञावाक्य है—'नापि वस्तु एकज्ञाननियतम्' अर्थात् 'वस्तु एक ज्ञान से नियत (अधीन) भी नहीं है।' इसमें हेतु है—'तदित्यादि।' यदि वस्तु को एक ज्ञान से नियत माना जायेगा तो प्रश्न है कि चित्तप्रमाणक वह वस्तु चित्त के नष्ट हो जाने पर कहाँ विलीन हो जायेगी? किन्तु चित्तापाय से वस्तु का विलय नहीं होता है, अतः वस्तु स्थिर (विज्ञान से अतिरिक्त स्थिर पदार्थ) है, यह सूत्र का उत्तरार्द्ध है। तात्पर्य यह है—यदि बाह्यार्थवादी बौद्ध कहें कि विज्ञानाधीन पदार्थ विज्ञान के कारण में लीन हो जाता है तब तो घटादिरूप बाह्य पदार्थों को भी लाघव से चित्त से अभिन्न मानने की आपत्ति आयेगी। जिससे बाह्यार्थवादी बौद्ध का विज्ञानवादी बौद्धमत में ही प्रवेश हो जायेगा और यह बाह्यार्थवादी के अनुसार दोषपूर्ण रहेगा। यदि यह कहा जाय कि घटादि बाह्य पदार्थ मिट्टी आदि में लीन हो जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में घटादि बाह्य पदार्थ के विनाश की आकांक्षा होने पर घट के परिदृष्ट मुद्गरपातादि को ही घटनाश का कारण मानने पर चित्तनाश के समकाल में ही घटादि वस्तु का नाश होना अनुपपन्न रहेगा।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार भाष्यार्थ प्रारम्भ करते हैं—

### योगवार्त्तिकम्

**हेतुपदस्येममेवार्थं भाष्यकार आह—एकेति। एकचित्तनियतं चेद्वस्तु स्यात्तदा तच्चित्ते विषयान्तरसञ्चारिणि निरुद्धे वा सति अस्वरूपमेव तद्वस्तु, अतस्तदानीं तत्किं स्यात्? शेषमस्वरूपत्वे हेतुः। तत्प्रमाणकमित्यस्य विवरणं केनचिदगृहीतस्वभावकमिति। स्वयमधिकं पूरयति—सम्बध्यमानं चेति। चित्तेन समकालभावित्वात्कुत उत्पद्येत? न कुतोऽपीत्यर्थः। पूर्ववदयं भावः—यदि चित्तस्य कारणादेवोत्पत्तिरुच्यते तदा चित्ताभेद एव स्यात्। यदि च बाह्यकारणात्, भेदाच्चित्तव्यभिचार्यपि स्यात्, स्वतन्त्रकारणेनोत्पादनात्, परिदृष्टानां दण्डचक्रादीनामेव कारणौचित्येन चित्तव्यभिचारसिद्धिश्चेति। बाधकान्तरमाह—ये चास्येति। अस्यार्थस्य गृह्यमाणस्याप्रतीयमाना ये च पृष्ठाद्यंशास्तेऽप्यप्रामाणिकत्वादसन्तः स्युः, एवं च पृष्ठाद्यभावादुदरं प्रतीयमानमपि न गृह्येत, सत्यतयेति शेषः। उदरस्य पृष्ठादिव्याप्ततया पृष्ठाद्यभावेनोद-**

**राभावसिद्धेरिति भावः। परमतमपाकृत्य स्वमतमुपपन्नतयोपसंहरति—तस्मादिति। उभयत्र स्वतन्त्रशब्दोऽन्योन्यनैरपेक्ष्यबोधनाय। भोग इति। वियोगाच्चानुपलब्धिर्मोक्ष इति शेषः॥१६॥**

सूत्र के **'तदा किं स्यात्'** इस हेतुपरक पद का ऐसा ही अर्थ भाष्यकार करते हैं— **'एकेति'** यदि बाह्य वस्तु को एक चित्त के अधीन (नियत) माना जाय तो उस चित्त के विषयान्तरसञ्चारी अर्थात् व्यग्र होने पर अथवा निरुद्ध होने पर वह वस्तु स्वरूपहीन ही हो जायेगी। ऐसी स्थिति में स्वरूपहीन वस्तु की क्या दशा होगी? सूत्र का शेष अंश विज्ञानकल्पित वस्तु के अस्वरूप का नियामक है। अर्थात् विज्ञानकल्पित वस्तु की असम्भाव्यता का द्योतक है। सूत्र के **'तत्प्रमाणकम्'** का ही विवरण है—**'केनचिदगृहीतस्वभावमिति'** भाष्यकार इसी में कुछ जोड़ते हुए कहते हैं— **'सम्बध्यमानं चेति'** चित्त के साथ वस्तु के समकालभावी होने से उसकी उत्पत्ति कैसे होगी? अर्थात् कहीं से भी **'विज्ञानसहभू वस्तु'** की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। पूर्व की भाँति कथन का अभिप्राय यह है—यदि घट, पटादि बाह्य वस्तु को चित्त अर्थात् विज्ञान के कारण से ही उत्पन्न माना जाय तो बाह्य वस्तु का चित्त अर्थात् विज्ञान के साथ अभेद ही हो जायेगा। यदि कहें कि चित्त (विज्ञान) आन्तरिक पदार्थ है और घट, पटादि बाह्य पदार्थ हैं। अतः विज्ञानकाल में घट, पटादि की उत्पत्ति होने से विज्ञान घट, पटादि की उत्पत्ति का कारण तो है पर कार्य-कारण में अभेद नहीं अपितु भेद है। किन्तु ऐसा कहने पर चित्त के व्यभिचार की सिद्धि होगी अर्थात् चित्तरूप विज्ञान बाह्य पदार्थ का कारण नहीं बन सकेगा, क्योंकि स्वतन्त्र कारण से बाह्य पदार्थ उत्पन्न होता है। अतः परिदृष्ट दण्ड, चक्रादि के ही (घटादि बाह्य पदार्थ की उत्पत्ति का) कारण होना औचित्यपूर्ण होने से चित्त में कारणत्व व्यभिचरित होता है। वस्तु को **'विज्ञानसहभू'** मानने पर दूसरे बाधक को भाष्यकार बताते हैं—**'ये चास्येति'** यदि वस्तु को विज्ञानकल्पित माना जाय तो गृह्यमाण घटादि वस्तु के अप्रतीयमान अर्थात् अज्ञात जो पृष्ठादि भाग हैं, वे भी ज्ञान के विषय न होने से **'असत्'** हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में घटादि वस्तु के पृष्ठादि भाग का अभाव होने से दिखलाई पड़ता हुआ भी उसका उदर भाग भी तात्त्विक (सत्य) रूप से गृहीत न हो पायेगा। भाव यह है कि उदर के पृष्ठादि व्याप्य होने से पृष्ठादि के अभाव से उदरभाग का भी अभाव कहना होगा। इस प्रकार परमत (बौद्धमत) का निराकरण करके स्वमत (योगमत) के उपपन्न हो जाने से भाष्यकार विषय को उपसंहृत करते हैं—**'तस्मादिति'** प्रकृत वैयासिक वाक्य के उभय अंशों में प्रयुक्त **'स्वतन्त्र'** शब्द विज्ञान और घट, पटादि बाह्य विषयों की निरपेक्षता के अवबोधार्थ है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—**'भोग इति'** पदार्थ के साथ चित्त का सम्बन्ध होने से जो ज्ञान होता है, उसे **'भोग'** कहते हैं और दोनों का उक्त सम्बन्ध

न होने से अर्थात् वियोग होने से प्रतिबिम्बाख्य ज्ञान की जो अनुपलब्धि है, उसे पुरुष का 'मोक्ष' कहते हैं॥१६॥

### योगसूत्रम्

**तदुपरागा[1]पेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥१७॥**

बाह्य पदार्थ के उपराग की अपेक्षा होने से चित्त को वस्तु (कभी) ज्ञात (तथा कभी) अज्ञात रहती है॥१७॥

### व्यासभाष्यम्

अयस्कान्तमणिकल्पा विषया अयःसधर्मकं चित्तमभिसंबध्योपरञ्जयन्ति, येन च विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्यः [2]पुनरज्ञातः। [3]वस्तुतो [4]ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात्परिणामि चित्तम्॥१७॥

चुम्बकमणि के समान विषय लोहे के सदृश चित्त को अपने साथ सम्बद्ध करके उसे उपरञ्जित करते हैं। जिस विषय से चित्त उपरक्त रहता है, वह विषय चित्त को 'ज्ञात' रहता है और जो विषय चित्त से उपरक्त नहीं रहता है, वह विषय चित्त को 'अज्ञात' रहता है। विषय (वस्तु) के द्वारा ज्ञात और अज्ञात स्वरूप वाला होने से चित्त परिणामी (सिद्ध होता) है॥१७॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार प्रश्नपरक अवतरणिका के साथ सूत्र को उठाकर उसकी व्याख्या करते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्—अर्थश्चेत्स्वतन्त्रः, स च जडस्वभाव इति न कदाचित्प्रकाशेत। [5]प्रकाशने वा जडत्वमप्यस्यापगतमिति भावोऽप्यपगच्छेत्। न जातु स्वभावमपहाय भावो वर्तितुमर्हति। न चेन्द्रियाद्याधेयो जडस्वभावस्यार्थस्य धर्मः [6]प्रकाश इति साम्प्रतम्। अर्थधर्मत्वे नीलत्वादिवत्सर्वपुरुषसाधारण इत्येकः [7]शास्त्रार्थज्ञः इति सर्व [8]एव विद्वांसः प्रसज्येरन्न जाल्मः कश्चिदस्ति। न चातीतानागतयोर्धर्मः प्रत्युत्पन्नो युक्तः। तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थ उपलम्भविषय इति

---

1. अपेक्षत्वात्, अपेक्षी वा—इति पाठान्तरे।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध प फ ब भ म य र—पुनः, न—पुरुषः।
3. क ख ग च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—वस्तुतः, घ झ प—वस्तुनः।
4. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात्, झ—ज्ञातृत्वात्, त—ज्ञातत्वात्।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द न—प्रकाशने, ध—प्रकाशेन।
6. क ख ग घ ज झ त थ द ध न—प्रकाशः, च छ—प्रकाशते।
7. क ख ग घ झ त थ द ध न—शास्त्रार्थज्ञः, च छ ज—शास्त्रार्थः।
8. क ख ग घ च छ ज झ त ध न—एव उपलभ्यते, थ द—एव नोपलभ्यते।

मनोरथमात्रमेतदित्यत आह—तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्। जडस्वभावोऽप्यर्थ इन्द्रियप्रणालिकया चित्तमुपरञ्जयति। तदेवंभूतं चित्तदर्पणमुपसंक्रान्तप्रतिबिम्बा चितिशक्तिश्चित्तमर्थोपरक्तं चेतयमानार्थमनुभवति, न त्वर्थे किञ्चित्प्राकट्यादिकमाधत्ते। नाप्यसंबद्धा चित्तेन, तत्प्रतिबिम्बसंक्रान्तेरुक्तत्वादिति। यद्यपि च सर्वगतत्वाच्चित्तस्य चेन्द्रियस्य चाहङ्कारिकस्य [1]विषयेणास्ति संबन्धस्तथापि यत्र शरीरे वृत्तिमच्चित्तं तेन सह [2]न संबन्धो विषयाणामित्ययस्कान्तमणिकल्पा इत्युक्तम्—अयःसधर्मकं [3]चित्तमिति। इन्द्रियप्रणालिकयाभिसंबन्ध्योपरञ्जयन्ति। अत एव चित्तं परिणामीत्याह—[4]वस्तुत इति॥१७॥

शङ्का—अच्छा, ऐसा मान भी लिया जाय कि (विज्ञानाधीन न होकर उत्पत्तिविनाशशील) बाह्यार्थ स्वतंत्र तथा जडस्वभाव वाला है—किन्तु ऐसे स्वभाव वाले पदार्थ का प्रकाश अर्थात् ज्ञान कभी भी नहीं हो सकेगा। अथवा विषय का प्रकाश मानने पर पदार्थगत जड़ता (जो पदार्थ का स्वरूप है) भी समाप्त हो जायेगी। ऐसी स्थिति में नष्टस्वभाव वाले पदार्थ का अस्तित्व ही नष्ट हो जायेगा। क्योंकि अपने स्वभाव (मौलिक रूप) को छोड़कर भावपदार्थ कभी नहीं रह सकता है। और यह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं है कि जडस्वभाव वाले पदार्थ में इन्द्रियादि द्वारा प्रकाश धर्म का आधान किया जाता है। अर्थात् जडात्मक पदार्थ का 'प्रकाश' धर्म इन्द्रियाद्याधेय है, क्योंकि प्रकाश को बाह्यार्थ का धर्म मानने पर वह पदार्थ के नीलत्वादि धर्म की तरह सर्वपुरुषसाधारण होगा। इससे एक पुरुष के शास्त्र का ज्ञाता होने पर सभी पुरुष विद्वान् हो जायेंगे। कोई भी 'जाल्म' अर्थात् असमीक्ष्यकारी अथवा वेदादि अध्ययन से रहित नहीं होगा। और न ही (क्षणिक पदार्थ) अतीत और अनागत के धर्म से युक्त होगा। इन अनुपपत्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'स्वतन्त्र पदार्थ ज्ञान का विषय बनता है'—यह कथन मनोरथमात्र अर्थात् कपोलकल्पना मात्र है।

समाधान—इस पर सूत्रकार कहते हैं—'तदुपरागेति' जडस्वभाव वाला होते हुए भी पदार्थ इन्द्रियरूप प्रणालिका द्वारा अर्थात् इन्द्रियरूप नलिका के माध्यम से चित्त से सम्बन्धित होता है। अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से चित्त का विषयाकार परिणाम होता है। इस प्रकार के विषयोपरक्त चित्तदर्पण में प्रतिबिम्बवती चितिशक्ति विषयारूढ चित्त को चेतन के समान करती हुई विषय का अनुभव करती है, न कि पदार्थ में किसी प्रकार के 'प्राकट्य' अर्थात् 'प्रकाश' का आधान करती है। यह चितिशक्ति चित्त

---

1. क ख ग घ ज झ त थ द ध न—विषयेण, च छ—विषये न।
2. क घ ज त—न उपलभ्यते, ख ग च छ झ थ द ध न—न नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—चित्तम्, न—चितिम्।
4. क ख ग ध च छ ज झ त द ध न—वस्तुतः, थ—वस्तुनः।

से असम्बन्धित भी नहीं रहती है, क्योंकि चितिशक्ति का चित्त में प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है, ऐसा पहले कह चुके हैं। यद्यपि सर्वगत होने से आहंकारिक चित्त और इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध है, तथापि जिस शरीर में चित्त वृत्ति वाला होता है, उसी वृत्तिमत् चित्त के साथ विषयों का सम्बन्ध होता है। अर्थात् वृत्तिमत् एक चित्त का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर सर्वसाधारण चित्तों की विषय-सम्बद्धतारूप अनुपपत्ति नहीं आती है। इसलिये भाष्यकार ने चित्त को अयस्कान्त-मणि के समान कहा है—'**अयःसधर्मकं चित्तमिति**' अयस्कान्तमणिकल्प जो विषय हैं, वे लोहकल्प चित्त को इन्द्रियप्रणालिका के द्वारा अपने से सम्बद्ध करके उसे विषयोपरक्त बनाते हैं। (अतः जो विषय चित्त से सम्बन्धित रहता है, वह विषय ज्ञात और तदतिरिक्त विषय चित्त को अज्ञात रहते हैं। अतः पूर्वपक्षी द्वारा सर्वपुरुष-साधारण के ज्ञानी होने का कथित आक्षेप भी खण्डित हो जाता है)। विषय की ज्ञातता और अज्ञातता की दृष्टि से ही चित्त परिणामशील है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—'**वस्तुत इति**'॥१७॥

**बालप्रिया—**

'**जाल्मः**'—असमीक्ष्यकारी अथवा वेदाध्ययनविधुर को 'जाल्म' कहते हैं।

'**इन्द्रियप्रणालिकया**'—सारांश यह है कि '**विषय**' अयस्कान्तमणि के समान क्रिया-शून्य है और '**चित्त**' अयोवत् क्रियाशील है। अतः इन्द्रिय के द्वारा चित्त को अपने सम्पर्क में लाकर विषय उसे अपने विषयाकार से आकारित कर देता है। जैसे किसी रङ्ग में वस्त्र को डालने पर वह रंग वस्त्र को अपने रंग से उपरञ्जित कर देता है, वैसे ही चित्त भी जिस विषय के आकार रूप रंग में रंग जाता है अर्थात् विषयाकारित हो जाता है, वह विषय चित्त को ज्ञात होता है और अन्य विषय उसे अज्ञात रहते हैं। अतः चित्त ज्ञाताज्ञातविषय वाला होने से '**परिणामी**' है और पुरुष सदाज्ञातविषय वाला होने से '**अपरिणामी**' है। इस प्रकार विज्ञानातिरिक्त पदार्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना न्यायसंगत है॥१७॥

सम्प्रति, वार्त्तिककार पूर्वापर की संगति लगाते हुए स्वरचित अवतरणिका द्वारा अग्रिम सूत्र को उठाते हुए उसकी व्याख्या करते हैं—

**योगवार्त्तिकम्**

**चित्ततदर्थयोर्विवेकप्रकारो दर्शितः। [1]इदानीं ज्ञाताज्ञातविषयत्वसदाज्ञातविषयत्वाभ्यां चित्तात्मनोर्विवेकप्रकारमाह सूत्राभ्याम्। अस्यैव च मोक्षहेतुज्ञानविषयस्य विवेकस्योपोद्घात-संगत्या कार्यकारणयोश्चित्तार्थयोश्च विवेकः पूर्वं दर्शितः। यावद्धि कार्यभिन्नं कारणं न**

---

1. ख—संसारानर्थनिदानस्य कर्तृत्वाद्यभिमानस्य निवृत्तये ( इदानीं—पश्चात् ) उपलभ्यते, क ग घ च छ—संसार...निवृत्तये नोपलभ्यते।

सिध्यति न तावद् वृत्तिकारणतया चित्तं स्थिरं सिध्यति येन ज्ञाताज्ञातविषयत्वं चित्तस्य स्यात्। यावद्वा चित्तार्थयोर्भेदोऽपि न सिध्यति न तावदपि चित्तस्य ज्ञाताज्ञातविषयत्वं सिध्यति। ततः कुतो ज्ञाताज्ञातविषयत्वसदाज्ञातविषयत्वाभ्यां चित्तात्मनोर्विवेक इति भावः। तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्। चित्तस्य कालभेदेन ज्ञातमज्ञातं च वस्तु भवति। कुतः? अर्थाकारतारूपोपरागसापेक्षत्वात्, अर्थज्ञान इति शेषः। अतो ज्ञाताज्ञात-विषयतया चित्तं परिणाम्यपीति भावः। नन्वर्थाकारताऽतिरिक्तं किं बुद्धेर्ज्ञानमस्ति यत्र तस्या अपेक्षोच्यत इति चेत्? न; भूतप्रकाशवत्सत्त्वस्यापि कश्चन प्रकाशोऽस्ति [1]सुषुप्त्यादिव्या-वृत्तोऽनुभवसिद्धः, तस्यैवान्याकारावच्छिन्नस्य बुद्धिधर्म[2]ज्ञानत्वादिति। उपरागकारणप्रदर्शन-पूर्वकं सूत्रं व्याचष्टे—अयस्कान्तेति। अयस्कान्तमणिवदक्रिया एव विषयाः, अयोवत् क्रियाशीलं चित्तं स्वमहिम्नाऽऽकृष्य स्वस्मिन् संयोज्य तदुपरञ्जयन्ति [3]स्वाकारैराकारयन्तीति लाक्षारस इव वस्त्रम्। अतो येन विषयेणोपरक्तं तच्चित्तं स विषयस्तस्य ज्ञात इत्यर्थः, इतरे चाज्ञाता इत्यर्थः। यद्यपि चित्तस्य जडत्वान्न ज्ञानं चैतन्यस्यैव ज्ञानत्वात्, तस्य च पौरुषेयत्वात्, उभयत्र ज्ञानकल्पने गौरवात्, सत्त्वस्य प्रकाशरूपता च प्रतिबिम्बग्रहणक्षमनैर्मल्यमात्रं [4]तथाऽपि तप्तायोवद्व्यवहारतो बुद्धिसत्त्वप्रकाशोऽपि ज्ञानशब्देनोक्तः। सूत्रतात्पर्यविषयं पुरुषाद्वैधर्म्यान्तरं हेयतायाः विवेकस्य च [5]बीजं चित्तस्य च दर्शयति—वस्तुत इति। अतो ज्ञाताज्ञातवस्तुकत्वान्य-थाऽनुपपत्त्या चित्तस्योपरागाख्यपरिणामः सिद्ध इत्यर्थः॥१७॥

इस प्रकार पीछे चित्त और उसके विषयीभूत पदार्थ की भेदसरणि को प्रदर्शित किया गया। सम्प्रति, ज्ञाताज्ञातविषयत्व और सदाज्ञातविषयत्व के कारण चित्त और आत्मा के (क्रमशः) पार्थक्य को सूत्रद्वय के द्वारा बतलाया जा रहा है। किञ्च इसी मोक्षहेतुक ज्ञान के विषयभूत विवेक (भेदज्ञान) की प्रासङ्गिक संगति लगाते हुए कार्य-कारण का तथा चित्त और अर्थ का अन्तर भी पीछे प्रतिपादित किया गया। किन्तु जब तक कार्य से भिन्न कारण सिद्ध नहीं होता है, तब तक वृत्ति के कारण रूप से अर्थात् विषयाकार परिणाम रूप से चित्त को स्थिर अर्थात् अक्षणिक सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अर्थात् चित्त की अक्षणिकता सिद्ध नहीं किया जा सकती है, जिससे चित्त की ज्ञाताज्ञातविषयता मानी जा सके। अथवा ऐसा कहा जा सकता है कि जब तक चित्त और विषय (अर्थ) का भेद सिद्ध नहीं होता है, तब तक

---

1. क ग घ च छ—सुषुप्त्यादिव्यावृत्तोऽनुभवसिद्धः, ख—सुप्त्यादिव्यावृत्तोऽर्थप्रतिबिम्बोद्ग्रहणनियामकः।
2. ख—यदि चार्थाकारतैवार्थप्रकाशश्चित्तस्येष्यते, तदाऽर्थज्ञातत्वाविभागे चित्तस्योपरागाख्यज्ञान-सापेक्षत्वादिति हेत्वर्थः (ज्ञानत्वादिति—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—यदि...हेत्वर्थः नोपलभ्यते।
3. क ग घ—स्वाकार०, ख छ—स्वाकारैः, च—स्वाकारः।
4. क ख ग च—तथा, घ छ—तया।
5. क ख ग घ च—बीजं चित्तस्य उपलभ्यते, छ—बीजं चित्तस्य नोपलभ्यते।

चित्त की ज्ञाताज्ञातविषयता भी सिद्ध नहीं हो सकती है। तो फिर ज्ञाताज्ञातविषयत्व और सदाज्ञातविषयत्व के द्वारा चित्त और आत्मा का विवेक (भेद, पार्थक्य) कैसे सिद्ध हो सकता है? अतः सूत्र है—'तदुपरागेति।' चित्त को कालभेद से वस्तु ज्ञात तथा अज्ञात रहती है।

**शङ्का**—चित्त को वस्तु कैसे ज्ञाताज्ञात रहती है?

**समाधान**—अर्थाकारतारूप 'उपराग' की अपेक्षा से चित्त को अर्थज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। अर्थात् चित्त की ज्ञाताज्ञातविषयता 'अर्थाकारतारूप उपराग' के अधीन है। इस प्रकार ज्ञाताज्ञातविषयता के कारण 'चित्त परिणामी है'—यह भी सिद्ध हो जाता है।

**शङ्का**—बौद्धज्ञान क्या अर्थाकारता से अतिरिक्त (पृथक्) होता है, जिसके लिये अर्थाकारता की अपेक्षा कही जा रही है?

**समाधान**—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि भूत (तमोमय विषय) के प्रकाश की तरह सत्त्व (सत्त्वगुणप्रधान चित्त) में भी प्रकाश रहता है, जो सुषुप्त्यादि से भिन्न अनुभव (विषयाकार प्रमाणादिवृत्ति) में सिद्ध है, क्योंकि अन्य विषयाकारावच्छिन्न सात्त्विक प्रकाश बुद्धि का ही ज्ञानरूप धर्म होता है। भाष्यकार चित्त और विषय के 'उपराग' के कारण के प्रदर्शनपूर्वक सूत्र की व्याख्या करते हैं—'**अयस्कान्तेति**।' '**विषय**' अयस्कान्तमणि की भाँति क्रियारहित ही होते हैं और '**चित्त**' लोहवत् क्रियाशील होता है। इस प्रकार अयस्कान्तमणिवत् विषय अपनी महिमा से अयोवत् क्रियाशील चित्त को '**आकृष्य**' अर्थात् अपने से संयुक्त कराके उस चित्त को अपने आकार से उसी प्रकार आकारित कर लेते हैं जिस प्रकार लाक्षारस अपने रक्तिम वर्ण से (शुभ्र) वस्त्र को रंग देता है। अतः वह चित्त जिस विषय से उपरक्त होता है, वह विषय उस चित्त को ज्ञात होता है और तदतिरिक्त अनुपरक्त सभी विषय उस चित्त को अज्ञात रहते हैं। यद्यपि जड होने से चित्त ज्ञानस्वरूप नहीं है, (क्योंकि) ज्ञानस्वरूप तो पुरुष ही है और चित्त को होने वाला विषयज्ञान भी पुरुषनिष्ठ है, बुद्धि और पुरुष दोनों में ज्ञान की कल्पना करने पर गौरवदोष आता है। बुद्धिसत्त्व की प्रकाशरूपता तो प्रतिबिम्बग्रहण की क्षमताविशिष्ट निर्मलता (स्वच्छता) मात्र है, तथापि दग्धलोहपिण्ड की भाँति बुद्धिसत्त्वनिष्ठ प्रकाश भी व्यवहारतः '**ज्ञान**' शब्द से कहा गया है। भाष्यकार सूत्र के पर्यवसित तथ्य को अर्थात् पुरुष से हेय और विवेक के हेतुभूत चित्त के विपरीत धर्म को प्रदर्शित करते हैं—'**वस्तुत**' इति। चित्त की ज्ञाताज्ञातविषयता अन्य प्रकार से उपपन्न न होने के कारण उसका 'उपराग' संज्ञक परिणाम होना सिद्ध होता है। अर्थात् सदाज्ञातविषयक होने से पुरुष अपरिणामी तथा ज्ञाताज्ञातविषय वाला होने से चित्त परिणामी है॥१७॥

सम्प्रति, वैयासिकी उपस्थानिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

**व्यासभाष्यम्**

**[1]यस्य तु तदेव [2]चित्तं विषयस्तस्य–**

जिस (पुरुष) का वह विषयाकारित चित्त ही विषय बनता है, उस–

**योगसूत्रम्**

**सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्या[3]परिणामित्वात्॥१८॥**

साक्षी पुरुष के अपरिणामी होने के कारण उसे चित्त की वृत्तियाँ सर्वदा ज्ञात ही रहती हैं॥१८॥

**व्यासभाष्यम्**

**यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत ततस्तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयव[4]ज्ज्ञाताः स्युः। सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति॥१८॥**

यदि चित्त के समान उस (चित्त) का स्वामी पुरुष भी परिणाम को प्राप्त होवे तो पुरुष की विषयभूता चित्तवृत्तियाँ भी, शब्दादि विषयों की भाँति, कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होंगी। किन्तु चित्तवृत्तियों का तो सर्वदा ज्ञातृत्व ही है। अतः ये चित्तवृत्तियाँ अपने स्वामी पुरुष के अपरिणामी होने का अनुमान कराती हैं॥१८॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार स्वरचित विस्तृत उपस्थानिका द्वारा सूत्र को उठाते हैं–

**तत्त्ववैशारदी**

**तदेवं [5]चित्तव्यतिरेकिणमर्थमवस्थाप्य तेभ्यः परिणतिधर्मकेभ्यो व्यतिरिक्तमात्मानमादर्शयितुं त[6]द्वैधर्म्यपरिणामित्वमस्य वक्तुं पूरयित्वा सूत्रं पठति–यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य–सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्। क्षिप्त[7]मूढविक्षिप्तैकाग्रतावस्थितं चित्तमा निरोधात्सर्वदा पुरुषेणानुभूयते वृत्तिमत्। तत्कस्य हेतोः? यतः**

---

1. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य** ४/१८ सूत्रस्य अवतरणिका, ग–**यस्य...तस्य** ४/१७ सूत्रस्य टीका।
2. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–**चित्तं**, छ थ–**चित्तं सः**।
3. **अपरिणामात्**–इति पाठान्तरम्।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र–**ज्ञाताज्ञाताः**, म–**ज्ञाताः**।
5. क छ–**चित्तम्**, ख ग घ च ज झ थ द ध न–**चित्त०**, त–**चित्तस्य**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त न–**वैधर्म्यम्**, थ द ध–**वैधर्म्य०**।
7. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–**मूढ०**, ज–**मूढम्**।

**पुरुषोऽपरिणामी। परिणामित्वे चित्तवत् पुरुषोऽपि ज्ञाताज्ञातविषयो भवेत्। ज्ञातविषय एव [1]त्वयम्। तस्मादपरिणामी। ततश्च परिणामिभ्योऽतिरिच्यत इति।**

इस प्रकार चित्त से भिन्न बाह्य पदार्थ को सिद्ध करके अब उन परिणामशील जड पदार्थों से भिन्न आत्मतत्त्व को प्रदर्शित करने के लिये अर्थात् पुरुष में अपरिणामित्व धर्म को सिद्ध करने के लिये भाष्यकार **'यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य'** इतने अंश को सूत्र के साथ सम्मिलित करके पढ़ते हैं। सूत्र है–**'सदेति।'** क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त तथा एकाग्र भूमि वाला चित्त; जब तक निरोध भूमि (निर्वृत्तिक स्थिति) को प्राप्त नहीं कर लेता है, तब तक विषयाकाराकारित वृत्ति वाला होकर सर्वदा पुरुष के द्वारा जाना जाता है।

**शङ्का**–किस हेतु से पुरुष को विषयाकार चित्त सर्वदा ज्ञात रहता है?

**समाधान**–अपरिणामी होने के कारण पुरुष को चित्तवृत्तियाँ सर्वदा ज्ञात रहती हैं। यदि पुरुष को भी चित्त की भाँति परिणामी माना जाय तो जिस प्रकार चित्त को विषय कभी ज्ञात रहता है और कभी अज्ञात रहता है, उसी प्रकार पुरुष भी ज्ञाताज्ञात विषय वाला हो जायेगा, किन्तु पुरुष को विषय सर्वदा ज्ञात ही रहता है। इसलिये पुरुष अपरिणामी है। किञ्च अपरिणामी होने से पुरुष परिणामशील पदार्थों से भिन्न है।

**तत्त्ववैशारदी**

**तदेतदाह–यदि चित्तवदिति। सदा ज्ञातत्वं तु मनसः सवृत्तिकस्य तस्य यः प्रभुः स्वामी भोक्तेति यावत्। तस्य प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति। तथा चापरिणामिनस्तस्य [2]पुरुषस्य न परिणामिनश्चित्ताद्भेद इति भावः॥१८॥**

इसलिये भाष्यकार कहते हैं–**'यदि चित्तवदिति।'** पुरुष को चित्त की जो सर्वज्ञातृता कही गई है, वह सवृत्तिक चित्त को लेकर है। अर्थात् निर्वृत्तिक चित्त को लेकर नहीं है। इस प्रकार सवृत्तिक चित्त का जो स्वामी है, वही पुरुष **'भोक्ता'** है, उसे चित्तवृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं। और ये चित्तवृत्तियाँ अपने स्वामी पुरुष के अपरिणामित्व का अनुमान कराती हैं। इस प्रकार अपरिणामी पुरुष का परिणामी चित्त से भेद सिद्ध होता है॥१८॥

**बालप्रिया**–

**'सवृत्तिकस्य'**–इसके मूल में निम्नाङ्कित तथ्य निहित है–

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न–**त्वयम्**, थ–**त्वर्थः**।
2. क घ च छ ज झ त–**पुरुषस्य परिणामिनः चित्तात्**, ख ग थ द ध–**परिणामिनश्चित्तात् पुरुषस्य**, न–**पुरुषस्य न परिणामिनः**।

**शङ्का**–निरोधावस्था में तो पुरुष को चित्त का ज्ञान नहीं होता है, फिर पुरुष का सर्वज्ञातृत्व कैसे कहा जा रहा है?

**समाधान**–आपत्तिजनक इस स्थिति के निवारण के लिये ही तत्त्ववैशारदीकार ने भाष्य के '**मनसः**' पद को '**सवृत्तिकस्य**' पद से विवृत किया है। तात्पर्य यह है कि योग के अनुसार पुरुष को निर्वृत्तिक चित्त का ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि विषयाकाराकारित चित्त में प्रतिबिम्बित पुरुष को विषय का बोद्धा कहा जाता है। '**पुरुषस्य अपरिणामित्वम्**' को लेकर अनुमान प्रयोग इस प्रकार है–

'**पुरुषोऽपरिणामी**' अर्थात् पुरुष अपरिणामी है–**प्रतिज्ञा**।

'**सदा ज्ञातविषयत्वात्**' अर्थात् सर्वदा ज्ञात विषय वाला होने से–**हेतु**।

'**यत् परिणामी, न तत्सदा ज्ञातविषयः**' अर्थात् जो परिणामी होता है, वह सदा ज्ञात विषय वाला नहीं होता है–**व्याप्ति**।

'**यथा चक्षुरादिः**' अर्थात् जैसे चक्षुरादि परिणामी होने से सदा विषयसन्निकर्ष वाले नहीं होते हैं–**उदाहरण**॥१८॥

### योगवार्त्तिकम्

**घटादीनामपि साक्षात्पुरुषविषयत्वे पुरुषस्यापि ज्ञाताज्ञातविषयत्वं स्यादित्याशयेन पूरयित्वोत्तरसूत्रमुत्थापयति–यस्य [1]त्विति। सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्। यस्य तु तदेव विषयोपरक्तमेव चित्तं विषयो नान्यत् अतस्तस्य तत्प्रभोश्चित्तसाक्षिणः पुरुषस्य विषयाश्चित्तवृत्तयः सदा ज्ञाताः, पुरुषस्यापरिणामादित्यर्थः। परिणामित्वे हि कदाचित्पुरुषस्यान्ध्यापत्त्या विद्यमानाऽपि चित्तवृत्तिर्न ज्ञायेत, तदा च तस्यापि ज्ञाताज्ञातोभयरूपत्वे अहं सुखी न वा, दुःखी न वेच्छामि न वेत्यादिसंशयः स्यात्। एतादृशश्च संशयो न दृश्यते। अतो वृत्तेरज्ञातसत्ता नास्ति, ततश्च पुरुषोऽपरिणामीत्यायातम्। ननु पुरुषस्यापरिणामित्वस्य व्यवस्थापने किमिति सांख्ययोगयोराग्रह इति चेत्? शृणु–यदि हि पुरुषस्य ज्ञानादिलक्षणधर्मः कश्चन मोक्षे नश्येत् तदा व्ययदोषेण दारिद्र्यवद् मोक्षो न परमपुरुषार्थः स्यादिति। अस्मिन् सूत्रे बुद्धिवृत्तिरेव पुरुषस्य विषय इति लब्धम्। अत एव–**

पुरुषो विषयी नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृतः।

**इत्यनुगीतायां नित्यमित्यनेन सत्त्वाख्याया बुद्धिवृत्तेरेव पुरुषविषयत्वमुक्तम्।**

**शङ्का**–घटादि भी पुरुष के साक्षात् विषय बनते हैं, अतः (चित्तवत्) पुरुष को भी ज्ञाताज्ञातविषय वाला माना जाय?

**समाधान**–उक्त अभिप्राय से भाष्यकार अग्रिम सूत्र को पूरा करते हुए उठाते हैं– '**यस्य त्विति**' सूत्र है–'**सदेति**' जिस चेतन पुरुष का विषयाकाराकारित (विषयोपरक्त)

1. ख–**सूत्रेण सहान्वयः** (त्विति–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–**सूत्रेण सहान्वयः** नोपलभ्यते।

चित्त ही विषय बनता है, अन्य निर्विषयक चित्त नहीं, उस चित्त के **'प्रभु'** अर्थात् साक्षिरूप पुरुष को अपनी विषयभूत चित्तवृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं, क्योंकि पुरुष अपरिणामी है। यदि पुरुष को (चित्त की भाँति) परिणामी माना जाय तो पुरुष के कादाचित्क अन्ध्यापत्ति से विद्यमान चित्तवृत्ति भी पुरुष के द्वारा ज्ञात नहीं हो सकेगी और तब परिणामी पुरुष के भी ज्ञाताज्ञात उभयरूप होने पर **'अहं सुखी न वा, दुःखी न वा, इच्छामि न वा'** अर्थात् मैं सुखी हूँ अथवा नहीं, दुःखी हूँ अथवा नहीं, इच्छा कर रहा हूँ अथवा नहीं—ऐसी संशयात्मक स्थिति उत्पन्न होगी। किन्तु पुरुष में इस प्रकार का संशय तो दिखलाई नहीं पड़ता है। अतः वृत्ति (विषयाकारित चित्तवृत्ति) की अज्ञात सत्ता (अज्ञात स्थिति) नहीं होती है। इससे यह भी निकल आता है कि पुरुष अपरिणामी है।

**शङ्का**—पुरुष को अपरिणामी सिद्ध करने में सांख्ययोग इतना आग्रह क्यों करता है? अर्थात् पुरुष को अपरिणामी मानने का प्रयोजन क्या है?

**समाधान**—पूर्वपक्षी सुने—पुरुष को परिणामी मानने पर पुरुष का ज्ञानादिलक्षणात्मक कोई भी धर्म यदि मोक्ष की अवस्था में नष्ट हो जाय तो (धनादि के) व्ययदोष से निष्पादित दारिद्र्य की भाँति मोक्ष परमपुरुषार्थरूप नहीं रह पायेगा। किन्तु शास्त्र में मोक्ष परमपुरुषार्थरूप से ही प्रतिपादित हुआ है। अतः उक्त असंगति के अपसारणार्थ पुरुष को अपरिणामी मानना अपरिहार्य है। इस सूत्र से यह भी पर्यवसित (लब्ध) होता है कि बुद्धिवृत्ति ही पुरुष का विषय बनती है। अत एव अनुगीता के **'पुरुष...विषयः स्मृतः'** (महाभारत अश्व ५०/८) अर्थात् 'पुरुष नियमतः विषयी है और सत्त्वरूप बुद्धि विषय कही गई है'—इस वाक्य में **'नित्यम्'** पद के द्वारा सत्त्वाख्य बुद्धिवृत्ति ही पुरुष के विषय रूप से अभिहित हुई है।

### योगवार्त्तिकम्

**सूत्रतात्पर्यविषयं चित्ताद्वैधर्म्यं भाष्यकार आह—यदीति। भाष्यं सुगमम्। ननु यदि चित्तमेव पुरुषस्य विषयस्तर्हि शब्दादिप्रकाशः कथं स्यात्, चित्तस्याचेतनत्वेन विषयतामात्रेण प्रकाशासम्भवादिति चेत्? न; चित्तारूढतयैव शब्दादीनां पुरुषे [1]भानादिति। ननु सर्वसम्बद्धत्वाविशेषेऽपि चित्तमेव पुरुषस्य विषयो नान्य इत्यत्र का युक्तिरिति चेत्? शृणु—अर्थाकारतैव विषयविषयिभावो न तु संयोगमात्रम्, अतीन्द्रियेषु संयोगसत्त्वेऽपि चित्तविषयत्वाभावात्। सा चार्थाकारता प्रतिबिम्बरूपैव पुरुषे स्वीकार्या, स्वतोऽपरिणामित्वस्य साधितत्वात्। अतः पुरुषे प्रतिबिम्बसमर्पणसामर्थ्यं वृत्तिमत्त्वचित्तस्यैव फलबलात् कल्प्यते यथा जलादौ प्रतिबिम्बनसामर्थ्यं रूपवत्स्थूलद्रव्यस्यैवेति। तदेताभ्यां सूत्राभ्यां चित्तविधर्मतया चित्तातिरिक्तो**

---

1. क ख ग च—भानात्, घ छ—भावात्।

मोक्षभागी पुरुषः प्रतिपादितः आभ्यां च सूत्राभ्यामज्ञानमिच्छाऽऽदिविकारजातं च चित्तनिष्ठमेव न तु पुरुषनिष्ठमित्यवगन्तव्यम्। ननु पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वेन ज्ञानपरिणामो माऽस्तु, इच्छासुखादिपरिणामे तु किं बाधकमिति चेत्? शृणु—पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वे सिद्धे लाघवाच्चित्तप्रकाशस्वरूपमेकैकमेवात्मद्रव्यं सिध्यति, ततश्चाज्ञानस्य चित्तधर्मतयाऽज्ञानकार्यं धर्मादिकं तत्कार्यं चेच्छासुखादिकमपि चित्तस्यैव, समानाधिकरण्यप्रत्यासत्तौ लाघवादिति भावः॥१८॥

'पुरुष में चित्त से विपरीत धर्मता है'—सूत्र के इस मन्तव्य को भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं—'यदिति।' भाष्यार्थ सरल है।

**शङ्का**—यदि 'चित्त' को ही पुरुष का विषय माना जाय तो शब्दादि विषय का प्रकाश अर्थात् ज्ञान किस प्रकार होगा, क्योंकि अचेतन होने से चित्त के विषयतामात्र से तो शब्दादि का प्रकाश अर्थात् ज्ञान होना सम्भव नहीं है?

**समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि चित्तारूढ होने से ही शब्दादि विषय का पुरुष को ज्ञान होता है।

**शङ्का**—जब पुरुष का बुद्धि, घट, पट आदि सभी पदार्थों के साथ समानरूप से सम्बन्ध है तो चित्त ही पुरुष का विषय है, अन्य घटादि पदार्थ नहीं—ऐसा कहने में कौन सी युक्ति है?

**समाधान**—पूर्वपक्षी सुने--'अर्थाकारता' ही विषयविषयिभाव सम्बन्ध की नियामिका है, न कि दो वस्तुओं का संयोगमात्र। इसीलिये अतीन्द्रिय पदार्थों के साथ चित्त का संयोग होने पर भी वे अतीन्द्रिय पदार्थ चित्त के विषय नहीं बन पाते हैं। यह 'अर्थाकारता' पुरुषपक्ष में 'प्रतिबिम्बरूपा' है और चित्तपक्ष में 'परिणामरूपा।' पुरुष में प्रतिबिम्बरूप अर्थाकारता होने से ही उसका अपरिणामित्व सिद्ध होता है। पुरुष में प्रतिबिम्बग्रहण का सामर्थ्य वृत्तिविशिष्ट चित्त के ही फलबल से उसी प्रकार कल्पित है जिस प्रकार जलादि में प्रतिबिम्बग्रहण का सामर्थ्य रूपवान् स्थूल द्रव्य के कारण ही होता है। इस प्रकार सूत्रकार ने इन दो सूत्रों (४/१७-१८) के द्वारा चित्त के धर्मों से भिन्न धर्म वाला होने से चित्तद्रव्य से अतिरिक्त मोक्षभागीय पुरुष तत्त्व को सिद्ध किया है। इससे यह भी सुनिश्चित हो जाता है कि अज्ञान, इच्छादि विकारजात चित्त के ही धर्म हैं। अर्थात् वे चित्तनिष्ठ ही हैं। वे पुरुष के धर्म नहीं हैं।

**शङ्का**—'पुरुष को चित्तवृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं'—इस सदाज्ञातविषयत्व के कारण पुरुष का ज्ञानात्मक परिणाम भले ही न माना जाय किन्तु इच्छा, सुखादिरूप परिणाम मानने में कौन सी बाधा है? अर्थात् किसी प्रकार के बाधक के न रहने के कारण पुरुष का इच्छा सुखादिरूप परिणाम होता है, ऐसा मानना चाहिये।

**समाधान**–पूर्वपक्षी सुने–पुरुष की सदाज्ञातविषयता के सिद्ध हो जाने पर (शरीरभेद से) चित्तप्रकाशस्वरूप एक-एक आत्मतत्त्व ही लाघव से सिद्ध होता है और अज्ञान चित्त का धर्म है। इसलिये अज्ञान के कार्य धर्मादि और धर्मादि के कार्य इच्छा, सुखादि भी चित्त के ही धर्म सिद्ध होते हैं, क्योंकि कार्यकारण का सामानाधिकरण्य मानने में ही लाघव है। अतः चित्तनिष्ठ अज्ञान के कार्य इच्छादि को पुरुष का परिणाम मानने की युक्ति निरस्त हो जाती है॥१८॥

सम्प्रति, प्रश्नपरक वैयासिकी अवतरणिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है–

व्यासभाष्यम्

**[1]स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासं [2]च भविष्यत्यग्निवत्–**

**शङ्का**–इस पर आशङ्का हो सकती है कि अग्नि के समान चित्त ही अपना प्रकाशक और विषय का भी प्रकाशक हो जाय? (अतः चित्त के प्रकाशक रूप में पुरुष को स्वीकार करना व्यर्थ है)।

**समाधान**–उत्तर है–

योगसूत्रम्

न [3]तत्[4]स्वाभासं दृश्यत्वात्॥१९॥

दृश्य होने के कारण चित्त अपना प्रकाशक नहीं हो सकता है॥१९॥

व्यासभाष्यम्

**यथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतव्यम्। न चाग्निरत्र दृष्टान्तः। न ह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति। प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे दृष्टः। न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः। किञ्च स्वाभासं चित्तमित्यग्राह्यमेव [5]कस्यचिदिति शब्दार्थः। तद्यथा–स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं**

---

1. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं च भविष्यत्यग्निवत्** ४/१९ सूत्रस्य अवतरणिका, ग–**स्याद्...अग्निवत्** ४/१८ सूत्रस्य टीका।
2. च छ ज झ त थ द ध न–**वैशेषिकाणां चित्तात्मवादिनां च**, भ–**वैनाशिकानां चित्तात्मवादिनां च** (**च**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ प फ ब म य र–**वैशेषिकाणां.../वैनाशिकानां...**नोपलभ्यते।
3. **तत्-त्तत्**–इति पाठान्तरम्।
4. **स्वभासं**–इति पाठान्तरम्।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**कस्यचित्**, ब–**चित्तं स्यात्**।

**[1]न परप्रतिष्ठमित्यर्थः। स्वबुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात्सत्त्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते—क्रुद्धोऽहं भीतोऽहममुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इति। एतत्स्वबुद्धेरग्रहणे न युक्तमिति॥१९॥**

जैसे अन्य इन्द्रियाँ और शब्दादि विषय 'दृश्य' होने के कारण स्वप्रकाशक नहीं होते हैं, वैसे ही चित्त भी स्वप्रकाशक नहीं है—ऐसा समझना चाहिये। चित्त के स्वप्रकाशक होने में अग्नि को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है। क्योंकि अग्नि अपने अप्रकाशित स्वरूप को प्रकाशित नहीं करती है। यह जो विषय का प्रकाश है, वह प्रकाश्य और प्रकाशक के संयोग होने पर देखा जाता है। संयोग स्वरूपमात्र अर्थात् किसी अकेली वस्तु में नहीं होता है। और यदि (यह कहा जाय कि) 'चित्त अपना प्रकाशक है'—इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि 'वह किसी अन्य का विषय नहीं है', जैसे 'आकाश अपने आप में प्रतिष्ठित है'—इसका अभिप्राय यह है कि किसी अन्य में प्रतिष्ठित नहीं है। (तो यह वक्तव्य भी असंगत है, क्योंकि) अपने-अपने चित्त के व्यापारों का अनुभव होने पर ही प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती है, जैसे 'मैं क्रुद्ध हूँ, मैं भयभीत हूँ, इस विषय में मेरा अनुराग है तथा इस पर मेरा क्रोध है'—इस प्रकार का अनुभव अपने चित्त का प्रतिसंवेदन न मानने पर सम्भव नहीं है॥१९॥

### तत्त्ववैशारदी

**अत्र वैनाशिकमुत्थापयति—स्यादाशङ्केति। अयमर्थः—स्यादे[2]तदेवं यदि चित्तमात्मनो विषयः स्यात्। [3]न त्वेतदस्ति, अपि तु स्वप्रकाशमेतद्विषयाभासं पूर्वचित्तं प्रतीत्य समुत्पन्नम्। तत्कुतः पुरुषस्य सदा[4]ज्ञातविषयत्वम्? कुतस्तरां [5]वाऽ[6]परिणामितया परिणामिनश्चित्ताद् भेद इति? न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्। भवेदेतदेवं यदि स्वसंवेदनं चित्तं स्यात्। न त्वेतदस्ति। तद्धि परिणामितया नीलादिवदनुभवव्याप्यम्। यच्चानुभवव्याप्यं न तत्स्वाभासं भवितुमर्हति, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। न हि तदेव क्रिया च [7]कर्म च कारकं च। न हि पाकः पच्यते, छिदा**

---

1. क च त—**अप्रतिममेव**, ख ग घ छ ज झ थ द ध प फ भ म य र—**न परप्रतिष्ठं**, न—**अप्रतिष्ठमेव**, ब—**अप्रतिष्ठम्**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—एतत् उपलभ्यते, थ द ध—एतत् नोपलभ्यते।
3. ग थ द ध न—**न त्वेतदस्ति** उपलभ्यते, क ख घ च छ ज झ त—**न त्वेतदस्ति** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—**ज्ञात०**, झ—**ज्ञान०**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न—**वा**, थ द ध—**च**
6. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—**अपरिणामितया** उपलभ्यते, त—**अपरिणामितया** नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—**कर्म च** उपलभ्यते, त—**कर्म च** नोपलभ्यते।

वा छिद्यते। पुरुषस्त्वपरिणामी नानुभवकर्मेति नास्मिन्स्वयंप्रकाशता [1]न युज्यते। अपराधीन-प्रकाशतो ह्यस्य स्वयम्प्रकाशता, नानुभवकर्मतः। तस्माद् दृश्यत्वाद् दर्शनकर्म चित्तं न स्वाभासम्। आत्मप्रकाश[2]प्रतिबिम्बितस्यैव चित्तस्य तद्वृत्तिविषयाः प्रकाशन्त इति भावः।

**शङ्का**—भाष्यकार (विज्ञानात्मवादी) वैनाशिकों की ओर से शंका करते हैं—'स्यादाशङ्केति'। अभिप्राय यह है—पुरुष का अपरिणामित्व और सदाज्ञातृत्व तभी सम्भव हो सकता है, जब चित्त आत्मा का विषय हो। किन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि विषय को प्रकाशित करना अर्थात् विषय को जानना ही चित्त की स्वप्रकाशता है, ऐसे (उत्तरवर्त्ती) चित्त की स्वप्रकाशता पूर्वचित्त को जानकर उत्पन्न होती है। अतः जब विषय का प्रकाशक प्रकाशस्वरूप चित्त ही है तो किस कारण से पुरुष की सर्वज्ञातविषयता कही जाती है? अथवा अपरिणामी रूप से कैसे पुरुष का परिणामी चित्त से भेद (अन्तर) किया जाता है? अर्थात् पुरुषसंज्ञक कोई पृथक् तत्त्व ही नहीं है, जिसका सर्वज्ञातविषयत्व और तत्प्रयुक्त अपरिणामित्व स्वरूप बतलाकर चित्त का दृश्यत्व स्थापित किया जाय?

**समाधान**—'न तदिति' चित्तात्मवादी पूर्वपक्षी का पूर्वपक्ष तभी उत्तरपक्ष बन सकता है अर्थात् पूर्वपक्षी के उपरिनिर्दिष्ट तथ्य को तभी मान्यता प्राप्त हो सकती है, जब चित्ततत्त्व स्वप्रकाशक हो, किन्तु ऐसा तो है नहीं। क्योंकि परिणामी होने से नीलादि पदार्थों की तरह चित्त अनुभव अर्थात् ज्ञान का विषय बनता है अर्थात् चित्त-विषयक ज्ञान होता है। और जो ज्ञान का विषय बनता है, वह कभी स्वप्रकाशक नहीं हो सकता है। क्योंकि स्वयं अपने से अपना ज्ञान मानने पर आत्माश्रयदोष आता है। एक ही वस्तु कर्त्ता भी हो और कर्म भी हो, ऐसा नहीं हो सकता है। जैसे पाक स्वयं तो पकता नहीं है और कुठार स्वयं अपना छेदन तो करता नहीं है। प्रकृत में पुरुष अपरिणामी है, इसलिये वह अनुभव का कर्म नहीं है। अतः पुरुष में प्रकाशस्वरूपता नहीं है अर्थात् पुरुष प्रकाशात्मक नहीं है—यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। किसी अन्य से प्रकाशित न होना अर्थात् अपराधीन प्रकाशता होना ही पुरुष का 'स्वयंप्रकाशत्व' कहलाता है, न कि अनुभवकर्मता को 'स्वप्रकाशत्व' कहते हैं। अतः दृश्य होने के कारण ज्ञान का कर्म (विषय) बनने वाला चित्त स्वाभासक नहीं है। चित्त में प्रकाशस्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पडने से ही चित्त को विषय प्रकाशित होते हैं—यह तात्पर्य है। (इस प्रकार 'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' का अन्तर स्पष्ट हो जाता है)।

**बालप्रिया**—

'नानुभवकर्म इति'—यहाँ 'इति' अव्यय हेत्वर्थक है। 'पुरुष अपरिणामी है'—इस कारण

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—न उपलभ्यते, झ—न नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ ज झ—प्रतिबिम्बतयैव, ख त—प्रतिबिम्बितयाऽपि, थ द ध न—प्रतिबिम्बितस्यैव।

से वह ज्ञान का कर्म नहीं होता है। अतः पुरुष का 'स्वयंप्रकाश' स्वरूप स्फुट है।

पूर्वपक्षी चित्त को 'स्वप्रकाश' सिद्ध करने का पुनः निष्फल प्रयास करता है—

### तत्त्ववैशारदी

**ननु दृश्योऽग्निः स्वयंप्रकाशश्च, न हि यथा घटादयोऽग्निना व्यज्यन्त एवमग्निरग्न्यन्तरेणेत्यत आह—न चाग्निरत्रेति। कस्मात्? न हीति। मा नामाग्निरग्न्यन्तरात् [1]प्रकाशिष्ट विज्ञानात्तु प्रकाशत इति न स्वयं प्रकाशत इति न व्यभिचार इत्यर्थः। प्रकाशश्चायमिति। अयमिति पुरुषस्वभावात्प्रकाशाद्व्यवच्छिनत्ति। क्रियारूपः प्रकाश इति यावत्।**

**शङ्का**—अग्नि दृश्य और स्वयंप्रकाश दोनों है, क्योंकि जिस प्रकार घटादि अग्नि से अभिव्यक्त अर्थात् प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार एक अग्नि के प्रकाश के लिये अपर अग्नि की आवश्यकता नहीं पड़ती है। प्रकृत में चित्त भी दृश्य एवं स्वप्रकाशक है। अतः चित्त के प्रकाश के लिये तद्भिन्न पुरुष को मानने की आवश्यकता नहीं है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'न चाग्निरत्रेति'** चित्त को प्रकाशस्वरूप सिद्ध करने के लिये अग्नि को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।

**शङ्का**—अग्नि को दृष्टान्त रूप से उपस्थापित करने में क्या आपत्ति है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'न हीति'** अग्नि का प्रकाश अर्थात् ज्ञान अग्न्यन्तर से न हो, किन्तु विज्ञान से अग्नि का प्रकाश होता है। अर्थात् अग्नि ज्ञानरूप प्रकाश से प्रकाशित होती है, इसलिये अग्नि स्वयंप्रकाश नहीं है। अतः दृश्य होते हुए भी अग्नि स्वप्रकाश हो (जैसा कि पूर्वपक्षी मानता है), ऐसा व्यभिचार नहीं हो सकता है। शब्दान्तर में जो-जो दृश्य होता है, वह स्वप्रकाश नहीं होता है, जैसे घटादि—यह अनुमानप्रयोग अग्नि में भी घटित होता है। भाष्यकार इसमें युक्ति प्रस्तुत करते हैं—**'प्रकाशश्चायमिति'** यह जो विषय का प्रकाश है, वह प्रकाश्य-प्रकाशक का संयोग होने पर देखा जाता है और एक पदार्थ में संयोग नहीं देखा जाता है। अन्यथा कर्मकर्तृविरोध होगा। यहाँ प्रकाश्य-प्रकाशक के संयोग से उत्पन्न होने वाला विषयप्रकाश अपने को पुरुष के प्रकाशात्मक स्वरूप से भिन्न (सिद्ध) करता है, क्योंकि विषयप्रकाश में क्रियारूप प्रकाश है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार ने विषयप्रकाश से पुरुषप्रकाश की भिन्नता को प्रतिपादित करने के लिये जो **'क्रियारूपः प्रकाश इति यावत्'** पदावली का प्रयोग किया है, उसमें निगूढ दार्शनिक तथ्य को वे स्वयं स्पष्ट करते हैं—

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—प्रकाशिष्ट, न—प्राकाशिष्ट।

**तत्त्ववैशारदी**

**एतदुक्तं भवति–या या क्रिया सा सा सर्वा कर्तृकरणकर्मसम्बन्धेन दृष्टा। यथा पाको दृष्टश्चैत्राग्नितण्डुलसम्बन्धेन। [1]तथा प्रकाशोऽपि क्रियेति तयापि तथा भवितव्यम्। सम्बन्धश्च भेदाश्रयो नाभेदे सम्भवतीत्यर्थः। किं च स्वाभासं चित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थ इति। स्यादेतत्–मा भूद् ग्राह्यं चित्तम्, न हि ग्रहणस्याकारणस्याव्यापकस्य च निवृत्तौ चित्तनिवृत्तिरित्यत आह–स्वबुद्धीति। बुद्धिश्चित्तम्, प्रचारा व्यापाराः, सत्त्वाः प्राणिनः, चित्तस्य वृत्तिभेदाः क्रोधलोभादयः स्वाश्रयेण चित्तेन स्वविषयेण च सह प्रत्यात्ममनुभूयमानाश्चित्तस्याग्राह्यतां विघटयन्तीत्यर्थः। स्वबुद्धि[2]प्रचारप्रतिसंवेदनमेव विशदयति–क्रुद्धोऽहमितिII१९II**

अभिप्राय यह है–जो-जो क्रिया होती है, वह-वह प्रत्येक क्रिया कर्त्ता, करण और कर्म के सम्बन्ध से (निष्पन्न) देखी जाती है। जिस प्रकार 'पाक' क्रिया देवदत्तादि रूप कर्त्ता, अग्निरूप करण और तुण्डलादिरूप कर्म के सम्बन्ध (संयोग) से निष्पन्न होती है उसी प्रकार प्रकृत में 'प्रकाश' अर्थात् विषयज्ञानरूप क्रिया भी एक क्रिया है। अतः उसे भी अनेक कारकों से जन्य होना चाहिये। यदि अग्नि को स्वप्रकाश मानेंगे तो वह अपना प्रकाशक आप होगी। ऐसी स्थिति में कर्मकर्तृविरोध होगा अर्थात् आत्माश्रयदोष लागू होगा। क्योंकि संयोगसम्बन्ध आश्रयों का भेद (भेदाश्रय) होने पर होता है, न कि अभेद होने पर। अर्थात् अपने से अपना संयोग नहीं होता है। अतः अग्नि को दृष्टान्त बनाकर चित्त की स्वप्रकाशता सिद्ध नहीं होती है। चित्त दृश्य होने से जड है और जड होने से प्रकाशस्वरूप पुरुष से प्रकाशित होता है।

**शङ्का**–वैनाशिक आत्माश्रयदोष का परिहार करने के लिये **'स्वाभास'** शब्द का दूसरा अर्थ करते हैं–**'किञ्च स्वाभासं चित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थ इति'** (भाष्यार्थ यह है–चित्त स्वाभास हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि चित्त अपना विषय आप ही है। अपितु वह चित्त किसी अन्य से अग्राह्य ही है, यह **'स्वाभास'** शब्द का अर्थ है) ठीक है–आत्माश्रयदोष को रोकने के लिये चित्त स्वयं **ग्राह्य** न हो, किन्तु अकारण और अव्यापक ग्रहण की निवृत्ति होने पर चित्त की निवृत्ति नहीं होती है।

**समाधान**–इस पर भाष्यकार बतलाते हैं–**'स्वबुद्धीति'** भाष्य में प्रयुक्त **'बुद्धि'** शब्द का अर्थ **'चित्त'**, **'प्रचार'** शब्द का अर्थ 'व्यापार तथा **'सत्त्व'** शब्द का अर्थ **'प्राणी'** है। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ है–अपने चित्त के व्यापार के ज्ञान से प्राणियों की प्रवृत्ति

---

1. क घ च छ त–**यथा वा प्रकाशनम्। तथा च प्रकाशः, यथा वा प्रकाशः।** ख ग–**तथा च प्रकाशः,** ज झ थ द ध न–**तथा प्रकाशः।**
2. क छ ज–**प्रचारम्,** ख ग घ च झ त थ द ध न–**प्रचार०।**

देखी जाती है। चित्त की जो क्रोध, लोभादिविशिष्ट वृत्तियाँ है, वे अपने आश्रयभूत चित्त और अपने विषय के साथ प्रत्येक आत्मतत्त्व (पुरुष) के ज्ञान का विषय बनती हुई अर्थात् अनुभव में आती हुई चित्त की अग्राह्यता को खण्डित करती हैं अर्थात् चित्त को ग्राह्य बनाती हैं। भाष्यकार बुद्धि के व्यापार ज्ञान को ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं–'**क्रुद्धोऽहमिति**' अर्थात् मैं क्रोधयुक्त हूँ, मैं भयभीत हूँ, इस विषय में मेरा अनुराग है और इस विषय में मेरा क्रोध है'–इस प्रकार की प्रवृत्ति व्यक्ति को चित्त का ज्ञान हुए विना उपपन्न नहीं हो सकती है॥१९॥

**बालप्रिया–**

'**चित्तनिवृत्तिः**'–भाव यह कि मृत्तिका और घट में अथवा वह्नि और धूम में जिस प्रकार कार्यकारणभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध है, उसी प्रकार ग्रहण और चित्त में कार्यकारणभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव नहीं है, जिससे मृत्तिका और अग्नि की निवृत्ति होने पर घट और धूम की निवृत्ति की तरह, ग्रहण की निवृत्ति होने पर चित्त की निवृत्ति कही जा सके? सारांश यह है कि ग्रहण की निवृत्ति होने पर चित्त की निवृत्ति नहीं होती है।

'**चित्तस्याग्राह्यतां विघटयन्ति**'–भाव यह है कि ग्राह्य चित्त के ग्राहक के रूप में 'पुरुष' तत्त्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। चित्त को ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप अथवा स्वाभास मानकर लोकव्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता है॥१९॥

## योगवार्त्तिकम्

**चित्तस्यैव स्वग्राहकतया सदाज्ञातविषयकत्वं चित्तभोक्तुरसिद्धमित्याशङ्कानिरासकं सूत्रान्तरमवतारयति–स्यादाशङ्केति। वैनाशिकानां चित्तात्मवादिनामिति शेषः। चित्तमेव स्वस्य विषयस्य च प्रकाशकमग्निवद्भविष्यति, कृतमपरिणामिनाऽन्येनेत्याशङ्का वैनाशिकानां स्यादित्यर्थः। अत्राग्निचित्तयोः साधारणं प्रकाशकत्वम् अखण्डोपाधिः प्रकाश इति व्यवहारहेतुः स्वाभासतारूपसाध्ये प्रवेशनीयः, तेनाग्नि[1]चेतनयोरेकरूपप्रकाशाभावेऽपि न क्षतिः। तथा च श्रुतिस्मृत्योरप्यात्मनि नाग्न्यादिरित्यादिदृष्टान्तानुपपत्तिरिति। तामिमामाशङ्कां सूत्रेण परिहरति–न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्। व्याचष्टे–यथेतराणीति। अन्तःकरणस्यैक्याच्चित्तमेव मन इत्युक्तवान्। अत्रायं प्रयोगः–चित्तं न स्वाभासं स्वगोचरवृत्त्यभावकाले न स्वप्रकाश्यं दृश्यत्वात् इन्द्रियशब्दादिवदिति। तथा च स्वगोचरवृत्त्यभावकाले चित्तभानार्थं पुरुषः सिद्ध्यतीति भावः। वृत्ति[2]भानार्थं नियमेन वृत्तिकल्पने चानवस्थां सूत्रकार एव वक्ष्यति। स्वप्रकाश-**

---

1. क ग घ च छ–**चेतनयोः**, ख–**चित्तयोः**।
2. क ख ग च छ–**भानार्थं**, घ–**नानार्थम्**।

**यत्वं च पुरुषे प्रसिद्धम्। पुरुषस्य स्वज्ञेयतायाः प्रागु[1]क्तत्वेन व्यभिचारः स्यादतः साध्ये काल इत्यन्तम्।**

**शङ्का**—स्वग्राहक (स्वयं अपना प्रकाशक) होने से चित्त ही सदाज्ञातविषयता वाला है। अतः चित्त के भोक्ता (प्रकाशक) रूप पुरुष की सत्ता सिद्ध नहीं होती है? इस शंका के खण्डनपरक सूत्रान्तर को भाष्यकार अवतरित करते हैं—**'स्यादाशङ्केति'** चित्तात्मवादी वैनाशिकों (बौद्धों) की ओर से यह शंका की जा रही है—ऐसा वाक्यशेष है। जैसे अग्नि अपना और विषय दोनों का प्रकाशक होता है वैसे ही चित्त भी अपना और घट, पटादि विषय दोनों का प्रकाशक हो जायेगा, तो फिर चित्त के प्रकाशक रूप से दूसरे अपरिणामी पुरुष तत्त्व से क्या? अर्थात् प्रयोजन-शून्य पुरुष को मानना व्यर्थ है, ऐसी वैनाशिक बौद्धों की आपत्ति है। यहाँ अग्नि और चित्त में जो साधारणरूप से प्रकाशकत्व है, वह अखण्डोपाधिरूप है। अतः दोनों के लिये समानरूप से 'प्रकाश' शब्द का व्यवहार देखा जाता है। इस व्यवहार-रूप हेतु का स्वभासतारूप साध्य में प्रवेश करना चाहिये—इससे अग्नि और चेतन पुरुष में एकरूप प्रकाश का अभाव होने पर भी किसी प्रकार की क्षति नहीं है। इससे श्रुति-स्मृतियों में भी आत्मा में अग्न्यादि के दृष्टान्त जो दिये जाते हैं (अर्थात् आत्मा को अग्निवत् प्रकाशक बतलाया जाता है) वे भी अनुपपन्न नहीं हैं।

**समाधान**—वैनाशिक बौद्धों की इस शंका का सूत्र के द्वारा परिहार किया जा रहा है—**'न तदिति'** भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'यथेतराणीति'** अन्तःकरण की एकता से (मन, बुद्धि तथा अहंकार इन तीन का **'अन्तःकरण'** शब्द से अभिधान होने से) भाष्यकार ने प्रकृत में चित्त को ही मन शब्द से कहा है। यहाँ अनुमान-प्रयोग इस प्रकार किया जाता है—

**चित्तं न स्वाभासं स्वगोचरवृत्त्यभावकाले न स्वप्रकाश्यम्**—चित्त स्वविषयक वृत्ति के अभावकाल में स्वप्रकाश्य नहीं होता है, अतः चित्त स्वाभास नहीं है—**प्रतिज्ञा।**

**दृश्यत्वात्**—दृश्य होने के कारण—**हेतु।**

**इन्द्रियशब्दादिवत्**—इन्द्रिय, शब्दादि अन्य दृश्य के समान—**उदाहरण।**

इससे यह सिद्ध होता है कि स्वगोचरवृत्त्यभावकाल में चित्त के प्रकाशार्थ पुरुषतत्त्व है। एक वृत्ति के प्रकाशार्थ दूसरी वृत्ति की कल्पना करने का नियम मानने पर अनवस्थादोष आता है—ऐसा सूत्रकार स्वयं आगे बतलायेंगे। और स्व-प्रकाश्यत्व (स्वज्ञेयत्व) पुरुषपक्ष में ही सिद्ध (प्रसिद्ध) है। पुरुष की स्वज्ञेयता पूर्वोक्त होने से चित्त को स्वाभास मानने से व्यभिचार होगा। अतः चित्त में

---

1. क ग घ च छ—उक्तत्वेन, ख—उक्तत्वे न।

स्वाभासाभावरूप साध्य को सिद्ध करने के लिये 'स्वगोचरवृत्त्यभावकाले' यहाँ तक कहा गया है।

सम्प्रति, चित्त के स्वाभासत्व के पुष्ट्यर्थ पूर्वपक्षी द्वारा दत्त 'अग्नि' के स्वभासत्व दृष्टान्त की अनुपयुक्तता को विश्लेषित किया जा रहा है—

**योगवार्त्तिकम्**

**अग्न्यादौ च स्वभासत्वमेव नास्तीति वक्ष्यति। अतो न तत्रापि व्यभिचारः। दृष्टान्ते च सर्वदैव स्व[1]प्रकाश्यत्वाभावोऽस्तीति। [2]अत्र च कर्मकर्तृविरोधो विपक्षबाधकस्तर्कः, कर्मकर्तृविरोधे च स्वस्मिन्स्वसंयोगानुपपत्तिस्तर्कः। तथा च वक्ष्यति—प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे इति। दृष्टो न स्वरूपेऽस्ति संयोग इति। तथा परसमवेतक्रियाफलभागित्वरूपकर्मत्वं न क्रियाऽऽश्रये कर्त्तरि संभवतीति।**

अग्नि आदि में स्वभासत्व (स्वज्ञेयत्व) ही नहीं है, ऐसा भाष्यकार आगे बतलायेंगे। अतः अनुमानप्रयोग द्वारा चित्त के स्वाभासत्व को निरस्त करने के लिये 'अग्नि' दृष्टान्त में किसी प्रकार की असंगति (व्यभिचारदोष) नहीं आती है। क्योंकि दृष्टान्तभूत अग्नि में तो स्वप्रकाश्यत्व का सर्वदा अभाव ही रहता है। दृश्यभूत अग्नि को स्वयं अपना प्रकाशक मानने में कर्मकर्तृविरोधरूप विपक्षबाधकतर्क है। और कर्मकर्तृरूप विरोध में युक्ति यही है कि अपने से स्वसंयोग उपपन्न नहीं होता है। जैसा कि भाष्यकार बतलायेंगे—**'प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे इति।'** प्रकाश्य वस्तु और प्रकाशक वस्तु का संयोग होने पर ही प्रकाशरूप क्रिया देखी जाती है। किसी भी वस्तु में प्रकाशक और प्रकाश्य—इन दो रूपों का एक साथ होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार परसमवेतक्रियाफलभागित्वरूप कर्मत्व क्रिया के आश्रयभूत कर्त्ता में सम्भव नहीं होता है।

इस प्रकार चित्तात्मवादी वैनाशिकों के मत का खण्डन करके वार्त्तिककार शंका-समाधान की शैली से आधुनिक वेदान्तिब्रुवों के मत को भी निरस्त करते हैं—

---

1. क ग घ च छ—प्रकाश्यत्वाभावः, ख—द्रष्टृत्वभावः।
2. क ग घ च छ—अथ च कर्मकर्तृविरोधो विपक्षबाधकस्तर्कः, कर्मकर्तृविरोधे च स्वस्मिन् स्वसंयोगानुपपत्तिस्तर्कः। तथा च वक्ष्यति—प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे इति। दृष्टो न स्वरूपेऽस्ति संयोग इति। तथा परसमवेतक्रियाफलभागित्वरूपकर्मत्वं न क्रियाऽऽश्रये कर्त्तरि संभवतीति, ख—अत्र साध्यस्य केवलान्वयित्वात्। दृश्यत्वमपि केवलान्वय्येव हेतुर्वाच्यत्वादेरप्युपलक्षकामिति उक्तानुमाने च कर्मकर्तृविरोधस्तर्कः। प्रकृते च कर्मकर्तृभावो विषयिभावः। ननु सर्वज्ञानमित्यादिज्ञानानां स्वविषयत्वान्नास्ति विरोध इति चेत्, न प्रकारभेदे न तत्रापि विषयविषयिणोर्भेदः। ज्ञानत्वादिसामान्यरूपेण विषयता विषयिता च सर्वं ज्ञानमित्यादिरूपैरिति। अपि च लौकिकप्रत्यक्षस्थल एवास्माभिः कर्मकर्तृविरोधः, उत्पत्तेर्लौकिकप्रत्यक्षे विषयस्य कारणत्वात् न तु सर्वत्र। अतो योगसामान्यलक्षणशब्दादिजन्यज्ञानेऽपीश्वरज्ञाने स्वविषयकत्वेऽपि न क्षतिरिति दिक्।

## योगवार्त्तिकम्

आधुनिकवेदान्तिब्रुवास्तुचित्तादिकं न द्रष्टृ दृश्यत्वादित्येवं प्रयुञ्जते। पुरुषस्तु कर्मकर्तृविरोधाद् दृश्य एव न भवति। पुरुषगोचरस्तु व्यवहारः [1]पुरुषसतैव पुरुषेण भवति, [2]प्रकाशगोचरव्यवहारे प्रकाशान्तरानपेक्षादर्शनादित्याहुः। तन्न, चित्तवृत्तावप्येवं परैर्दृश्यत्वस्य सुवचतया चित्तातिरिक्तपुरुषसिद्ध्यनुपपत्तेः, वृत्तिगोचरव्यवहारस्यापि स्वरूपसत्त्या वृत्त्यैव वक्तुं शक्यत्वात्। प्रकाशगोचरव्यवहारमात्रे प्रकाशानपेक्षेत्येव हि दृष्टम्, तत्र चित्तं वा पुरुषो वेति न कश्चन विशेषः। अपि च स्वप्रकाशं निरञ्जनमित्यादिश्रुतिस्मृत्युक्तं स्वप्रकाशत्वमप्यदृश्यत्वे सति पुरुषस्य यथाश्रुतं नोपपद्येत, यौगिकार्थत्यागात्। किं च पुरुषनिष्ठफलाजनकत्वेनात्मतत्त्वाकारा चित्तवृत्तिः प्रमाणमेव न स्यादित्यादिदोषप्रसक्तिरिति। कर्मकर्तृविरोधस्तु पुरुषस्य ज्ञेयत्वेऽपि नास्ति, चेतनप्रतिबिम्बितबुद्धिवृत्तिव्याप्यत्वरूपस्यैव ज्ञेयत्वस्य [3]परादिवदेव बुद्धिवृत्त्यारूढरूपो दृश्यो दर्पणारूढमुखवत्, केवलस्तु द्रष्टेति प्रकारभेदात्कथं कर्मकर्तृविरोध इति दिक्। कर्मकर्तृविरोधस्तु बौद्धमत एव भवति, चित्तातिरिक्तद्रष्ट्रनभ्युपगमेन करणान्तरानभ्युपगमेन च द्रष्टरि साक्षादेव स्वप्रतिबिम्बादेरनुपपत्तिरिति।

पूर्वपक्ष—आधुनिक वेदान्तिब्रुवों का कहना है कि चित्तादि द्रष्टा नहीं हैं, दृश्य होने से और पुरुष दृश्य ही नहीं है, कर्मकर्तृविरोध होने से। और जो पुरुषविषयक 'घटमहं जानामि' ऐसा व्यवहार दिखलाई पड़ता है, वह तो पुरुष के सत् (स्वरूपसत्) होने से ही पुरुष के द्वारा होता है, क्योंकि प्रकाशगोचरव्यवहार में प्रकाशान्तर (पुरुषान्तर) की अपेक्षा नहीं दिखलाई पड़ती है।

उत्तरपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चित्तवृत्ति के प्रसंग में भी दूसरी चित्तवृत्ति से दृश्यता कहने से चित्त से अतिरिक्त पुरुष की सिद्धि उपपन्न नहीं होती है, क्योंकि वृत्तिविषयक व्यवहार भी स्वरूपसत् वृत्ति से ही कहना सम्भव हो सकेगा। प्रकाशविषयक व्यवहारमात्र में प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती है, ऐसा देखा ही जाता है। ऐसा कहने से चित्त और पुरुष में कोई वैलक्षण्य नहीं रह जायेगा। किञ्च 'स्वप्रकाशं निरञ्जनम्' (बृहन्नारदीय पु. ३३/११) इत्यादि श्रुति-स्मृति में कहा गया स्वप्रकाशत्व भी पुरुष के अदृश्य होने पर यथाश्रुत उपपन्न न हो सकेगा, क्योंकि इस अवस्था में यौगिक अर्थ का परित्याग करना पड़ेगा। किञ्च पुरुषनिष्ठ फल का

---

1. क ख ग घ—स्वरूपसतैव, च—पुरुषसतैव, छ—पुरुषसतैव।
2. क ग घ च छ—प्रकाशगोचरव्यवहारे प्रकाशान्तरानपेक्षादर्शनादित्याहुः। तन्न चित्तवृत्तावप्येवं परैर्दृश्यत्वस्य सुवचतया चित्तातिरिक्तपुरुषसिद्ध्यनुपपत्तेः वृत्तिगोचरव्यवहारस्यापि स्वरूपसत्त्या वृत्त्यैव वक्तुं शक्यत्वात्, उपलभ्यते, ख—प्रकाश..शक्यत्वात् नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ—परादिवदेव बुद्धिवृत्त्यारूढरूपो दृश्यो दर्पणारूढमुखवत्, केवलस्य द्रष्टेति प्रकारभेदात् कथं कर्मकर्तृविरोध इति दिक्, ख—घटादिसाधारणस्य पुरुषेऽप्यभ्युपगमात्।

जनक न होने से आत्मतत्त्वाकारा चित्तवृत्ति का प्रामाण्य ही न रहेगा, इत्यादि दोष प्रसक्त होंगे। किञ्च कर्मकर्तृविरोध तो पुरुष को ज्ञेय मानने पर भी नहीं आता है, क्योंकि बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित व्याप्यत्वरूप ही ज्ञेयता पटादि के समान पुरुष में है। अर्थात् जैसे घटादि बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित होने से व्याप्य हैं, इसलिये ज्ञेय हैं वैसे ही पुरुष भी बुद्धि में जब प्रतिबिम्बित होगा तो व्याप्यत्वरूप ज्ञेयता पुरुष में भी आ जायेगी। और यह उसी प्रकार है जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख दृश्य कहा जाता है। इस प्रकार प्रतिबिम्बरूप से दृश्य पुरुष शुद्धरूपेण द्रष्टा है। अतः प्रकारभेद से एक ही पुरुष में कर्मकर्तृविरोध नहीं आता है। इस प्रकार पुरुष को दो प्रकार का मानने पर भी वह तात्त्विकरूप से स्वप्रकाश- स्वरूप ही है। इससे आत्मा दृश्य ही है, ऐसा नहीं है। किञ्च कर्मकर्तृविरोध तो बौद्धमत में ही आता है, क्योंकि चित्त से अतिरिक्त द्रष्टा पुरुष को स्वीकार न करने से तथा किसी अन्य करण अर्थात् साधन के अंगीकृत न होने से द्रष्टा पुरुष में साक्षात् अपना ही प्रति-बिम्बादि नहीं पड़ सकता है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार 'अग्निवत्' दृष्टान्त की अयुक्तिमत्ता को सिद्ध करते हैं–

### योगवार्त्तिकम्

**चित्तस्य स्वाभासत्वेऽग्निवदिति परोक्तदृष्टान्तस्या[1]सिद्धिमाह–न चाग्निरत्रेति। अत्र स्वाभासत्वे। न ह्यग्निरिति। यद्यग्निः पूर्वं तमसा पिहितः पश्चादात्मानं प्रकाशयतीति क्वचिद् दृष्टं स्यात्तदाऽग्नेः स्वप्रकाश्यत्वं पुरुषस्येव सिद्ध्येत्, तदेव तु नास्तीत्यर्थः। ननु पुरुषोऽपि प्रकाशस्वरूप एव सर्वदा, तमस्तु बुद्धिवृत्तेरेव प्रतिबन्धकमिति चेत्? सत्यम्–तथाऽपि बुद्धि-वृत्त्याख्यकरणाभावकाले स्वात्मानमविषयीकृत्य करणकाले विषयीकरोतीत्ययमग्नितो विशेषो-ऽस्त्येवा[2]तः प्रकाशस्वरूपताऽऽदिसाम्येऽपि पुरुषः स्वप्रकाश्यो नाग्निरिति।**

चित्त को स्वप्रकाश सिद्ध करने के लिये वैनाशिकों ने जो अग्नि का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है, उसकी अनुपपन्नता को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं–'न चाग्निरत्रेति।' यहाँ 'अत्र' शब्द का अर्थ 'स्वाभास' है। अर्थात् चित्त के स्वप्रकाश होने में अग्नि दृष्टान्त नहीं हो सकती है। वार्त्तिककार हेतुपरक आगे का भाष्य उठाते हैं–'न ह्यग्नि रिति।' यदि अग्नि पहले तमस् (अन्धकार) से आच्छादित होकर बाद में अपने को प्रकाशित करती है, ऐसा कहीं देखा गया हो तो अग्नि को भी पुरुष की भाँति स्व-प्रकाशस्वरूप सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु ऐसा दृष्टिपथ में नहीं आता है। अतः

1. क ग घ च छ–असिद्धिं, ख–सिद्धमपि दूषणम्।
2. क–अग्नेः स्वप्रकाशतः, ख ग घ च छ–अतः।

अग्नि पुरुषवत् प्रकाशस्वरूप नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। (निष्कर्षतः चित्त और अग्नि दोनों दृष्यकोटि में ही आते हैं)।

**शङ्का**—पुरुष भी तो अग्नि की भाँति सर्वदा प्रकाशस्वरूप है, तम तो बुद्धिवृत्ति का ही प्रतिबन्धक होता है—इस स्थिति में पुरुष को ही प्रकाशस्वरूप क्यों कहा गया है, अग्नि को क्यों नहीं?

**समाधान**—पूर्वपक्षी का ऐसा कहना उचित है तथापि बुद्धिवृत्तिरूप करण के अभावकाल में अर्थात् प्रलय की अवस्था में अपने आप को विषय न करके पुरुष करणकाल अर्थात् संसारकाल में अपने को विषय करता है। अतः पुरुष अग्नि से विलक्षण (भिन्न) ही है। अतः अग्नि तथा पुरुष में प्रकाशरूपता का साम्य होने पर भी पुरुष 'स्वप्रकाश्य' है किन्तु अग्नि 'स्वप्रकाश्य' नहीं है।

'अग्नि' दृष्टान्त की अनुपपन्नता को स्पष्ट करते हुए आगे कहा जा रहा है—

### योगवार्त्तिकम्

**न केवलं प्रमाणाभावादेवाग्नेः स्वप्रकाश्यत्वाभावोऽपि तु प्रकाश्यत्वव्यवहारकारणाभावादपीत्याह—प्रकाशश्चायमिति। प्रकाशोऽत्र प्रकाश्यत्वव्यवहारोऽन्यथा प्रकाशसंयोगस्यैव प्रकाश्यत्वरूपतया तस्य संयोगजन्यत्वानुपपत्तिरिति। संयोगः प्रतिबिम्बसाधारणसम्बन्धो यदि चाग्नौ साक्षादेव स्वप्रतिबिम्बादिरिष्यते तदा दृष्टविरोध इति भावः। अग्नेः स्वप्रकाशत्वं तु प्रकाशान्तरनैरपेक्ष्येण स्वत एव [1]प्रकाशत्वम्, घटादयस्तु प्रकाशसम्बन्धादेव प्रकाशन्ते, अग्निदृष्टान्तेन चेदृशमेव स्वप्रकाशत्वं पुरुषस्य शास्त्रेषूच्यते चित्ताद्विवेकाय।**

केवल प्रमाणाभाव के कारण ही अग्नि (रूप दृष्टान्त) में स्वप्रकाश्यत्वाभाव का प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है, अपितु जिस कारण से पदार्थ में प्रकाश्यता का व्यवहार किया जाता है उस प्रकाश्यत्वव्यवहार के कारण का भी अग्नि में अभाव है। अतः अग्नि के स्वाभासत्व का निरसन किया जा रहा है, इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं—'**प्रकाशश्चायमिति।**' भाष्य में प्रयुक्त '**प्रकाश**' शब्द का अर्थ 'प्रकाश्यत्वव्यवहार' है अर्थात् प्रकाश्यत्व का व्यवहार प्रकाश्य-प्रकाशक के संयोग होने पर ही देखा जाता है। अन्यथा प्रकाशसंयोग के ही प्रकाश्यत्वरूप होने से प्रकाश्य-प्रकाशक-संयोग की उत्पत्ति ही अनुपपन्न हो जायेगी। प्रतिबिम्ब द्वारा होने वाले साधारण सम्बन्ध को संयोग कहते हैं और यदि अग्नि में साक्षात् ही अपना प्रतिबिम्ब माना जाय, तो यह प्रत्यक्षविरुद्ध है, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता है। और अग्नि का स्वप्रकाशत्व प्रकाशान्तर (प्रदीपान्तर) की अपेक्षा के विना स्वतः प्रकाशरूप होने में है। अर्थात् दृश्यकोटिक होते हुए भी अग्नि के प्रत्यक्ष के लिये

---

1. क ख ग घ च—प्रकाशरूपत्वं, छ—प्रकाशत्वम्।

प्रदीपान्तर की आवश्यकता नहीं रहती है। किन्तु घटादि पदार्थ तो प्रकाश का सम्बन्ध होने से ही प्रकाशित होते हैं। अर्थात् घटादि पदार्थों का प्रत्यक्ष प्रकाश-सापेक्ष होता है। अतः घटादि दृश्य पदार्थ के परिप्रेक्ष्य में अग्नि को स्वप्रकाश कहा गया है, न कि पुरुषसदृश स्वप्रकाशता 'अग्नि' में है। इस प्रकार शास्त्रों में चित्त से पुरुष का पार्थक्य सिद्ध करने के लिये अग्नि के दृष्टान्त से पुरुष का यह प्रकाशान्तरनिरपेक्षरूप 'स्वप्रकाशत्व' ही अभिहित हुआ है। भाव यह है कि अग्नि और पुरुषरूप दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के स्वप्रकाशत्व में मात्र इतनी ही समानता है कि उन्हें स्वप्रकाश के लिये प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है।

सम्प्रति, 'पुरुष' से 'चित्त' के प्रकाश का अन्तर बतलाया जा रहा है—

## योगवार्त्तिकम्

चित्तस्य हि प्रकाशः पुरुषोपाधिक एवायसो [1]दग्धृत्ववदिति। यत्तु—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहार[2]योग्यत्वं स्वप्रकाशत्वमित्याधुनिकवेदान्तिब्रुवाणां प्रलपनं तत्प्रागेव निराकृतम्, विस्तरतस्तु ब्रह्ममीमांसायामपीति दिक्। नन्वेवमप्रकाश्यत्वरूपमेव स्वाभासत्वं चित्तस्यास्माभिरभ्युपेयम्, तथा चाग्निदृष्टान्त उपपन्नः स्यात्? तत्राह—किं चेति। शब्दार्थः स्वाभासशब्दार्थः, सम्भवतीति शेषः। एवं च सतीदं दूषणमित्याह—स्वबुद्धिप्रचारेत्यादिना। बुद्धेः प्रचारो वृत्तिः, तस्याः संवेदनात् क्रोधाद्यनुभवात् तद्धानाद्यर्थं सत्त्वानां प्राणिनां प्रवृत्तिर्दृश्यते, तच्च स्वबुद्ध्यग्रहणे युक्तं न भवतीति बुद्धेर्ग्राह्यत्वमवश्यं वक्तव्यमित्यर्थः। नन्वहं क्रुद्ध इत्यादिप्रत्यये पुरुषस्यापि ग्रहणात् स्वाभासत्वं न स्यादिति चेत्? सत्यम्—अग्राह्यत्वरूपस्य स्वाभासत्वस्य पुरुषेऽप्यनङ्गीकारादिति। यद्यप्यादौ क्रोधादीनां स्वरूपतो निर्विकल्प एव बोधः पौरुषेयो भवति, क्रुद्धोऽहमित्यादिस्त्वहंकारस्यैव व्यक्तिः, पुरुषस्याभ्रान्तत्वात्, कूटस्थतया बुद्धिवृत्त्याकारातिरिक्ताकारासम्भवाच्च, तथाऽपि पौरुषेयेण क्रोधनिर्विकल्पेन जनिता क्रुद्धोऽहमिति याऽन्तःकरणस्य विशिष्टवृत्तिस्तत्साक्षिको बोधश्च तद्ग्राह्यत्वेनैवात्र चित्तस्याग्राह्यत्वं प्रतिषिध्यते, क्रोधादीनां पौरुषेयनिर्विकल्पकस्य शब्दागोचरत्वेनोपन्यसितुमशक्यत्वात्। पुरुषसाधकं तु चित्तग्रहणं वृत्तिगोचरनिर्विकल्पकमनुमानगम्यमेव, तस्य हि चित्तधर्मत्वं सम्भवति, नियमेन सर्ववृत्तिगोचराया जन्यनिर्विकल्पकधारायाः स्वीकारेऽनवस्थाऽऽपत्तेः, अज्ञातवृत्तिस्वीकारे च क्रुद्धोऽहं न वेत्यादिसंशयाद्यापत्तेः, क्रोधादिगोचरनित्यनिर्विकल्पकैकज्ञानस्वीकारे च

---

1. ख—तदुक्तं मोक्षधर्मे—यथा प्रदीपः पुरतः प्रदीप्तः प्रकाशमन्यस्य करोति दीपयन्। तथेह पञ्चेन्द्रियदीपवृक्षा ज्ञानप्रदीप्ताः परवंत एवेति। पञ्चेन्द्रियाण्यन्तःकरणस्याप्युपलक्षकानि परवंतः पराधीने प्रकाशाः (दग्धृत्ववदिति—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—तदुक्तं...प्रकाशाः नोपलभ्यते।
2. क घ च छ—योग्यत्वं, ख—योग्य०, ग—योग्यत्वे।

**विशिष्टप्रत्यक्षसामग्र्या बलवत्याः प्रतिबन्धात् संशयाद्यभावः, सम्प्रज्ञातयोगेऽपि वृत्तिः स्वरूपतो भासत एवेत्यभ्युपेयमिति॥१९॥**

चित्त का प्रकाश पुरुषरूप उपाधि के कारण उसी प्रकार है जिस प्रकार अग्न्युपाधिक लोहपिण्डगत दग्धृत्व। (भाव यह है कि जैसे, अग्निगत दाहकत्वशक्ति लोह में अग्निसंयोग से प्रतिसञ्चरित होती हुई '**अयो दहति**' इस व्यवहार को निष्पन्न करती है, वैसे ही जडात्मक चित्त ज्ञानस्वरूप पुरुष के सन्निधान से ज्ञानयुक्त अर्थात् प्रकाशस्वरूप दिखलाई पड़ता है। (जब कि तात्त्विक दृष्टि से दग्धृत्व तथा प्रकाश-रूपत्व क्रमशः अयस् तथा चित्त का स्वरूप नहीं है)। और जो आधुनिक वेदान्ति-ब्रुवों का ऐसा कहना है कि 'अवेद्यत्व होते हुए अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व स्वप्रकाशत्व है' तो उनका यह प्रलाप पहले ही खण्डित हो चुका है। ब्रह्ममीमांसा में भी इस प्रलाप का विस्तारपूर्वक खण्डन किया गया है। (अतः वहीं द्रष्टव्य है)।

**शङ्का**–इस प्रकार का अप्रकाशत्वरूप स्वाभासत्व ही तो हमने भी चित्त का माना है और इस परिप्रेक्ष्य में अग्नि दृष्टान्त भी उपपन्न हो जाता है? अतः चित्तात्मवादी बौद्धमत निर्दुष्ट है।

**समाधान**–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**किं चेति**' '**शब्दार्थ**' पद का अर्थ है– 'स्वाभासशब्दार्थ।' और '**सम्भवति**' यह वाक्यशेष है। निष्कृष्ट अर्थ यह हुआ–'स्वाभास चित्त है' इस शब्द का यह अर्थ नहीं है कि चित्त अपना विषय आप ही है, किन्तु वह चित्त किसी अन्य से अग्राह्य ही है, यह '**स्वाभास**' शब्द का अर्थ सम्भव है। क्योंकि इससे कर्तृकर्मभावरूप आत्माश्रयदोष नहीं आता है। किञ्च '**स्वाभास**' शब्द का ऐसा अर्थ करने में भी दोष है, अतः अर्थगत दूषणता को भाष्यकार बतलाते हैं–'**स्वबुद्धिप्रचारेत्यादिना।**' '**प्रचार**' शब्द का अर्थ 'वृत्ति' और '**संवेदन**' शब्द का अर्थ क्रोधादि अनुभव है। इस प्रकार चित्त की क्रोधादि वृत्तियों के अनुभव से ही उनके हान (नाश) के लिये 'सत्त्व' अर्थात् प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती है और यह क्रोधादिहानविषयक प्रवृत्ति अपने चित्त का ज्ञान न होने पर युक्तियुक्त न होगी। अतः बुद्धि का ग्राह्यत्व अवश्य ही कहना (मानना) चाहिये, ऐसा भाष्यकार के कथन का अभिप्राय है।

**शङ्का**–'**अहं क्रुद्धः**' अर्थात् मैं क्रुद्ध हूँ–इत्यादि अनुभवों में तो पुरुष का भी ग्रहण होता है। अतः ग्राह्य पुरुष में स्वाभासत्व नहीं है?

**समाधान**–पूर्वपक्षी का उक्त कथन आंशिक सत्य है, क्योंकि अग्राह्यत्वरूप स्वाभा-सत्व तो पुरुष में भी स्वीकार नहीं किया जाता है। यद्यपि क्रोधादियों का सर्वप्रथम निर्विकल्पस्वरूपात्मक ही पौरुषेय बोध होता है और '**क्रुद्धोऽहं**' इत्यादि अनुभवों में तो अहंकार की ही अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि पुरुष तो अभ्रान्त अर्थात् भ्रमज्ञान

से रहित होता है और कूटस्थ (अपरिणामी) होने से पुरुष का बुद्धिवृत्त्याकारातिरिक्त आकार (परिणाम) सम्भव नहीं है, तथापि निर्विकल्पक पौरुषेयबोध से जनित (उत्पन्न) **'क्रुद्धोऽहम्'** इत्याकारिका जो अन्तःकरण की विशिष्टवृत्ति है, उसका **'साक्षी'** होना और उस वृत्ति का ज्ञान पुरुषग्राह्य होने से ही चित्त का अग्राह्यत्व प्रतिषिद्ध है, क्योंकि क्रोधादिविषयक पुरुषनिष्ठ निर्विकल्पक ज्ञान में शब्दागोचरत्वरूप से उपन्यास करना शक्य नहीं है। वृत्तिगोचर निर्विकल्पक पुरुषसाधक चित्तग्रहण अनुमानगम्य ही है, उसमें चित्तधर्मत्व सम्भव है। किञ्च नियम से सर्ववृत्तिगोचर से जन्य निर्विकल्पक धारा को स्वीकार करने पर अनवस्थादोष आयेगा तथा अज्ञात वृत्ति को स्वीकार करने पर **'क्रुद्धोऽहं न वा'** अर्थात् 'मैं क्रुद्ध हूँ अथवा नहीं'–इस प्रकार के संशयादि की आपत्ति आयेगी। किञ्च क्रोधादिगोचर नित्यनिर्विकल्पकैक ज्ञान स्वीकार करने पर विशिष्ट प्रत्यक्षसामग्री से बलवती वृत्ति का प्रतिबन्ध होने से उक्त संशयादि का अभाव हो जायेगा। अतः सम्प्रज्ञात योग में भी वृत्ति स्वरूपतः भासित होती ही है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये॥१९॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है–

**योगसूत्रम्**

## एकसमये चोभयानवधारणम्॥२०॥

और एक ही काल में उभय (विषय तथा अपने स्वरूप दोनों) का ग्रहण करना असम्भव है॥२०॥

**व्यासभाष्यम्**

**न चैकस्मिन्क्षणे [1]स्वरूपावधारणं युक्तम्। [2]क्षणिकवादिनो यद्भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः॥२०॥**

(चित्त के द्वारा) एक ही क्षण में अपने तथा विषय के रूप का ग्रहण करना सम्भव नहीं है। क्षणिकवादी बौद्ध के सिद्धान्त में जो वस्तु का प्रादुर्भाव है, वही क्रिया है और वही कारक भी है–यह स्वीकृत है॥२०॥

**तत्त्ववैशारदी**

**एकसमये चोभयानवधारणम्। स्वाभासं विषयाभासं चित्तमिति ब्रुवाणो न तावद्येनैव व्यापारेणात्मानमवधारयति तेनैव विषयमपीति वक्तुमर्हति। न ह्यविलक्षणो व्यापारः कार्य-**[1]

---

1. क ख ग घ च छ ज झ ञ त थ द ध न प फ भ य र–**स्वपररूप०**, ब–**स्वपरोभय०**, म–**स्वरूप०**।
2. क ख ग घ च छ ज झ ञ त थ द ध न प फ भ म य र–**क्षणिक०**, ब–**क्षण०**।

व्यापारः कार्य-[1] भेदाय पर्याप्तः। तस्माद्व्यापारभेदोऽङ्गीकर्तव्यः। न च वैनाशिकानामुत्पत्ति[2]भेदातिरिक्तोऽस्ति व्यापारः। न चैकस्या एवोत्पत्तेरविलक्षणायाः कार्यवैलक्षण्यसम्भवः, तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। न चैकस्योत्पत्तिद्वयसम्भवः। तस्मादर्थस्य च ज्ञानरूपस्य चावधारणं नैकस्मिन्समय इति। तदेतद्भाष्येणोच्यते—न चैकस्मिन्क्षण इति। तथा चोक्तं वैनाशिकैः—

भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते।

इति। तस्माद् दृश्यत्वमेतच्चित्तस्य सदातनं स्वाभासत्वमपनयद् द्रष्टारं च द्रष्टुर-परिणामित्वं च दर्शयतीति सिद्धम्॥२०॥

'एकसमय इति।' चित्त को स्वाभास तथा विषयाभास मानने वाले वैनाशिक लोग ऐसा नहीं कह सकते हैं कि चित्त जिस व्यापार से अपने स्वरूप को जानता है, उसी व्यापार से विषय को भी जानता है। क्योंकि अविलक्षण अर्थात् तुल्य व्यापार कार्य-भेद के लिये समर्थ नहीं होता है। अर्थात् एक ही व्यापार से अनेक कार्य सिद्ध नहीं होते हैं। इसलिये वैनाशिक को व्यापार-भेद मानना पड़ेगा। अर्थात् 'जिस व्यापार से चित्त अपने को जानता है, उससे भिन्न व्यापार से चित्त विषय को जानता है'—ऐसा कहना पड़ेगा। किन्तु वैनाशिक मत में उत्पत्तिभेद से अतिरिक्त तो कोई व्यापार नहीं है और एक उत्पत्ति से तो कार्यभेद (कार्य का अनेकत्व) सम्भव नहीं हो सकता है। क्योंकि एक ही उत्पत्ति से कार्य-वैलक्षण्य मानेंगे तो वैलक्षण्य को आकस्मिक कहना पड़ेगा। और न ही एक वस्तु की दो बार उत्पत्ति हो सकती है। इससे पदार्थ का और अपने ज्ञानरूप का निश्चय नहीं हो सकता है। यही तथ्य भाष्यकार द्वारा कथित है—'न चैकस्मिन्क्षण इति।' अर्थात् एक ही क्षण में अपना और विषय के स्वरूप का ग्रहण करना युक्तियुक्त अर्थात् सम्भव नहीं है। क्योंकि वैनाशिक मत में 'जो पदार्थ की उत्पत्ति है, वही क्रिया है और वही कारक है।' जैसा कि वैनाशिकों द्वारा कहा गया है—'भूतिः....चोच्यते।' अर्थात् 'जिनके मत में पदार्थ की जो 'उत्पत्ति' है, वही 'क्रिया' और 'कारक' कही जाती है।' अतः चित्त की यह जो शाश्वतिक अर्थात् स्वाभाविक दृश्यता है, वह चित्त से स्वप्रकाशता को दूर करती हुई अर्थात् चित्त की प्रकाशात्मकता का निषेध करती हुई द्रष्टा पुरुष और उसके अपरिणामित्व को सिद्ध करती है॥२०॥

**बालप्रिया—**

'भूतिर्येषाम्'—न्यायमत है कि प्रथम क्षण में पदार्थ की 'उत्पत्ति' होती है, द्वितीय क्षण में वह 'क्रिया' वाला होता है और तृतीय क्षण में किसी कार्य को करने से वह

---

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न—भेदाय, ख—प्रभेदाय।
2. क ख ग घ च झ त थ द ध न—भेद०, छ—भेदः, ज—भिदा।

'कारक' कहलाता है। किन्तु बौद्धमत में यह स्थिति सम्भव नहीं है। क्योंकि उनके मत में क्षणिक पदार्थ की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ सम्भव नहीं हैं। पदार्थ की जो उत्पत्ति है, वही क्रिया है और वही कारक है। चित्त भी; क्षणिक होने से इसका अपवादस्वरूप नहीं कहा जा सकता है। अतः इसकी भी जो उत्पत्ति है, वही क्रिया है और वही कारक है। अतः क्रियान्तर न होने से एक ही चित्त को विषयाभास और स्वाभास मानना युक्तिसंगत नहीं है। अतः चित्त से भिन्न चित्त के प्रकाशक पुरुष को मानना अपरिहार्य है—यह सिद्धान्तपक्ष है॥२०॥

## योगवार्त्तिकम्

**चित्तस्य स्वाभासतावादिमते तन्मतमालम्ब्यैवान्यद्दूषणमाह—एकसमये चोभयानवधारणम्। सूत्रार्थमाह—न चेत्यादिना युक्तमित्यन्तेन। न च नाप्येकस्मिन्नुत्पत्तिक्षण एव स्वपरावधारणं युक्तम्, पूर्वं सत एव प्रत्यक्षगोचरत्वात्, स्वस्य च प्रागसत्त्वादित्यर्थः। नन्वेवं स्वोत्पत्त्यनन्तरं स्वग्रहणमस्तु? तत्राह—क्षणिकेति। क्षणिकवादिमते या वस्तुन उत्पत्तिः सैव क्रिया, तस्य कार्यं सैव च तस्य कर्त्रादिकारकवर्गः, तन्मते सर्वं वस्तूत्पत्तिमात्रफलकं निर्हेतुकं स्वयमेव भवतीति सिद्धान्तः। तथा चोक्तम्—**

**भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते।**

**इति। अत्रोत्पत्त्यनन्तरं चित्तस्य स्वग्रहणार्था क्रिया न संभवतीत्यर्थः। अस्मन्मतेऽपि शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावादेकस्या वृत्तेर्द्व्यर्थग्राहकत्वं न सम्भवतीति भावः॥२०॥**

चित्त को 'स्वाभास' मानने वाले पूर्ववादिमत (बौद्धमत) में, उन्हीं के मत को उद्देश्य (आलम्बन) बनाकर ही सूत्रकार दूषणान्तर को सूत्रित करते हैं—**'एकसमय इति'** भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—**'न चेत्यादिना....युक्तमित्यन्तेन।'** **'न च'** का अर्थ है—**'नापि'** अर्थात् **'च'** के द्वारा पूर्वसूत्रों में दिये गये चित्त के स्वाभासत्वविरोधी तर्कों का समुच्चय किया गया है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार पर्यवसित होता है—(क्षणिकवाद के अनुसार) उत्पत्ति के एकाकी क्षण में ही अर्थात् चित्त की उत्पत्ति के क्षण में ही (अर्थात् एक ही क्षण तक चित्त की स्थिति मानने पर) चित्त द्वारा 'स्व-पर' अर्थात् अपना और विषय का अवधारण करना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि पहले से विद्यमान पदार्थ ही प्रत्यक्ष का विषय बनता है। परन्तु क्षणिक विज्ञानवाद के अनुसार पदार्थ पहले से नहीं है और दूसरी बात यह है कि चित्त की भी पहले से सत्ता नहीं है। अतः क्षणिक चित्त 'स्व' तथा 'पर' का भासक नहीं हो सकता है।

**शङ्का**—चित्त अपनी उत्पत्ति के अग्रिम क्षण में ही अपना भासक अर्थात् स्वयं अपने को विषय करने वाला होगा? और इस प्रकार चित्तात्मवादी बौद्ध मत में किसी प्रकार की असंगति नहीं आती है।

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**क्षणिकेति**' क्षणिकवादी बौद्धमत में वस्तु की जो उत्पत्ति है, वही क्रिया है (क्योंकि दूसरे क्षण में चित्त नहीं रह जाता है, अतः उत्पत्ति व्यापार से अतिरिक्त व्यापार को वह नहीं करता है)। किञ्च क्षणिक अस्तित्व ही चित्त की कर्त्रादिकारकवर्गीय कारकता है अर्थात् कर्तृकरणकर्मरूपता है। क्षणिकवादी बौद्धमत में यह सिद्धान्त स्वीकृत है कि उत्पत्तिमात्रफलक सभी वस्तुएँ निर्हेतुक हैं। जैसा कि कहा गया है—'**भूतिर्येषां....चोच्यते**' अर्थात् 'पदार्थों की जो उत्पत्ति है, वही क्रिया है और उसे ही कारक कहते हैं।' भाव यह है कि बौद्धमत में उत्पत्ति के अनन्तर चित्त की स्वविषयक क्रिया सम्भव ही नहीं है। हमारे योगमत में भी शब्दबुद्धि की कर्मता को छोड़कर व्यापार के अभाव से एक वृत्ति से द्व्यर्थग्राहकत्व सम्भव नहीं है॥२०॥

सम्प्रति, भाष्यकार अग्रिम सूत्र की भूमिका के रूप में वैनाशिकों के 'चित्त के स्वप्रकाशत्व' के पूर्वपक्ष को उठाते हैं—

**व्यासभाष्यम्**

[1]**स्यान्मतिः, स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति—**

**शङ्का**—शायद वैनाशिकों का यह विचार हो सकता है कि स्वरूपतः नष्ट होता हुआ चित्त अपने ठीक बाद में उत्पन्न होने वाले दूसरे चित्त के द्वारा गृहीत होता है। अतः चित्त के प्रकाशक रूप में पुरुष को मानने की आवश्यकता नहीं है।

पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ सूत्र है—

**योगसूत्रम्**

**चित्तान्तर[2]दृश्ये [3]बुद्धिबुद्धेरति[4]प्रसङ्गः स्मृति[5]संकरश्च॥२१॥**

पूर्ववर्ती चित्त को परवर्ती चित्त के द्वारा गृहीत (ग्राह्य) मानने पर तब उस परवर्ती चित्त को तद्भिन्न परवर्ती चित्त के द्वारा ग्राह्य मानने पर अनवस्थादोष और स्मृतिसङ्करदोष प्रसक्त होगा॥२१॥

---

1. क ख ग—स्यान्मतिः स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति ४/२० सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—स्यात्...इति ४/२१ सूत्रस्य टीका।
2. दृश्यत्वे—इति पाठान्तरम्।
3. बुद्धिबुद्धिः, बुद्धेः—इति पाठान्तरे।
4. प्रसङ्ग०—इति पाठान्तरम्।
5. संस्कारः—इति पाठान्तरम्।

**व्यासभाष्यम्**

**अथ चित्तं चेच्चित्तान्तरेण गृह्येत बुद्धिबुद्धिः केन गृह्यते, साप्यन्यया साप्यन्ययेत्यतिप्रसङ्गः, स्मृतिसंकरश्च, यावन्तो बुद्धिबुद्धीनामनुभवास्तावत्यः स्मृतयः प्राप्नुवन्ति। तत्[1]संकराच्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यादिति। एवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषमपलपद्भिर्वैनाशिकैः सर्वमेवाकुलीकृतम्। ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन संगच्छन्ते। केचित्तु [2]सत्त्वमात्रमपि परिकल्प्यास्ति स [3]सत्त्वो य एतान्[4]पञ्च स्कन्धान्निक्षिप्यान्यांश्च [5]प्रतिसंदधातीत्युक्त्वा तत एव पुनस्त्रस्यन्ति। तथा स्कन्धानां [6]महानिर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्त्वस्य पुनः सत्त्वमेवा[7]पह्नुवते। सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः स्वशब्देन पुरुषमेव स्वामिनं चित्तस्य भोक्तारमुपयन्तीति॥२१॥**

यदि यह कहा जाय कि एक चित्त के द्वारा दूसरा चित्त गृहीत होगा तो (प्रश्न है कि) एक बुद्धि (चित्त) को विषय बनाने वाली दूसरी बुद्धि (दृश्य होने से) किसके द्वारा गृहीत होगी? (यदि कहा जाय कि) वह द्वितीय बुद्धि अन्य (परवर्ती) बुद्धि से और वह परवर्ती बुद्धि अपने से भी परवर्ती बुद्धि से गृहीत होती है—तो इसे अनवस्थादोष (अतिप्रसंग) माना जायेगा। और स्मृतिसंकररूप दोष भी आयेगा। चित्तों के जितने अनुभव होंगे अर्थात् ज्ञान-विषयक जितने ज्ञान होंगे, उतनी ही स्मृतियाँ भी उत्पन्न होंगी। एक काल में अनेक स्मृतियों के उत्पन्न होने से अर्थात् स्मृतियों की संकीर्णता के कारण किस अनुभव से कौन सी स्मृति बनी है, ऐसा निश्चय करना सम्भव न होगा। इस प्रकार बुद्धि के साक्षी पुरुष का अपलाप करने वाले वैनाशिकों ने (बन्ध-मोक्ष की) सारी व्यवस्था को व्याकुल कर दिया है। वे वैनाशिक लोग भोक्तारूप आत्मा के स्वरूप की जहाँ-कहीं भी कल्पना करते हुए युक्तियुक्त मार्ग का अवलम्बन नहीं करते हैं। उन बौद्धों में से कुछ लोग जीवमात्र की

---

1. क ग घ च छ ज झ न थ द ध न प फ ब भ म य र—**संकरात्**, ख—**संस्कारात्**।
2. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**सत्त्वमात्रमपि**, ख—**सत्त्वमपि**।
3. क ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—**सत्त्वो य एतान्**, ख—**सत्त्वो एतान्**, द—**सत्त्वोपरताम्**।
4. क ख ग घ च ज झ द ध न प फ ब भ म य र—**पञ्च** उपलभ्यते, छ त थ—**पञ्च** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—**प्रतिसंदधाति**, म—**प्रतिविधाति**।
6. क च भ—**महत्**, ख ग छ ज झ त थ द ध न प—**अर्ह**, घ प फ ब म य र—**महा०**।
7. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**अपह्नुवते**, छ थ—**अपह्नुते**।

भी सत्ता कल्पित करके अर्थात् क्षणिक विज्ञानरूप चित्तमात्र की आत्मतत्त्व के रूप में कल्पना करके भी 'वह सत्त्वमात्र आत्मतत्त्व स्थिर है, जो इन सांसारिक मलिन स्कन्धों को छोड़कर अन्य शुद्ध स्कन्धों को धारण करता है'–ऐसा कहकर फिर अपने उसी कथन से भयभीत होते हैं। इसी प्रकार शून्यवादी बौद्ध पञ्चस्कन्धों के प्रति महानिर्वेदरूप वैराग्य के लिये तथा पुनर्जन्म की अभावरूप प्रशान्ति के लिये गुरु के समीप जाकर 'हम ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे'–इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके भी सत् अर्थात् आत्मा की सत्ता का ही अपलाप करते हैं। (जब कि) सांख्ययोग आदि श्रेष्ठ दार्शनिक 'स्व' शब्द से पुरुषरूप स्वामी को ही चित्त के भोक्ता रूप में स्वीकार करते हैं॥२१॥

### तत्त्ववैशारदी

**पुनर्वैनाशिकमुत्थापयति–स्यान्मतिरिति। मा भूद् दृश्यत्वेन स्वसंवेदनम्; एवमप्यात्मा न सिध्यति, स्वसंतानवर्तिना चरमचित्तक्षणेन स्वरसनिरुद्धस्वजनकचित्तक्षणग्रहणादित्यर्थः। समं च तज्ज्ञानत्वेन, अनन्तरं चाव्यवहितत्वेन, समनन्तरं तेन। चित्तान्तरदृश्ये बुद्धि-बुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च। बुद्धिरिति चित्तमित्यर्थः। नागृहीता चरमा बुद्धिः पूर्वबुद्धि-ग्रहणसमर्था। न हि बुद्ध्याऽसबद्धा पूर्वबुद्धिर्बुद्धा भवितुमर्हति। न ह्यगृहीतदण्डो दण्डिनमव-गन्तुमर्हति। तस्मादनवस्थेति। विज्ञानवेदनासंज्ञारूपसंस्काराः स्कन्धाः। सांख्ययोगादयस्[1]तु प्रवादाः। [2]सांख्याश्च योगाश्च त एवादयो येषां वैशेषिकादिप्रवादानां ते सांख्ययोगादयः प्रवादाः।सुगममन्यत्॥२१॥**

**पूर्वपक्ष**–भाष्यकार वैनाशिकों की ओर से चित्त के '**स्वाभास**' के प्रतिपादनार्थ उनके मत को (पूर्वपक्ष के रूप में) उपस्थित करते हैं–'**स्यान्मतिरिति**।' ठीक है, दृश्य होने के कारण (और क्षणिक होने के कारण) चित्त को स्वप्रकाशक न माना जाय, फिर भी आपका आत्मतत्त्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि विज्ञानधारा में अन्तःपाती '**चरम**' अर्थात् अन्तिम '**चित्तक्षण**' अर्थात् विज्ञान को विनाशस्वभावशील और अपने उत्तरवर्ती विज्ञान के जनकरूप पूर्व चित्त का ग्रहण अर्थात् ज्ञान होता है। अर्थात् उत्तरवर्ती विज्ञान स्वजनक पूर्ववर्ती विज्ञान का ग्राहक होता है। तत्त्ववैशारदीकार भाष्य में प्रयुक्त '**समनन्तर**' पद की व्युत्पत्ति करते हैं–ज्ञानत्व की दृष्टि से जिसमें समानता होती है और जो अपने पूर्ववर्ती विज्ञान के अव्यवहित उत्तरक्षण में

---

1. थ द ध–तु उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–तु नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–**सांख्याश्च योगाश्च त एवादयो येषां वैशेषिकादिप्रवादानां ते सांख्ययोगादयः प्रवादाः** उपलभ्यते, त–**सांख्याश्च ...प्रवादाः** नोपलभ्यते।

उत्पन्न होता है, उसे '**समनन्तर**' कहते हैं। ऐसे समनन्तर प्रत्यय से पूर्ववर्ती चित्त का ग्रहण होता है।

आत्मतत्त्व के खण्डनार्थ यदि वैनाशिकों की ऐसी मति अर्थात् अवधारणा है, तो वह युक्तियुक्त नहीं है। वैनाशिकों की उक्त अवधारणा में निहित असंगति का उपपादन, उत्तरपक्ष के रूप में, सूत्र के द्वारा किया जा रहा है—'**चित्तान्तरेति**।' **उत्तरपक्ष**—सूत्र में प्रयुक्त '**बुद्धि**' शब्द का अर्थ है—चित्त। '**अगृहीत**' अर्थात् चरम बुद्धि पूर्व बुद्धि को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती है। और न ही बुद्धि अर्थात् ज्ञान से असम्बद्ध पूर्वबुद्धि (ज्ञान) बोद्धा होने में समर्थ हो सकती है। जैसे (लोकव्यवहार में) जिसे कभी दण्ड का ही ज्ञान नहीं हुआ है, ऐसा व्यक्ति दण्डी को पहचानने में समर्थ नहीं हो सकता है। इससे अनवस्थादोष आता है। विज्ञान, वेदना, संज्ञा, रूप तथा संस्कार—ये (पांच) '**स्कन्ध**' कहलाते हैं। तत्त्ववैशारदीकार '**सांख्ययोगादयः प्रवादाः**' में बहुव्रीहिसमास मानते हुए विग्रह इस प्रकार करते हैं—'**सांख्याश्च योगाश्च त एवादयो येषां वैशेषिकादिप्रवादानां ते सांख्ययोगादयः प्रवादाः**' अर्थात् जिन वैशेषिक आदि प्रवादों के आदि में सांख्य तथा योगप्रवाद हैं, वे सांख्ययोगादिप्रवाद शब्द से कहे गये हैं। शेष भाष्य सुगम है॥२१॥

**बालप्रिया—**

'**स्वरसनिरुद्धं....**'—पूर्वपक्षी का कथन है कि चित्त को '**स्वाभास**' मानने का अर्थ यह नहीं है कि चित्त किसी के द्वारा ग्राह्य नहीं होता है, क्योंकि चित्त को अपना ही प्रकाशक मानने पर कर्तृकर्मविरोधादि दोषों की उद्भावना हो सकती है। अपितु हमारा अभिप्राय यह है कि '**स्वरस**' अर्थात् विनाशस्वभाव से निरुद्ध जो चित्त है, वह उत्तरोत्तर उत्पन्न चित्तान्तर से गृहीत (ग्राह्य) होता है—वैनाशिकों की इस अवधारणा के खण्डनार्थ ही प्रस्तुत सूत्र की अवतारणा हुई है।

'**बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः....**'—चित्तविषयक चित्त को '**बुद्धिबुद्धि**' शब्द से कहा गया है। '**अतिप्रसङ्ग**' शब्द का अर्थ है—अनवस्था। अभिप्राय यह है कि चित्तान्तर के द्वारा पूर्ववर्ती चित्त के दृश्यरूप से स्वीकार किये जाने पर चित्तगोचर चित्त का ग्रहण नहीं हो सकेगा। और तुष्यतुदुर्जनन्याय से ऐसा मान भी लिया जाय तो परवर्ती चित्त अपने से परवर्ती चित्त के द्वारा गृहीत कहलायेगा, तभी अनवस्थादोष की प्रसक्ति होगी। सरल शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है—'**न हि बुद्ध्याऽसंबद्धा पूर्वबुद्धिर्बुद्धा भवितुमर्हति**'—एक चित्तरूप विज्ञान का प्रकाशक दूसरा चित्त तभी माना जा सकता है, जिसने पहले उस चित्त को ग्रहण किया हो, किन्तु ऐसा तो है नहीं। अतः द्वितीय विज्ञान प्रथम विज्ञान का प्रकाशक बन सके इसके लिये तृतीय विज्ञान को मानना होगा, क्योंकि तृतीय विज्ञान से प्रकाश को प्राप्त किये बिना द्वितीय

चित्त प्रथम चित्त का ज्ञाता नहीं हो सकता है। किन्तु तृतीय चित्त द्वितीय चित्त का प्रकाशक बन सके, तदर्थ जड एवं दृश्य रूप तृतीय चित्त को चतुर्थ चित्त की अपेक्षा रहेगी और इस प्रकार चित्तापेक्षा का कहीं अन्त न हो सकेगा।

**'स्मृतिसङ्करश्च'**—बुद्धिबुद्धि की ज्ञानधारा स्मृतिधारा को भी जन्म देगी। ऐसी स्थिति में स्मृतिसङ्करदोष आयेगा। भाव यह है—जैसे विषयानुभव काल में ज्ञानधारा उत्पन्न होती है, वैसे ही स्मृतिकाल में अनन्त ज्ञानों से अनन्त स्मृतियाँ भी एक ही समय में होंगी। स्मृतियों का अनन्ताकार इस प्रकार हो सकता है—**'घटो मया पुरा ज्ञातः, घटज्ञानं, तज्ज्ञानम्'** इत्यादि। इस प्रकार स्मृतिसंकर से **'घटो मया ज्ञातः'** ऐसी एकमात्राकार स्मृति नहीं हो सकेगी। अतः चित्तात्मवादी के मत में दोष-ही-दोष हैं।

**'स्कन्धाः'**—विज्ञानवादी बौद्ध पाँच स्कन्ध मानते हैं। वे पाँच स्कन्ध इस प्रकार हैं—**'अहं-अहं'** इत्याकारक आलयविज्ञान के प्रवाह को **'विज्ञानस्कन्ध'** कहते हैं। सुख-दुःखादि का जो अनुभव होता है, उसे **'वेदनास्कन्ध'** कहते हैं। 'गौरवर्ण वाला ब्राह्मण जा रहा है'—इत्याकारक सविकल्प प्रत्यय को **'संज्ञास्कन्ध'** कहते हैं। सविषयक इन्द्रियाँ **'रूपस्कन्ध'** कही जाती हैं तथा राग, द्वेष, मोह, धर्म, अधर्म आदि **'संस्कारस्कन्ध'** कहलाते हैं। किन्तु स्थायी पदार्थ को माने विना सोपप्लव पञ्चस्कन्ध का परित्याग तथा निरुपप्लव पञ्चस्कन्ध के ग्रहण की बात बन ही नहीं सकती है और क्षणिक चित्तात्मवाद बन्ध-मोक्ष के वैयधिकरण को जन्म देता है। अतः लोकविरुद्ध होने से यह मत सर्वथा त्याज्य है। भाष्य में आगे **'केचित्'** पद से निर्दिष्ट शून्यवादी बौद्धों का मत भी उपरिनिर्दिष्ट दोषों से अछूता नहीं है। चित्त की सत्ता स्वीकार किये विना कठोर व्रतों का पालन कैसे करते हैं? यह तो उन्हीं से पूछा जाय। इस प्रकार आत्मा को स्वीकार न करने पर अनेक विसंगतियाँ ही आती हैं। अतः चित्त के भोक्तारूप में **'पुरुष'** अर्थात् आत्मा को स्वीकार करना अपरिहार्य है॥२१॥

## योगवार्त्तिकम्

**उत्तरसूत्रमवतारयति—स्यान्मतिरिति। मतिरभ्युपगमः। ननु स्वाभासशब्देन स्वसंतान-भास्यत्वं वक्तव्यम्, तथा च स्वरसेन विनाशस्वभावेन निरुद्धं नष्टमपि चित्तमुत्तरोत्तर-मुत्पन्नेन चित्तान्तरेण ग्राह्यमित्यभ्युपगमः स्यादिति न कर्मकर्तृविरोधादिदोष इत्यर्थः? तत्र सिद्धान्तसूत्रम्—चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च। वृत्तिरूपचित्तान्तरेण वृत्तिरूपचित्ते दृश्येऽभ्युपगम्यमाने तु बुद्धिबुद्धेर्वृत्तिवृत्तेरतिप्रसङ्गोऽनवस्था। एतद्व्याचष्टे—अथेति। बुद्धिबुद्धिश्चित्तगोचरं चित्तम्, परेषां वृत्त्यतिरिक्तचित्ताभावेन वृत्तिचित्तयोः पर्याय-त्वात्। ननु नेयमनवस्था, सर्वमेव चित्तं ग्रहीतव्यमिति नियमाभावादिति चेत्? वृत्तेरज्ञात-सत्ताऽङ्गीकारे जानामि नवेत्यादिसंशयापत्तेः, योग्यानुपलब्ध्या ज्ञानाद्यभावप्रत्यक्षानुपपत्तेश्च। किं च मा भवत्वनवस्था, वृत्तिगोचरानन्तवृत्तिकल्पनागौरवं त्वपरिहार्यमेव, अस्माभिर्लाघवेन**

**सकलवृत्तिगोचरैकविभुज्ञानकल्पनादिति। एतेन चित्तनित्यत्वाभ्युपगमिनामपि न्यायवैशेषिकाणामुत्तरोत्तरज्ञानेन पूर्वपूर्वज्ञानग्रहणकल्पना परास्ता, अनवस्थागौरवाभ्यामिति [1]मन्तव्यम्।**

भाष्यकार उत्तरसूत्र को अवतरित करते हैं—**'स्यान्मतिरिति।'** भाष्यगत 'मतिः' शब्द का अर्थ अभ्युपगम अर्थात् सिद्धान्त है। अर्थात् किसी का ऐसा वक्तव्य हो सकता है कि स्वरूपतः नष्ट होता हुआ चित्त अव्यवहित परवर्ती चित्तान्तर के द्वारा गृहीत होता है। पूर्वपक्षी के इसी तथ्य को वार्त्तिककार उठाते हैं—

**शङ्का**—**'स्वाभास'** शब्द से स्वसन्तानभास्यत्व को समझना चाहिये। अर्थात् जिसमें अपने सन्तान के द्वारा भास्यता आये उसे **'स्वाभास'** कहते हैं। तथाहि—**'स्वरस'** अर्थात् विनाश स्वभाव वाला होने से **'निरुद्ध'** अर्थात् नष्ट होता हुआ भी चित्त उत्तरोत्तर उत्पन्न चित्तान्तर के द्वारा ग्राह्य होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये। इससे कर्म-कर्तृविरोधादि दोष नहीं आते हैं। और इस प्रकार चित्त के प्रकाश के लिये आत्मतत्त्व को स्वीकार नहीं करना चाहिये।

**समाधान**—इस विषय में समाधान-सूत्र यह है—**'चित्तान्तरेति।'** सूत्रार्थ करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं—वृत्तिरूप चित्तान्तर के द्वारा वृत्तिरूप चित्त को दृश्य मानने पर तो उस द्वितीय बुद्धिवृत्ति का अन्य बुद्धिवृत्ति से ग्रहण होने से **'अतिप्रसंग'** अर्थात् अनवस्थादोष आयेगा। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'अथेति।'** **'बुद्धि-बुद्धि'** पद का अर्थ है—चित्तविषयक चित्त। क्योंकि दूसरों के (बौद्धों के) मत में वृत्ति अर्थात् विज्ञान से भिन्न चित्त का अभाव होने से अर्थात् वृत्ति और चित्त के एकरूप होने से **'वृत्ति'** और **'चित्त'** ये दोनों पद पर्याय हैं।

**पूर्वपक्ष**—वृत्तिरूप चित्तान्तर से वृत्तिरूप चित्त को गृहीत मानने पर अनवस्थादोष नहीं आता है, क्योंकि विज्ञानसन्तान की परम्परा में आगत सभी विज्ञान अपने से अन्य विज्ञान के द्वारा गृहीत होंगे, इसमें कोई नियम नहीं है। (भाव यह है कि विज्ञानवादी बौद्धमत में विज्ञानपरम्परा में आया हुआ प्रथम विज्ञान कुर्वद्रूपता न्याय (कार्योत्पादनन्याय) से विज्ञान-परम्परा के अन्तिम विज्ञान से गृहीत होगा। इससे विज्ञान-परम्परा होते हुए भी अनवस्थादोष नहीं आयेगा)?

**उत्तरपक्ष**—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वृत्ति की अज्ञात सत्ता मानने पर **'जानामि न वा'** अर्थात् 'जान रहा हूँ अथवा नहीं'—ऐसा संशय होने लगेगा तथा प्रत्यक्षयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि से ज्ञानादि के अभाव का प्रत्यक्ष उपपन्न नहीं होगा। किञ्च आपके कथनानुसार अनवस्था को न भी माना जाय तो भी वृत्ति-

---

1. ख—ननु भवन्मते सर्वेषां घटादिज्ञानानां ज्ञानस्य नित्यत्वात् सदैव घटादिसकलज्ञानव्यवहारः स्यादिति चेत्, न प्रतिबिम्बोद्ग्रहणरूपाया विषयाया अनित्यत्वादिति ( मन्तव्यं—पश्चात् ) उपलभ्यते, क ग घ च छ—ननु...अनित्यत्वादिति नोपलभ्यते।

विषयक अनन्तवृत्तियों की कल्पना का गौरव तो अपरिहार्य ही रहेगा। अर्थात् विज्ञानवादी बौद्ध को अनन्तवृत्तियों की कल्पना के गौरव से मुक्ति नहीं मिल पायेगी। जब कि हमारे योगमत में सकलवृत्तिविषयक एक विभु ज्ञानात्मक पुरुष को मानने पर कल्पनालाघव है। इस विवेचन से चित्त को नित्य मानने वाले न्याय-वैशेषिकों की यह अवधारणा (कल्पना) भी निरस्त हो जाती है कि 'उत्तरोत्तर ज्ञान से पूर्व-पूर्व ज्ञान गृहीत होता है।' क्योंकि न्यायवैशेषिकसम्मत तथाकथित मत में अनवस्थादोष तथा गौरवदोष दोनों आते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

सम्प्रति, सूत्र के उत्तरार्द्ध 'स्मृतिसंकरश्च' का विश्लेषण किया जा रहा है—

### योगवार्त्तिकम्

**अतिप्रसङ्गं व्याख्याय स्मृतिसंकरं व्याचष्टे—स्मृतिसंकरश्चेति। बुद्धिबुद्धेरिति शेषः। संकरशब्दार्थमाह—यावन्त इति। विषयानुभवकाले ज्ञानधारा जातेति विषयस्मृतिकालेऽप्यनन्तानां तज्ज्ञानानां स्मृतिरेकदैव भविष्यति, घटो मया पुरा ज्ञातो घटज्ञानं तज्ज्ञानं चेत्येवमनन्ताकारः,. सोऽयं स्मृतिसंकरः प्राप्त इत्यर्थः। [1]अस्मन्मते च पौरुषेयबोधस्य नित्यतया निर्विकल्पमात्रतया च न स्मृतिहेतुत्वमिति। नन्वेतादृशसंकरे को दोष इति? तत्राह—तत्संकराच्चेति। संकराभ्युपगमे च घटो मया ज्ञात इत्येकमात्राकारस्मृत्यनुभवो न स्यादित्यर्थः। अन्यान्यपि दूषणानि सूचयन्नास्तिकमतं तिरस्करोति—एवं बुद्धीति। सर्वं बन्धमोक्षधर्माधर्मादिव्यवस्थाऽऽदिकम्। तदेवं चित्ताद्विविच्य मोक्षो व्यवस्थापितः, चित्तस्य च स्वाभासत्वं निराकृतम्। इदानीं परेषामि[2]ष्टोक्तात्मतत्त्वावधारणस्य स्वाभ्युपगमविरोधेनाप्यन्याय्यतामाह—ते त्विति। [3]भोक्तृस्वरूपे न न्यायेन संगच्छन्ते न्यायविरुद्धा इत्यर्थः। तेषां विज्ञानवादः शून्य- वादश्चेति मुख्यं मतद्वयम्।**

वृत्तिरूपचित्तान्तर से वृत्तिरूप चित्त का ग्रहण मानने में आये '**अतिप्रसङ्ग**' दोष की व्याख्या करके भाष्यकार '**स्मृतिसंकर**' दोष की व्याख्या करते हैं—'**स्मृतिसंकरश्चेति**।' '**बुद्धिबुद्धेः**' यह वाक्यशेष है। अर्थात् बुद्धि से बुद्धि का ज्ञान मानने से स्मृतिसंकरदोष उपस्थित होता है। भाष्यकार 'संकर' शब्द का अर्थ करते हैं—'**यावन्त इति**।' विषयानुभवकाल में ज्ञानधारा उत्पन्न होगी और अनुभूत विषय के स्मृतिकाल में भी अनुभूत अनन्त ज्ञानों की अनन्त स्मृतियाँ भी एक ही समय होने लगेंगी। अनन्ताकारा स्मृति का स्वरूप ऐसा रहेगा—'**घटो मया पुरा ज्ञातो घटज्ञानं तज्ज्ञानं च**' अर्थात् 'घट

---

1. क ग घ च छ—**अस्मन्मते च पौरुषेयबोधस्य नित्यतया निर्विकल्पमात्रतया च न स्मृतिहेतुत्वमिति** उपलभ्यते, ख—**अस्मत्...हेतुत्वमिति** नोपलभ्यते।
2. क ग घ—**इष्टोक्ताख्य०**, ख—**भोक्ताख्य**, च छ—**इष्टोक्तात्म०**।
3. क ग घ—**भोक्तृस्वरूपं**, ख—**भोक्तृस्वरूपत्वं**, च—**भोक्तृस्वरूपे** उपलभ्यते। छ—**भोक्तृस्वरूपं/ भोक्तृस्वरूपत्वं/भोक्तृस्वरूपे**—नोपलभ्यते।

मुझे पूर्वतः ज्ञात है और इसी प्रकार घटविषयक ज्ञान तथा तज्जन्य ज्ञान भी'— इत्याकारक स्मृतिसंकरदोष (चित्त का प्रकाशक चित्तान्तर को मानने पर) आयेगा। जब कि हमारे मत में पौरुषेयबोध के नित्य तथा निर्विकल्पकमात्र होने से उसमें स्मृतिहेतुत्व नहीं है अर्थात् वह स्मृति का कारण नहीं होता है।

**शङ्का**—इस प्रकार का स्मृतिसांकर्य मानने पर क्या दोष आता है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**तत्संकराच्चेति**।' स्मृति-सांकर्य मानने पर '**घटो मया ज्ञातः**'—इत्याकारक एक स्मृतिज्ञान नहीं हो सकेगा। (दूसरे शब्दों में जितने अनुभव होंगे, उनकी उतनी स्मृतियाँ एक काल में उत्पन्न होने पर कौन सी स्मृति किस अनुभवजन्य है, इसका विवेक होना असम्भव हो जायेगा)। भाष्यकार इसी प्रकार अन्यान्य दोषों को दिखाते हुए नास्तिक मत का निराकरण करते हैं—'**एवं बुद्धीति**।' इस प्रकार बुद्धि के '**प्रतिसंवेदी**' पुरुष का अपलाप करने वाले वैनाशिकों ने बन्ध-मोक्ष, धर्म-अधर्म आदि सभी व्यवस्थाओं को प्रभावित (व्याकुल) कर दिया है। भाव यह है कि यदि आत्मा ही नहीं है तो धर्म-अधर्म तथा बन्ध-मोक्ष किसके लिये होंगे? तब तो उन सबका उच्छेद हो जायेगा। इस प्रकार चित्त से भिन्न पुरुष को मानने पर मोक्ष व्यवस्थित होता है और इसी से चित्त का स्वाभासत्व भी खण्डित हो जाता है। वैनाशिकों द्वारा स्वीकृत आत्मतत्त्व का स्वरूपावधारण योग-सम्मत आत्मतत्त्व से विरुद्ध है। अतः बौद्धों के आत्मसम्बन्धी दूषण को भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं। अर्थात् विज्ञानवादी और शून्यवादी वैनाशिकों ने आत्मा के स्वरूप को जिस प्रकार से अवधारित (तर्कित) किया है, वह भी न्यायसंगत नहीं है—'**ते त्विति**।' वैनाशिकों की आत्मस्वरूप की कल्पना न्यायसंगत नहीं है अर्थात् न्यायविरुद्ध है। भाष्य में आये '**तेषाम्**' पद से '**विज्ञानवाद**' और '**शून्यवाद**' ये मतद्वय मुख्यतः संगृहीत होते हैं।

वैनाशिकों के आत्मा (विज्ञानवाद) को लेकर दोष का विश्लेषण करते हुए आगे कहा जा रहा है—

**योगवार्त्तिकम्**

**तत्रादौ विज्ञानवादिनां क्षणिकताऽऽख्यस्वाभ्युपगमविरोधान्न्यायविरुद्धाद्भयं दर्शयति—केचिदिति। सत्त्वमात्रं क्षणिकविज्ञानरूपं चित्तमात्रं परिकल्प्य स्वीकृत्य तस्यैव मोक्षं वदन्ति। अस्ति स सत्त्वविशेषो य एतान् सांसारिकान् पञ्च स्कन्धान् हित्वा अन्यांश्च पञ्चस्कन्धान् युक्तोऽनुभवतीति। ततश्च तत एव स्वाभ्युपगमात् पुनस्त्रस्यन्ति चित्तस्थैर्यापत्त्येत्यर्थः। अतो न्यायविरुद्धास्त इति।**

इनमें से विज्ञानवादियों का क्षणिकतासंज्ञक स्वाभ्युपगमविरोध न्यायविरुद्ध होने से उनके लिये भयप्रद है, इसे भाष्यकार सर्वप्रथम प्रदर्शित करते हैं—'**केचिदिति**।' कुछ

क्षणिक विज्ञानवादी योगाचारमतावलम्बी बौद्ध लोग 'सत्त्वमात्र' अर्थात् क्षणिक विज्ञानरूप चित्तमात्र को 'परिकल्प्य' अर्थात् स्वीकार करके उसी क्षणिकात्मक विज्ञानरूप चित्त का ही मोक्ष बतलाते हैं। उनका वक्तव्य है कि 'सत्त्वविशेष' है, जो सांसारिक पञ्च स्कन्धों को छोड़कर अन्य पञ्च स्कन्धों से संयुक्त होता है—ऐसा कहकर ये ही वैनाशिक स्वाभ्युपगम से पुनः भयभीत भी होते हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर चित्त के स्थैर्य की आपत्ति होती है अर्थात् स्ववचोव्याघात होता है। अतः ये वैनाशिक न्यायविरुद्ध कहलाते हैं। भाव यह है कि संसारकाल में क्षणिक विज्ञानरूप (बुद्धिस्वरूप) आत्मा को क्षणिक मानकर मोक्षकाल में उसी को स्थायी मानने से स्वमतविरोध तथा न्यायविरोध होने से वे त्रास को प्राप्त होते हैं।

सम्प्रति, वैनाशिकों के पञ्च 'स्कन्धों' का प्रतिपादन किया जा रहा है—

## योगवार्त्तिकम्

**पञ्चस्कन्धाश्च विज्ञानवेदनासंज्ञारूपसंस्काराख्याश्चित्तस्यैव शाखाभेदा न तु चित्ता-द्भिन्नाः। तत्र विज्ञानं विषयानुभवः, वेदना दुःखम्, संज्ञारूपे शब्दार्थाविति यावत्, संस्कारो वासना। एतेष्वेषामपि सुखादीनां प्रवेश इत्यखिलं वस्तु चित्तमेवेति।**

इन पाँच स्कन्धों के नाम हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, रूप तथा संस्कार। ये पञ्च स्कन्ध चित्त के ही शाखाभेद हैं, न कि चित्त से भिन्न हैं। इनमें से 'विज्ञान' विषयानुभव, 'वेदना' दुःख, 'संज्ञा' और 'रूप' शब्दार्थ तथा 'संस्कार' वासना को कहते हैं। इन्हीं पञ्च स्कन्धों में सुखादियों का भी प्रवेश होता है। अतः निखिल वस्तुएँ पञ्चस्कन्धात्मक चित्तरूप ही हैं। यह विज्ञानवादी योगाचार का चित्तात्मविषयक मत है।

सम्प्रति, 'शून्यवादी' माध्यमिकों के क्षणिकात्मवाद में असंगति बतलाई जा रही है—

## योगवार्त्तिकम्

**शून्यवादेऽप्याह—तथेति। तथाऽन्ये केचित् स्कन्धानां महानिर्वेदाय महानिर्वेदाख्य-वैराग्यायापुनर्जन्मरूपप्रशान्तये च जीवन्मुक्तस्य गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं ब्रह्माभ्यासं साक्षात्कार-पर्यन्तं करिष्यामीत्युक्त्वा शिष्यतामपन्ना नास्तिका गुरूपदेशात् सत्त्वस्याहंशब्दार्थस्यापि सत्तामपलपन्ति शून्यवादिनो भवन्तीत्यर्थः। तेऽपि न्यायविरुद्धाः, भोक्तुः सत्त्वस्यापलापेन स्वाभिप्रेतस्य मोक्षस्याहंशब्दार्थस्य ब्रह्मचर्यादीनां सत्तास्वीकारात्। सेयमुद्देश्यविस्मृतिः कथं मूढान्न लज्जयतीति?**

भाष्यकार शून्यवाद में भी स्वाभ्युपगमविरोधपुरस्सर न्यायविरुद्धता को बतलाते हैं—'तथेति।' इसी प्रकार कुछ वैनाशिकैकदेशिक नास्तिक लोग पञ्च स्कन्धों के 'महानिर्वेद' अर्थात् महानिर्वेदसंज्ञक वैराग्य के लिये तथा तज्जन्य पुनर्जन्माभावरूप

'प्रशान्ति' के लिये 'जीवन्मुक्त गुरु के समीप ब्रह्मचर्य अवस्था में रहकर तक तक ब्रह्माभ्यास करूँगा जब तक ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हो जाता'—ऐसा कहकर शिष्यभाव को प्राप्त होकर—गुरूपदेश से प्राप्त 'सत्त्व' अर्थात् 'अहं' शब्द के अर्थभूत आत्मतत्त्व के अस्तित्व का ही अपलाप करते हैं। अर्थात् स्थायी आत्मतत्त्व को स्वीकार नहीं करते हैं। ऐसे शून्यवादी नास्तिकजन भी न्यायविरुद्ध हैं, क्योंकि ये भोक्ता पुरुष (आत्मा) की सत्ता का अपलाप करते हुए भी स्वाभिमत मोक्ष, अहंशब्दार्थ तथा ब्रह्मचर्यादियों की सत्ता स्वीकार करते हैं। शून्यवादियों की यह लक्ष्य-च्युति (उद्देश्य-विस्मृति) कैसे मन्दमतियों को लज्जित नहीं करती है। (अतः उनका मत भी न्यायविरुद्ध होने से उपेक्षणीय है)।

सम्प्रति, वार्त्तिककार 'आधुनिकवेदान्तिब्रुवों' के भी एतत्सम्बन्धी मत में अरुचि व्यक्त करते हैं—

**योगवार्त्तिकम्**

**एतेनाधुनिकवेदान्तिब्रुवा अपि न्यायविरुद्धा मन्तव्याः, तेऽपि हि मोक्षाद्यर्थं गुरुमुपासन्ना ब्रह्मातिरिक्तं सर्वं शुक्तिरजतवदत्यन्ततुच्छमिति गुरूपदेशान्मोक्षतत्साधनादिकमेवापलपन्तीति। अपि चोपदेशानन्तरमकृतसाक्षात्कारस्य मननादिसाधनाद्यनुष्ठानाभ्युपगमोऽपि तेषां न न्याय्यः, असतोपदेशेन फलतत्साधनेषु सर्वेष्वेवाविश्वासात्, अश्रद्धया कृतेनापि फलानुदयाच्च। किं बहुना, श्रुत्यादिप्रामाण्यबाधनेन ज्ञानप्रामाण्यसंशयाद्याहितः संशयो योगान्तेऽपि ब्रह्मणि स्यात्। न च स्वप्रकाशतया ब्रह्मणि न प्रमाणापेक्षेति वाच्यम्, प्रकाशतस्तस्य तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधादिति सांख्यसूत्रोक्तदोषात्, स्वाभ्युपगतश्रवणादिवैयर्थ्यापत्तेश्च, मोक्षसाधनविषयस्य विवेकस्यास्वप्रकाशत्वाच्च। यत्तु—अवेद्यत्वेऽपि प्रत्यक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वप्रकाशत्वमिति प्रलपनं तत् शशशृङ्गवन्मन्तव्यम्, वेदनस्य व्यवहारं प्रति सामानाधिकरण्येन हेतुत्वात्, द्रष्टव्यत्वादिश्रुतिविरोधाच्चेति। सैषाऽतिनास्तिकता दृश्यतेऽपि बहिर्मुखानां यतिमानिनामिति। आधुनिकानां वेदान्ते विवर्त्तवादो यथा यथा विचार्यते तथा तथा न्यायविरोधेन सिकतासेतुवद्वि[1]शीर्यते।**

इसी कारण से आधुनिकवेदान्तिब्रुवों का मत भी न्यायविरुद्ध समझना चाहिये। ये मोक्षादि (की प्राप्ति) के लिये गुरु के समीप पहुँचकर 'शुक्ति में रजत की अत्यन्त तुच्छता की भाँति ब्रह्मातिरिक्त समस्त जगत् अत्यन्त तुच्छ (अलीक, मिथ्या) है'—ऐसे गुरूपदेश से 'मोक्ष' तथा मोक्ष-प्राप्ति के साधनों का ही अपलाप करने लगते हैं। किञ्च गुरूपदेश के पश्चात् ब्रह्म मोक्षादि का साक्षात्कार हुए विना उनका अपलाप करने वाले इन आधुनिकवेदान्तिब्रुवों का मननादिसाधनानुष्ठान का

---

1. क ख ग घ—विदीर्यते, च छ—विशीर्यते।

सिद्धान्त भी उनके ही पक्ष में न्यायोचित नहीं है, क्योंकि समस्त पदार्थों की तुच्छता के उपदेश से उनका मोक्षरूप फल और उसकी प्राप्ति के साधनादि सभी क्रियाओं पर से विश्वास उठ जाता है और श्रद्धारहित अर्थात् विश्वासशून्य होकर किया हुआ साधनानुष्ठान फलोत्पादक नहीं होता है। अधिक क्या कहा जाय, श्रुत्यादिशास्त्रों के प्रामाण्य का बाध (खण्डन) करने से ज्ञानप्रामाण्य के संशयादि से युक्त संशय योग के अन्त में भी (ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी) ब्रह्म के विषय में होने लगेगा।

**शङ्का**—यदि पूर्वपक्षी कहे कि स्वतःप्रकाशस्वरूप होने से ब्रह्म के प्रामाण्य में प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं है?

**समाधान**—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि स्वतःप्रकाशस्वरूप होने से ब्रह्म की सिद्धि मानने पर **कर्मकर्तृविरोधात्** इस सांख्यसूत्रोक्त दोष की आपत्ति होगी तथा आप वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत श्रवणादि का उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। किञ्च मोक्ष का साधनरूप विवेकज्ञान अप्रकाशरूप है। और जो लोग—'अवेद्य (अग्राह्य) होने पर भी जो प्रत्यक्ष व्यवहार के योग्य है, वह स्वप्रकाश है'—ऐसा प्रलाप करते हैं, उसे भी शशशृङ्ग की भाँति तुच्छ समझना चाहिये, क्योंकि वेदन में व्यवहार के प्रति सामानाधिकरण्येन हेतुता है तथा आत्मा को वेद्य (द्रष्टव्य) कहने वाली **'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः'** इस श्रुति से विरोध होगा। और इसमें बहिर्मुख यतिमानियों की अत्यन्त प्रचण्ड नास्तिकता भी दिखलाई पड़ती है। आधुनिक वेदान्तियों के ग्रन्थों में जहाँ-कहीं विवर्तवाद पर विचार किया गया है, वह सब रेतीले पुल की तरह टूट (ढह) जाता है।

इस परिप्रेक्ष्य में योगमत का समर्थन करते हुए वार्त्तिककार आगे कहते हैं—

### योगवार्त्तिकम्

**स्वमते तु नास्त्ययं न्यायविरोधः, मोक्षभागिनोऽहंशब्दार्थस्य भोक्तुः स्थिरस्य स्वीकारादित्याह—सांख्ययोगादयस्त्विति। आदिशब्देन ब्रह्ममीमांसाऽदयो ग्राह्याः। प्रकृष्टा वादाः प्रवादाः, स्वशब्देनाहंस्वमात्मेत्यादिशब्दजातेन न त्वन्यः। कथमन्यस्यात्माऽहमित्यादिवृत्तिगोचरः स्यात्? तत्राह—चित्तस्य स्वामिनमिति। स्वामी ह्यात्मा लोके व्यवह्रियते, यच्चाप्नोति यदादत्त इत्यादिशास्त्रे चेति। अपरिणामिनि यथेष्टविनियोक्तृत्वाभावात् कथं स्वामित्वम्? तत्राह—भोक्तारमिति। अत्र च स्वतोऽपि पुरुषस्य भोगोऽस्तीत्यवधारणीयम्; प्रकृतोपपत्तये चित्तस्य स्वाभासत्वं निराकृतम्॥२१॥**

योगमत में इस प्रकार का न्यायविरोध नहीं आता है, क्योंकि हम लोग मोक्षभागीय **'अहं'** शब्द के अर्थभूत भोक्ता पुरुष (आत्मा) को स्थिर मानते हैं, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—**'सांख्ययोगादयस्त्विति'** यहाँ **'आदि'** शब्द से ब्रह्ममीमांसा आदि

शास्त्रों का ग्रहण होता है। 'प्रवाद' शब्द का अर्थ है—प्रकृष्टवाद। 'स्व' शब्द से 'अहं', 'स्वं', 'आत्मा' आदि को ही लिया गया है, किसी अन्य तत्त्व को नहीं। क्योंकि अन्य अर्थात् पूर्वपक्षाभिमत आत्मा कैसे 'अहम्' इत्यादि वृत्ति का विषय हो सकता है। इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'चित्तस्य स्वामिनमिति'**। लोक में **'स्वामी'** शब्द 'आत्मा' अर्थ में व्यवहृत होता है। एतद्विषयक **'यच्चाप्नोति यदादत्ते'** (लिङ्ग पु. पूर्व ७०/९६) शास्त्र भी है।

**शङ्का**—अपरिणामिनी चितिशक्ति में तो पदार्थ-नियोजन की यथेष्ट शक्ति निहित नहीं है, अतः उसका स्वामित्व कैसे सिद्ध हो सकता है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'भोक्तारमिति।'** (चित्त का भोक्ता होने से चिति में स्वामित्व है तथा) पुरुष में स्वतः भी भोग है, ऐसा समझना चाहिये। पुरुष के स्वामित्व (भोक्तृत्व) रूप सिद्धान्त की उपपत्ति के लिये ही चित्त के **'स्वाभासत्व'** का निराकरण किया गया है॥२१॥

सम्प्रति, प्रश्नपरक एकपदीय वैयासिकी अवतरणिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

**व्यासभाष्यम्**

**[1]कथम्?**

किस प्रकार से पुरुषतत्त्व को चित्त का द्रष्टा कहा गया है?—

**योगसूत्रम्**

## चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदा[2]कारापत्तौ स्वबुद्धि[3]संवेदनम्॥२२॥

विषय की तरफ सञ्चाररहित चितिशक्ति को चित्त के आकार की प्राप्ति होने पर अपनी विषयभूता बुद्धि का ज्ञान होता है॥२२॥

**व्यासभाष्यम्**

**अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च, [4]परिणामिन्यर्थे [5]प्रतिसंक्रान्तेव**

---

1. क ख ग—कथं ४/२१ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—कथं ४/२२ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. आकारता०—इति पाठान्तरम्।
3. भवनम्—इति पाठान्तरम्।
4. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव, छ थ—निरन्वया: चिति: परिणामिनी हि भोक्तृशक्तिः प्रतिसंक्रान्ता चेत्यर्थेऽस्मिता तादात्म्यं प्राप्यान्वयात्मिकेव।
5. क ग—प्रतिसंक्रान्ते च, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—प्रतिसंक्रान्तेव।

तद्वृत्तिम[1]नुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रह[2]स्वरूपाया बुद्धिवृत्तेर[3]नुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि [4]ज्ञानवृत्तिराख्यायते। तथा चोक्तम्—

न पातालं न [5]च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो [6]वेदयन्ते॥

इति॥२२॥

अपरिणामिनी तथा प्रतिसंक्रमणरहित भोक्तृशक्ति (रूप पुरुष) परिणामी पदार्थ (बुद्धि) में प्रतिसंक्रमित सी होकर उस (बुद्धि) की वृत्ति का आकार ग्रहण करती है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित उस बुद्धिवृत्ति के अनुकार मात्र होने से बुद्धिवृत्ति से अभिन्न होती हुई ही 'ज्ञानरूपवृत्ति' कही जाती है। और वैसा कहा भी गया है—'वह गुहा—जिसमें नित्य पुरुषतत्त्व निहित रहता है—न तो पाताल है और न पर्वतों की गुफा है, न अन्धकार है और न समुद्रों का अन्तस्तल है। क्रान्तदर्शी ऋषिगण पुरुष की भोक्तृत्वरूपिणी प्रतीयमाना वृत्ति से अभिन्नाकार बुद्धि की वृत्ति को ही गुहा करके जानते हैं॥२२॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के 'कथम्' पद का अर्थ समझाते हुए तत्त्ववैशारदीकार विस्तृत अवतरणिका के साथ सूत्र को उपस्थित करते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्—यदि चित्तं न स्वाभासं नापि चित्तान्तरवेद्यमात्मनापि कथं भोक्ष्यते चित्तम्। न खल्वात्मनः स्वयंप्रकाशस्याप्यस्ति काचित्क्रिया। न च तामन्तरेण कर्ता। न चासंबद्धश्चित्तेन कर्मणा तस्य भोक्तातिप्रसङ्गादित्याशयवान् पृच्छति—कथमिति। सूत्रेणोत्तरमाह—चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्। यत्तदवोचद् वृत्तिसारूप्यमितरत्र इति तदितः समुत्थितम्। चितेः स्वबुद्धिसंवेदनं बुद्धेस्तदाकारापत्तौ चिति[7]प्रतिबिम्बाधारतया

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—अनुपतति, ब—अनुपतन्ती।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—स्वरूपायाः, थ—स्वरूपया।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न फ ब भ म र—अनुकार०, द—अनुकारि०, प य—अनुकार्य०।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—ज्ञानवृत्तिः, ब—ज्ञवृत्तिः।
5. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—च उपलभ्यते, ख ब—च नोपलभ्यते।
6. छ थ—अयं विचारानुगतः संप्रज्ञातः समाधिः। भोक्तरि विवेकेऽन्तःकरणप्रकृतिलयदर्शनात् (वेदयन्ते—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—अयं....दर्शनात् नोपलभ्यते।
7. क ख ग—प्रतिबिम्बधारितया, घ च छ ज झ थ द ध न—प्रतिबिम्बाधारतया, त—बिम्बधारितया।

तद्रूपतापत्तौ सत्याम्। यथा हि चन्द्रमसः [1]क्रियामन्तरेणापि संक्रान्तचन्द्रप्रतिबिम्बममलं जलमचलं [2]चलमिव चन्द्रमसमवभासयत्येवं विनापि चितिव्यापारमुपसंक्रान्तचितिप्रतिबिम्बं चित्तं स्वगतया क्रियया क्रियावतीमसंगतामपि संगतां चितिशक्तिमवभासयद्भोग्य[3]भावमासादयद्भोक्तृभावमापादयति तस्या इति सूत्रार्थः। भाष्यमप्येतदर्थमसकृत्तत्र तत्र व्याख्यातमिति न व्याख्यातमत्र। बुद्धिवृत्त्यविशिष्टत्वे ज्ञानवृत्तेरागममुदाहरति—तथा चोक्तम्—न पाताल—मिति। शाश्वतस्य शिवस्य ब्रह्मणो विशुद्धस्वभावस्य [4]चितिच्छायापन्नां मनोवृत्तिमेव चितिच्छायापन्नत्वाच्चितेरप्यविशिष्टां गुहां वेदयन्ते। तस्यामेव गुहायां तद् [5]गुह्यं ब्रह्म, तदपनये तु स्वयंप्रकाशमनावरणमनुपसर्गं प्रद्योतते चरमदेहस्य भगवत इति॥२२॥

शङ्का—यदि चित्त स्वाभासक नहीं है और चित्तान्तर द्वारा ज्ञेय भी नहीं है, तो आत्मा के द्वारा भी वह कैसे ज्ञेय बन सकता है? क्योंकि स्वयंप्रकाशस्वरूप आत्मा में तो किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं बन सकती है। और न ही यह कह सकते हैं कि पुरुष में किसी प्रकार की क्रिया न होने से वह पुरुष चित्त के साथ सम्बन्धित (संयोग-सम्बन्ध) हुए विना चित्तरूप कर्म का भोक्ता होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसङ्ग (अतिव्याप्ति) दोष प्रसक्त होगा। इसी आशय से वैनाशिक बौद्ध पूछता है—'कथमिति।'

समाधान—सूत्र के द्वारा उत्तर दिया जा रहा है—'चितेरिति।' 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (१/४) सूत्र में जो कुछ व्याख्यात हुआ है, वह सब यहीं से प्राप्त है। चितिशक्ति के प्रतिबिम्ब का आधार बुद्धि होने से जब चितिशक्ति बुद्धि के आकार को प्राप्त करती है, तब चितिशक्ति को अपने विषयभूत बुद्धि का ज्ञान होता है। जिस प्रकार बिम्बरूप चन्द्रमा में किसी प्रकार की क्रिया हुए विना भी स्वच्छ जल में प्रतिबिम्बित (प्रतिफलित) होने के कारण स्वच्छ जल का कम्पन अचल चन्द्रमा को क्रियावान् सदृश प्रतीत कराता है। उसी प्रकार चितिशक्ति के व्यापार के विना भी जिसमें चितिशक्ति का प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है, ऐसा चित्त (बुद्धि) स्वनिष्ठ वृत्ति (व्यापार) के द्वारा 'अक्रिय' (अपरिणामी) और 'असङ्ग' (विकारशून्य) पुरुष को क्रियावान् और सङ्ग रूप से प्रतीत कराता हुआ स्वयं भोग्यभाव को प्राप्त होकर

---

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न—क्रियामन्तरेण, ख—इन्द्रियाप्तिमन्तरेण।
2. क घ च ज त—आलवालमरालमिव, छ—आलवालं मरालमिव (चलमिव—पश्चात्) उपलभ्यते, ख ग झ थ द ध न—आलवाल...मिव नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—भावं, न—भावाम्।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न—चितिच्छाया०, थ द ध—चितिच्छायाम्।
5. क ख ग झ थ द ध न—गुह्यम्, घ च छ ज त—गृह्यम्।

पुरुष के भोक्तृत्व को सिद्ध करता है—यह सूत्रार्थ है। भाष्यकार ने भी ग्रन्थ में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यथास्थान अनेक बार किया है, अतः यहाँ पूर्वकथित तथ्य का प्रतिपादन पुनः नहीं किया गया है। भाष्यकार ज्ञानवृत्ति का बुद्धिवृत्ति से **'अविशिष्ट'** अर्थात् अभिन्न होना सिद्ध करने के लिये आगम को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं—**'तथा चोक्तं—न पातालमिति'** अर्थात् विशुद्ध स्वभाव वाले अनादि शिव ब्रह्म की चितिच्छाया को प्राप्त हुई अर्थात् चेतनवती हुई मनोवृत्ति (बुद्धि-वृत्ति) को ही विद्वान् लोग पुरुष की उपलब्धि का स्थान मानते हैं, क्योंकि बुद्धि-वृत्ति से पुरुष भी अभिन्न प्रतीत होता है। इस गुहा में स्वप्रतिबिम्बित चेतन से अभिन्न सदृश हुई जो बुद्धिवृत्ति है, उसी में ब्रह्म छिपा हुआ है अर्थात् वहाँ निवास करता है। बुद्धिवृत्ति की निवृत्ति होने पर अर्थात् बुद्धिवृत्ति के चरिताधिकारा होने पर चरमदेह योगी का पुरुषतत्त्व स्वयंप्रकाश और क्लेश, कर्म, विपाक, आशय आदि से रहित होकर प्रकाशित होता है॥२२॥

**बालप्रिया—**

**'भोक्तृभावमापादयति'**—तात्पर्य यह है कि अपने में भोग्यभाव का निष्पादन करता हुआ चित्त चितिशक्ति में भोक्तृभाव की निष्पत्ति कराता है।

'न पातालम्...'—इस श्रुति का संक्षिप्तार्थ यह है—**'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्'** इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित जिस गुहा में अनादि ब्रह्म को स्थित (निहित) बतलाया गया है, वह गुहा पातालादि नहीं है। अपितु पुरुष से अविशिष्ट अर्थात् अभिन्न बुद्धिवृत्ति को ही तत्त्वज्ञानियों ने गुहा पद का वाच्य माना है। अर्थात् अविशिष्ट बुद्धिवृत्ति ही **'गुहा'** पदवाच्य है।

'अनुपसर्गम्'—क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय को उपसर्ग (बाधा) कहते हैं। ये उपसर्ग जिसमें से निष्क्रान्त अर्थात् निकल गये हैं, उसे **'निरुपसर्ग'** कहते हैं। तत्त्वज्ञ के अविद्यादि उपसर्ग क्षीण हो जाते हैं। अतः योगी के आत्मतत्त्व को **'निरुपसर्ग'** कहा गया है॥२२॥

## योगवार्त्तिकम्

**इदानीं सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामादिति सूत्रस्योपपादकं सूत्रमेतेनैव प्रसङ्गेनोत्थापयति—कथमिति। नन्वपरिणामित्वे विषये संचाराभावात्तदाकार-परिणामाभावाच्च कथं चित्तज्ञातृत्वरूपं चित्तभोक्तृत्वं पुरुषस्य स्यात्, चित्तस्थले हि घटादि-विषयग्रहणं चित्तस्य संचारात्तदाकारपरिणामाच्च दृष्टमित्यर्थः? तत्र सिद्धान्तसूत्रम्—चितेर-प्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्। अप्रतिसंचाराया अपि चितेः स्वीयबुद्धि-वृत्तिदर्शनं बुद्धिवृत्त्याकारताऽऽपत्त्यैव भवतीत्यर्थः। अयं भावः—ज्ञातुः सञ्चारो न साक्षादेव ज्ञाने हेतुः किं त्वर्थाकारता हेतुः सन्निकर्षद्वारा, अन्यथा स्वप्नादौ मनःसञ्चाराभावेनार्थ-**

**भानायोगात्, अतो विभुत्वेनैव सर्वत्र सन्निकृष्टस्यात्मनः सञ्चारो नापेक्ष्यत इति। आपत्ति-ग्रहणं च पुरुषस्य पारमार्थिकाकारप्रतिषेधार्थम्। यथा हि विषयासन्निकर्षकालेऽपि स्वप्नादौ तद्धानायागत्या चित्तस्य तदाकारः परिणाम इष्यते नैवं पुरुषस्य चित्तवृत्त्यभावेऽपि तद्धानं भवति येन पुरुषेऽपि वृत्त्याकारः परिणाम इष्येत, किं तु स्फटिके सन्निकृष्टजपालौहित्यस्येव चित्तवृत्तेः प्रतिबिम्बमेव लाघवादिष्यते; उभयत्राकाराख्यपरिणामकल्पने गौरवात्, स्फटिक-दर्पणादेः स्वप्रतिबिम्बितवस्तुप्रकाशकत्वस्य सिद्धत्वाच्चेति। तदिदं वृत्तिप्रतिबिम्बितमेव वृत्त्या-कारापत्तिरित्युक्तं सूत्रकारेणेति।**

सम्प्रति, भाष्यकार 'सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामात्' (४/१८) सूत्र के उपपादक (सहायकीभूत) सूत्र को इसी प्रसंग से उठाते हैं—**'कथमिति।'**

**शङ्का**—अपरिणामी पुरुष का न तो विषयदेश तक सञ्चरण ही हो सकता है और न विषयाकार परिणाम हो सकता है, तो फिर कैसे पुरुष का चित्तज्ञातृत्वरूप चित्त-भोक्तृत्व उपपन्न हो सकता है? अर्थात् पुरुष को चित्त का भोक्ता नहीं कहा जा सकता है। जब कि चित्तपक्ष में चित्त का (इन्द्रियप्रणालिका द्वारा) विषयदेश तक सञ्चरण तथा विषयाकार परिणाम होने से घटादिविषय का ज्ञान होना परिलक्षित होता है। पूर्वपक्षी के कथन का अभिप्राय यह है कि विज्ञानरूप चित्तात्मा को ही विषय का ग्राहक तथा भोक्ता समझना चाहिये।

**समाधान**—शंका-समाधानार्थ सिद्धान्त सूत्र इस प्रकार है—**'चितेरिति।'** अप्रतिसञ्चरण-शील (प्रतिसंक्रमरूप क्रियारहित) होते हुए भी पुरुष को बुद्धिवृत्त्याकारतापत्ति से ही **'स्वबुद्धिसंवेदन'** अर्थात् स्वीय बुद्धिवृत्ति का ज्ञान (दर्शन) होता है। भाव यह है—विषयज्ञान के प्रति ज्ञाता पुरुष का सञ्चरण (विषयदेशपर्यन्त गमन) साक्षात् हेतु (कारण) नहीं है, अपितु सन्निकर्षविधया (सन्निकर्षरूप व्यापार के द्वारा) होने वाली चित्त की अर्थाकारता ही विषयज्ञान की हेतु है, अन्यथा स्वप्नादि स्थल में मनःसञ्चाराभाव (मन का विषयदेश तक गमन न) होने से चित्त को विषय गृहीत न हो सकेगा, जब कि चित्त को स्वप्नादि अवस्था में भी विषयज्ञान होता है। अतः यह मानना चाहिये कि विभु होने से सर्वविषयसंयुक्त (सन्निकृष्ट) आत्मा को विषयज्ञान के लिये सञ्चार की अपेक्षा नहीं रहती है। सूत्र में 'आपत्ति' शब्द का ग्रहण पुरुष के पारमार्थिक अर्थाकारता के निवारणार्थ हुआ है। तथाहि—स्वप्ना-द्यवस्था में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष न होने पर भी विषयज्ञान के लिये चित्त का विषया-कारपरिणाम अगत्या स्वीकार किया गया है, न कि पुरुष का, क्योंकि चित्तवृत्ति का अभाव होने पर भी पुरुष को चित्त का ज्ञान रहता है, इससे पुरुष में भी अगत्या विषयाकारपरिणाम क्यों माना जाय? अपितु स्फटिक में प्रतिफलित सन्निहित जपा-कुसुम के लौहित्य की भाँति विभु पुरुष में चित्तवृत्ति का प्रतिफलन ही लाघवगुण



ा सत्य (उचित प्रतीत
'अहन्त्व' प्रतीति) प्रति-
व है अर्थात् प्रतिबिम्ब
हीं होता है। इसी भाँति
तिबिम्ब की कल्पना की
त्मा का भी ज्ञान चित्त
कहते हैं। बुद्धि की
द्यपि घटादि विषयाकार
होता है, तथापि प्रति-
क परिणाम कहा जाता

ही है—

**ेति। हिशब्दोऽत्रावधारणे।
ह्रियते। तत्र हेतुः—प्राप्ते-
बुद्धिवृत्तेस्तदनुकारिमात्र-
ीदमेव वाक्यं भाष्यकारैः
र्तव्यम्। ननु जानाम्यहं
िर्विकल्पकस्य वृत्तिबोधस्य
मेव, बिम्बप्रतिबिम्बोद्ग्र-
नामीतिवृत्त्यन्तरस्य विषय**

की 'तदाकारापत्ति' का
ब्द 'अवधारण' (उक्त
की भी ज्ञानरूपावृत्ति
किया जाता है। इसमें
के प्रतिबिम्ब को प्राप्त
होने से अर्थात् चिति-
रुष ज्ञानरूपवृत्ति वाला
सूत्र में भी भाष्यकार
**सारूप्यमितरत्र'** (१/४)
हिये।

से स्वीकार किया गया है। किञ्च चित्त और पुरुष दोनों में विषयाकारपरिणाम की कल्पना करने में गौरवदोष आता है तथा दूसरी बात यह है कि स्फटिक, दर्पण आदि का स्वप्रतिबिम्बित वस्तु का प्रकाशक होना सुविदित है। इसलिये सूत्रकार ने पुरुष में प्रतिफलित वृत्तिप्रतिबिम्ब को ही पुरुष की **'तदाकारतापत्ति'** कहा है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार भाष्यार्थ करते हैं—

**योगवार्त्तिकम्**

**भाष्यकारः पुरुषस्य बुद्ध्याकारतां प्रतिपादयितुमादौ बुद्धेरेव रूपमाह—अपरिणामिनीति। भोक्तृशक्तिः पुरुषाख्याऽपरिणामिनी; अतो नापि गतिमती। ततो न स्वप्नजाग्रतोश्चित्तस्येव पुरुषस्य ज्ञानं संभवति किं तु वृत्तिसरूपपरिणामिन्यर्थे चितिः प्रतिसंक्रान्तेव प्रतिबिम्बरूपेण संचरितेव सती तद्वृत्तिमनुपतति तद्वृत्तिं चेतनवत्करोतीत्यर्थः, अन्यथा हि घटमहं जानामीति बुद्धिवृत्त्यनुपपत्तिः, बुद्धेरनहंत्वाद् अचेतनत्वाच्चेत्युत्तरसूत्रे वक्ष्यति। अथाविवेकादेवैतादृशी बुद्धिवृत्तिरिति चेत्? सत्यम्—तथाऽप्यविवेक एव प्रतिबिम्बमूलको दोषान्तराभावात्। तथा चेतनभानार्थमपि वृत्तौ तत्प्रतिबिम्बः कल्प्यते, बुद्ध्यारूढतयैव शब्दादिवदात्मनोऽपि भानादिति। इदमेव प्रतिबिम्बं बुद्धेश्चिच्छायाऽऽपत्तिरित्युच्यते तथा बुद्धेरर्थाकारतावद् आत्माकारतेत्यप्युच्यत इति मन्तव्यम्। यद्यपि घटाद्याकारपरिणामवदात्माकारपरिणाम एव बुद्धेर्भवति तथाऽपि प्रतिबिम्बतुल्यतया स एव प्रतिबिम्बमप्युच्यते।**

पुरुष की बुद्ध्याकारता का प्रतिपादन करने की इच्छा से भाष्यकार बुद्धि के स्वरूप को सर्वप्रथम बतलाते हैं—**'अपरिणामिनीति'**। पुरुषसंज्ञिका भोक्तृशक्ति अपरिणामिनी है, अतः गतिशीला (सञ्चरणमती) भी नहीं है। स्वप्न तथा जागरित अवस्था में, चित्त के समान, पुरुष को ज्ञान होना सम्भव नहीं है। अर्थात् चित्त की भाँति पुरुष का विषयाकार परिणाम नहीं होता है, अपितु चित्तवृत्तिसरूपात्मक परिणामी पदार्थ में चितिशक्ति **'प्रतिसंक्रान्त'** अर्थात् प्रतिबिम्बरूप से सञ्चरित सदृश होकर उस चित्तवृत्ति को **'अनुपतति'** अर्थात् चेतनवती बना देती है, अन्यथा (बुद्धिवृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ना स्वीकार न करने पर) **'घटमहं जानामि'** अर्थात् 'मैं घट को जान रहा हूँ'—इत्याकारिका बुद्धिवृत्ति अनुपपन्न रह जायेगी, अर्थात् सिद्ध न हो सकेगी क्योंकि बुद्धि **'अहं'** रहित तथा अचेतन (स्वरूप वाली) है, ऐसा उत्तरसूत्र में बतलाया जायेगा। अतः दृष्ट व्यवहार की उपपत्ति के लिये चेतन पुरुष का बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्ब मानना अपरिहार्य है। जिससे पुरुषसन्निधान से बुद्धि में अहमत्व तथा चेतनत्व की भ्रमात्मक प्रतीति बन सके।

**शङ्का**—अज्ञानतावशात् ही **'घटमहं जानामि'** इत्याकारिका बुद्धिवृत्ति मान ली जाय अर्थात् तदर्थ बुद्धिवृत्ति में पुरुष के प्रतिबिम्ब की कल्पना क्यों की जाय?

**समाधान**–इस पर वार्त्तिककार कहते हैं कि पूर्वपक्षी की शंका सत्य (उचित प्रतीत होती) है, तथापि बुद्धि-पुरुष का अविवेकप्रत्यय (बुद्धि में '**अहन्त्व**' प्रतीति) प्रतिबिम्बमूलक ही है, क्योंकि इसमें किसी अन्य दोष का अभाव है अर्थात् प्रतिबिम्ब को छोड़कर कोई दूसरा कारण भेदाग्रहण में परिलक्षित नहीं होता है। इसी भाँति चेतन पुरुष का ज्ञान होने के लिये भी बुद्धिवृत्ति में पुरुष-प्रतिबिम्ब की कल्पना की जाती है, क्योंकि बुद्ध्यारूढ होने से ही शब्दादि की तरह आत्मा का भी ज्ञान चित्त को होता है। इसी प्रतिबिम्ब को बुद्धि की '**चिच्छायापत्ति**' कहते हैं। बुद्धि की अर्थाकारता की भाँति इसी को '**आत्माकारता**' भी कहते हैं। यद्यपि घटादि विषयाकार परिणाम की तरह आत्माकार परिणाम (भी) बुद्धि का ही होता है, तथापि प्रतिबिम्ब के तुल्य होने से उसका (पुरुष का) भी प्रतिबिम्बात्मक परिणाम कहा जाता है।

सम्प्रति, सूत्रगत '**तदाकारापत्तौ**' पद की व्याख्या की जा रही है–

**योगवार्त्तिकम्**

**बुद्धे रूपं प्रदर्श्य पुरुषस्य तदाकारताऽऽपत्तिं दर्शयति–तस्याश्चेति। हिशब्दोऽत्रावधारणे। तस्या अपि चितेर्ज्ञानरूपा वृत्तिर्बुद्धिवृत्त्यविशिष्टैवेत्याख्यायते व्यवह्रियते। तत्र हेतुः–प्राप्तेत्यादि। प्राप्तश्चैतन्योपग्रहश्चैतन्यप्रतिबिम्बं येनैतादृशं रूपं यस्या बुद्धिवृत्तेस्तदनुकारिमात्रतया तत्प्रतिबिम्बाधारतामात्रेणेत्यर्थः। द्रष्टा दृशिमात्र इति सूत्रेऽपीदमेव वाक्यं भाष्यकारैः प्रमाणत्वेनोपन्यस्तम्। वृत्तिसारूप्यमितरत्रेत्यत्राप्येतदुक्तमिति स्मर्त्तव्यम्। ननु जानाम्यहं क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमित्यादिरूपता वृत्तेरेवेति प्रागेवोक्तम्, तर्हि निर्विकल्पकस्य वृत्तिबोधस्य स्वरूपं कीदृशमिति? उच्यते–यादृशं ज्ञानक्रोधादिवृत्तीनां रूपं तादृशमेव, बिम्बप्रतिबिम्बोद्ग्रहणात् तदेव वृत्तिबोधस्य रूपम्, स च वृत्तिबोधो वृत्त्यविवेकेन जानामीतिवृत्त्यन्तरस्य विषय एव भवति, ज्ञानचितिबोधादिशब्दानां पर्यायत्वादिति।**

बुद्धितत्त्व का स्वरूप प्रतिपादित करके भाष्यकार पुरुष की '**तदाकारापत्ति**' का प्रदर्शन (विवरण) करते हैं–'**तस्याश्चेति**' भाष्य में '**हि**' शब्द 'अवधारण' (उक्त सिद्धान्त के निश्चयन) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। चितिशक्ति की भी ज्ञानरूपावृत्ति बुद्धिवृत्ति से '**अविशिष्ट**' अर्थात् अभिन्न ही है, ऐसा व्यवहार किया जाता है। इसमें कारण यह है–**प्राप्तेत्यादि**' '**प्राप्तचैतन्योपग्रह**' अर्थात् चैतन्य के प्रतिबिम्ब को प्राप्त करने वाली बुद्धिवृत्ति के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने वाला होने से अर्थात् चितिप्रतिबिम्बित बुद्धि के प्रतिबिम्ब का आधारमात्र होने से पुरुष ज्ञानरूपवृत्ति वाला कहलाता है। '**द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः**' (२/२०) सूत्र में भी भाष्यकार ने इसी वाक्य को प्रमाणरूप से उपन्यस्त किया है। तथा '**वृत्तिसारूप्यमितरत्र**' (१/४) सूत्र में भी यही तथ्य वर्णित हुआ है, ऐसा स्मरण रखना चाहिये।

शङ्का—'जानाम्यहं, क्रुद्धोऽहं भीतोऽहम्' अर्थात् 'मैं जानता हूँ, मैं क्रुद्ध हूँ, मैं भयभीत हूँ'—इत्यादि आकार वाली वृत्ति ही तो पूर्व अभिहित हुई है, अतः यह बतलाइये कि निर्विकल्पक वृत्तिबोध का स्वरूप क्या है?

समाधान—वार्त्तिककार उत्तर देते हैं—ज्ञान, क्रोधादि वृत्तियों का जिस प्रकार का रूप होता है, उसी प्रकार का वृत्तिबोध का रूप, बिम्ब के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने से, होता है। और यही वृत्तिबोध वृत्त्यविवेक के कारण 'जानामि' अर्थात् जानता हूँ—इत्याकारक वृत्त्यन्तर का विषय ही होता है, क्योंकि ज्ञान, चिति तथा बोधादि शब्द पर्याय हैं।

सम्प्रति, चेतन की 'बुद्ध्याकारापत्ति' में प्रमाण प्रस्तुत किया जा रहा है—

## योगवार्त्तिकम्

एकाकारताऽऽपत्तावागममपि प्रमाणयति—तथा चोक्तमिति। न पातालमित्यादेरयमर्थः गुहाऽऽहितं गह्वरेष्ठं पुराणमित्यादिश्रुतिस्मृतिषु यस्यां गुहायां गुह्यं शाश्वतं ब्रह्मां-शांश्यभेदाद् आत्मसामान्यं निहितं संगुप्तम् इति गीयते सा गुहा न पातालादि किं तु ब्रह्म-वृत्त्यविशिष्टां बुद्धिवृत्तिमेव कवयः पण्डिताः पश्यन्तीति। अविशिष्टता च परस्परं प्रतिबिम्ब-नादुभयोरेव विषयाकारत्वं चेतनसाम्यमित्युक्तम्, अतो विविच्य ग्रहणायोग्यतयाऽवस्थिति-रेवात्मनः संगोपनं बुद्धाविति श्लोकतात्पर्यार्थः। तदेतदेकाकारत्वमादित्यपुराणेऽप्युक्तम्—

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा बुद्धिसन्निधिसत्तया।
यथा यथा भवेद् बुद्धिरात्मा तद्वदिहेष्यते॥ इति ॥२२॥

सम्प्रति, भाष्यकार चेतन की तदाकारतापत्ति में आगमवाक्य को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं—'तथा चोक्तमिति' 'न पातालम्' इत्यादि वाक्य का अर्थ यह है—'गुहाऽऽहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' (कठोप. १/२/११) इत्यादि श्रुति-स्मृतियों के अनुसार जिस गुफा में 'गुह्य' अर्थात् ब्रह्मांशांशि के अभेद से शाश्वत आत्मसामान्य 'निहितम्' अर्थात् छिपा हुआ है, ऐसा कहा जाता है, वह गुहा कोई पातालादि (लोक) नहीं है, अपितु ब्रह्मवृत्ति से अविशिष्टभूता (अभिन्नरूपा) जो बुद्धिवृत्ति है, वही गुहा है—ऐसा 'कवि' अर्थात् पण्डितजन जानते हैं। बुद्धिवृत्ति और ब्रह्मवृत्ति की 'अवि-शिष्टता' इसे कहते हैं कि परस्पर प्रतिबिम्बन (प्रतिफलन) से दोनों तत्त्वों का ही 'विषयाकार चैतन्यसाम्य वाला होना।' इस प्रकार परस्पर मिले हुए जड-चेतन दो तत्त्वों का पार्थक्यग्रहण अत्यन्त असम्भव है, इसलिये आत्मा को बुद्धि में छिपा हुआ कहा गया है। यही श्लोक का तात्पर्यार्थ है। बुद्धि-पुरुष की एकाकारता आदित्यपुराण में भी कही गई है—'नित्यः...इष्यते' (सौर पु. ४६/२५) अर्थात् 'आत्मा नित्य और सर्वगत है, किन्तु बुद्धि के सान्निध्य से जैसी-जैसी बुद्धि होती है, वैसा-वैसा पुरुष भी हो जाता है, ऐसा कहा जाता है'॥२२॥

उक्त तथ्य के विशदीकरण के लिये वैयासिकी उपस्थानिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

### व्यासभाष्यम्

**अतश्चैतदभ्युपगम्यते—**

और इसीलिये यह स्वीकार किया जाता है—

### योगसूत्रम्

## द्रष्टृदृश्यो[1]परक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥२३॥

द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (विषय) से सम्बद्ध चित्त 'सर्वार्थ' होता है॥२३॥

### व्यासभाष्यम्

**मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तम्। [2]तत्स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणात्मीयया वृत्त्याभिसंबद्धम्। तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं [3]विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते। तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः। अपरे चित्तमात्रमेवे[4]दं सर्वं नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति। अनुकम्पनीयास्ते। कस्मात्? अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति। समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽ[5]र्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्यालम्बनीभूतत्वाद[6]न्यः। स चेदर्थश्चित्तमात्रं [7]स्यात्कथं [8]प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत। तस्मात्प्रतिबिम्बीभूतोर्थः**

---

1. उपरक्त०—इति पाठान्तरम्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—तत् उपलभ्यते, ब—तत् नोपलभ्यते।
3. क ग घ च झ त थ द ध न प फ भ म य र—विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं, ख—विषयात्मकमपि विषयात्मकमिवाचेतनं, छ ब—विषयात्मकमिवाचेतनं, ज—अविषयात्मकमपि अविषयात्मकमिवाचेतनम्।
4. छ थ—त्रिगुणात्मकं (इदं—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—त्रिगुणात्मकं नोपलभ्यते।
5. छ थ—बिम्बं चित्तं तदन्वयेन (अर्थः—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—बिम्बं चित्तं तदन्वयेन नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र—अन्यः। सः, त—तदन्यः।
7. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—स्यात्, छ थ—न स्यात्।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—प्रज्ञयैव उपलभ्यते, द—प्रज्ञयैव नोपलभ्यते।

प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति। एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात्त्रय-मप्येतज्जातितः प्रविभजन्ते [1]ते सम्यग्दर्शिनस्तैर[2]धिगतः पुरुष इति॥२३॥

चूँकि चित्त ज्ञेय पदार्थों से उपरञ्जित होता है तथा वह स्वयं भी विषय होने के कारण विषयी पुरुष के साथ अपनी वृत्ति द्वारा अभिसम्बद्ध होता है। अतः वह चित्त ही द्रष्टा और दृश्य से उपरक्त, विषय तथा विषयी रूप से भासने वाला, चेतन और अचेतन के स्वरूप को प्राप्त हुआ, विषयस्वरूप होता हुआ भी अविषय की तरह प्रतीत होने वाला, अचेतन होता हुआ भी चेतन सदृश अवभासित होने वाला तथा स्फटिक मणि की तरह (सन्निहित) सभी विषय वाला कहा जाता है। अतः चित्त की इस समानरूपता के कारण ही दिग्भ्रमित हुए कुछ (वैनाशिक) लोग उस चित्त को ही चेतन पुरुष कहते हैं। कुछ लोग (क्षणिक विज्ञानवादी) ऐसा मानते हैं कि यह सारा संसार चित्तमात्र ही है। यह जो कारणसहित गवादि, घटादि रूप संसार है, वह नहीं ही है। वे (दोनों वादी) कृपा के ही पात्र हैं। क्यों? (द्रष्टा और दृश्य) सभी के आकार से भासित होने वाला चित्त ही उनके भ्रम का कारण है। सविकल्पक समाधिप्रज्ञा में प्रतिबिम्बित होकर जो विशिष्ट ज्ञेयरूप अर्थ भासित होता है, वह चित्त से भिन्न (पुरुष या बाह्यार्थ) होता है। समाधि-प्रज्ञा में अवभासित होने वाला अर्थ यदि चित्त ही है (अर्थात् आत्मा नहीं), तो फिर प्रज्ञा (चित्त) के द्वारा प्रज्ञा (चित्त) के ही रूप का अवधारण कैसे हो सकेगा? इसीलिये समाधि-प्रज्ञा में प्रतिबिम्बित हुआ अर्थ जिसके द्वारा जाना जाता है, वह (चित्त से भिन्न) 'पुरुष' तत्त्व है। इस प्रकार ग्रहीतृस्वरूप, ग्रहणस्वरूप और ग्राह्यस्वरूप चित्त के भेद से ये तीनों पदार्थ स्वभावतः विविक्त रूप से अर्थात् प्रविभक्त होकर जिसकी समाधि-प्रज्ञा में अवभासते हैं, वे यथार्थदर्शी (तत्त्वज्ञ) कहलाते हैं और उन्हीं के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है॥२३॥

## तत्त्ववैशारदी

तदेवं दृश्यत्वेन चित्तस्य परिणामिनस्तदतिरिक्तः पुमानपरिणतिधर्मोपपादितः। संप्रति लोकप्रत्यक्षमप्यत्र प्रमाणयति—अतश्चैतदिति। अवश्यं चैतदित्यर्थः। द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्। यथा हि नीलाद्यनुरक्तं चित्तं नीलाद्यर्थं प्रत्यक्षेणैवावस्थापयत्येवं द्रष्टृच्छायापत्त्या

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—से उपलभ्यते, ज—से नोपलभ्यते।
2. त—अस्मिताख्यः ( अधिगतः—पश्चात् ) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र—अस्मिताख्यः नोपलभ्यते।

**तदनुरक्तं चित्तं द्रष्टारमपि प्रत्यक्षेणावस्थापयति। अस्ति हि [1]द्व्याकारं ज्ञानं नीलमहं [2]संवेद्मीति। तस्माज्ज्ञेयवत्तज्ज्ञातापि प्रत्यक्षसिद्धोऽपि न विविच्यावस्थापितो यथा जले चन्द्रमसो बिम्बम्। न त्वेतावता तदप्रत्यक्षम्। न चास्य जलगतत्वे तदप्रमाणमिति चन्द्ररूपेऽप्यप्रमाणं भवितुमर्हति। तस्माच्चित्तप्रतिबिम्बतया चैतन्यगोचरापि चित्तवृत्तिर्न चैतन्य[3]गोचरेति। तदिदं सर्वार्थत्वं चित्तस्येति। तदेतदाह—मनो हीति। न केवलं तदाकारापत्त्या मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं मनोऽपि तु स्वयं चेति। चकारो भिन्नक्रमः पुरुषेणेत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। तच्छायापत्तिः पुरुषस्य वृत्तिः।**

इस प्रकार (पीछे) **'दृश्य'** होने से परिणामशील चित्त से भिन्न **'पुरुष'** के अपरिणामी धर्म का उपपादन किया गया है। सम्प्रति, भाष्यकार आत्मसिद्धयर्थ लौकिक प्रत्यक्ष को भी प्रमाणरूप से प्रस्तुत करते हैं—**'अतश्चैतदिति।'** निम्नलिखित प्रमाण से भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है—**'द्रष्टृदृश्येति।'** जिस प्रकार नीलादि गुणविशिष्ट पदार्थ से उपरक्त चित्त नीलादि पदार्थ को प्रत्यक्षरूप से ही उपस्थित कराता है अर्थात् स्वोपरक्त पदार्थ का प्रत्यक्ष कराता है, उसी प्रकार (निर्मल चित्त में) पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण पुरुषप्रतिबिम्ब से अनुरक्त चित्त दृष्टा पुरुष को प्रत्यक्षरूप से ही उपस्थित कराता है। अर्थात् चित्त स्वोपरक्त पुरुष का प्रत्यक्षज्ञान कराता है। ज्ञान के दो आकार हैं। जैसे **'नीलमहं संवेद्मि'** अर्थात् 'मैं नील पदार्थ को जान रहा हूँ'—(यहाँ ज्ञान अर्थात् चित्त विषयाकार तथा विषयी के आकार से प्रतिभासित होता है। अतः नीलादि पदार्थ के समान ज्ञाता पुरुष को भी प्रत्यक्ष प्रमाण से उपस्थित कराता है)। किन्तु ज्ञेय के समान ज्ञाता भी प्रत्यक्ष-सिद्ध होता हुआ भी (घटादि के समान) चित्त से पृथक् उपस्थित नहीं कराया जा सकता है। जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र-बिम्ब को जल से पृथक् करके नहीं दिखाया जा सकता है। किन्तु इतने मात्र से पुरुष का प्रत्यक्ष नहीं होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। और न ही जल में प्रतिबिम्बित होने पर चन्द्रप्रतिबिम्ब को अप्रामाणिक कहा जा सकता है, अन्यथा चन्द्ररूप में भी अप्रमाणता आ जायेगी। इस कारण चित्त में पुरुष के प्रतिबिम्बित होने से चैतन्यविषयिणी चित्त-वृत्ति भी चैतन्यगोचर नहीं कही जाती है। (कहने का तात्पर्य यह है कि प्रति-बिम्बित चैतन्यविषयक चित्तवृत्ति होती है, न कि शुद्धचैतन्यविषयक चित्तवृत्ति बनती है)। और यही चित्त की सर्वार्थता है कि चित्त द्रष्टा और दृश्य दोनों से सम्बद्ध रहता है। इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं—**'मनो हीति।'** विषयाकारा-

1. क घ च ज झ त—**त्र्याकारम्**, ख ग छ थ द ध न—**द्व्याकारम्।**
2. क ख ग घ च झ त न—**संवेद्मि**, थ द ध—**सम्प्रत्येमि।**
3. क घ च छ ज झ त—**अगोचर०**, ख ग थ द ध न—**गोचर०।**

कारित होने से चित्त केवल ज्ञातव्य पदार्थ से ही सम्बद्ध नहीं है, अपितु वह स्वयं भी विषय होने से विषयी पुरुष के साथ अपनी वृत्ति द्वारा सम्बद्ध होता है। भाष्य में प्रयुक्त 'चकार' पद का भिन्न-क्रम है। इसे 'पुरुषेण' पद के पश्चात् पढ़ना चाहिये। पुरुष का पदार्थोपरक्त चित्त के आकार को प्रतिबिम्ब रूप से ग्रहण करना ही पुरुष की वृत्ति है।

'चैतन्यच्छायापत्ति' का उपपादन करते हुए तत्त्ववैशारदीकार आगे बतलाते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

**इयं च चैतन्यच्छायापत्तिश्चित्तस्य वैनाशिकैरभ्युपेतव्या। कथमन्यथा चित्ते चैतन्यमेत आरोपयाम्बभूवुरित्याह—तदनेनेति। केचिद्वैनाशिका बाह्यार्थवादिनः, अपरे विज्ञानमात्रवादिनः। ननु यदि चित्तमेव द्रष्ट्राकारं दृश्याकारं चानुभूयते हन्त चित्तादभिन्नावेवास्तां दृष्टृदृश्यौ। यथाहुः—**

**अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।**
**ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥**

**इति। तत्कथमेतेऽनुकम्पनीया इत्यत आह—समाधिप्रज्ञायामिति। ते खलूक्ताभिरुपपत्तिभिश्चित्तातिरिक्तं पुरुषम[1]भ्युपगम्याप्यष्टाङ्गयोगोपदेशेन समाधिप्रज्ञायामात्मगोचरायामवतार्य बोधयितव्याः।**

चित्त की यथोक्त चैतन्यच्छायापत्ति वैनाशिकों को अवश्य स्वीकार करनी चाहिये, अन्यथा ये चित्त में चैतन्य का आरोप किस प्रकार कर सकते हैं? इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं—'तदनेनेति।' इस प्रकार का चित्तसारूप्य होने से ही भ्रान्त हुए बाह्यार्थवादी वैनाशिक लोग चित्त को ही आत्मा समझते हैं। यहाँ 'केचित्' शब्द से बाह्यार्थवादी वैनाशिकों का मत लिया गया है तथा 'अपरे' शब्द से विज्ञानवादी (बाह्यार्थविरोधी) वैनाशिकों की ओर संकेत किया गया है। (योगाचार मतावलंम्बी क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध ऐसा कहते हैं कि गवादि और घटादि रूप से कारणसहित जगत् अर्थात् लोक कुछ नहीं है, जो कुछ है वह चित्तमात्र ही है)। योगाचार्य से प्रश्नात्मक शैली में विज्ञानवादी कहते हैं कि यदि चित्त ही द्रष्टाकार और दृश्याकार दोनों रूप से अनुभूत हो रहा है तो द्रष्टा और दृश्य दोनों चित्त से अभिन्न ही हैं। अर्थात् चित्तातिरिक्त (विज्ञानातिरिक्त) द्रष्टा और दृश्य कुछ नहीं हैं। जैसा कि कहा गया है—'अभिन्नोऽपि....लक्ष्यते' अर्थात् 'यद्यपि बुद्ध्यात्मा अविभक्त है अर्थात् एक ही है, तथापि भ्रम से भरी आँखों के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि

---

1. क ग घ च ज झ थ द ध न—अभ्युपगम्यापि, ख—अभ्युपगमस्य, छ—अभ्युपगमय्य अपि, त—अभ्युपगमय्य।

ग्राह्य और ग्राहक का चेतना अर्थात् ज्ञान से भेद बना हुआ है।' स्पष्टार्थ यह है कि बुद्धि एक है, पर अनादि भेदवासना से उसमें तीन भेद ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान— अवभासित होते हैं। वस्तुतस्तु बुद्धि को अपने से अतिरिक्त कोई दूसरा ग्राह्य नहीं रहता है। अतः उन विषयों के स्वरूप में रहने वाली वह बुद्धि स्वयं ही, प्रकाश की तरह, अपने रूप को प्रकाशित करने वाली है—यह पूर्वपक्ष है। किन्तु योगाचार्य व्यासदेव के अनुसार विज्ञानवादी बौद्ध कृपा के पात्र हैं। किस असंगतिपूर्ण कथन के कारण ये वैनाशिक दया के पात्र हैं, इसे भाष्यकार बतलाते हैं—'समाधिप्रज्ञायामिति।' ऊपर कही गई युक्तियों के द्वारा चित्त से भिन्न आत्मा को अङ्गीकृत कराकर भी इन वैनाशिक बौद्ध लोगों को अष्टाङ्गयोग के उपदेश द्वारा आत्मविषयक समाधि-प्रज्ञा में आरूढ कराके ही अब समझाया जा सकता है। अर्थात् जब ये समाधिप्रज्ञा में आत्मतत्त्व का प्रत्यक्षज्ञान कर लेंगे तभी इनका चित्ताभिन्न आत्मसम्बन्धी संशय निवृत्त हो सकेगा, अन्यथा अरण्यरोदनमात्र है।

तत्त्ववैशारदीकार चित्तातिरिक्त 'आत्मतत्त्व' सम्बन्धी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए आगे कहते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

**तद्यथा—समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थ आत्मा प्रतिबिम्बीभूतोऽन्यः। कस्मात्? तस्यात्मन आलम्बनीभूतत्वात्। अथ चित्तादभिन्नमेव कस्मान्नालम्बनं भवतीति यदि युक्तिबोधितोऽपि [1]वैजात्याद्ब्रदेत्तत्र हेतुमाह—[2]स चेदिति। स चेदात्मरूपोऽर्थश्चित्तमात्रं स्यान्न तु ततो व्यतिरिक्तस्ततः कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। उपसंहरति—तस्मादिति। समीचीनोपदेशेनानुकम्पिता भवन्तीत्याह—एवमिति। जातितः स्वभावत इत्यर्थः॥२३॥**

स्पष्टीकरण के लिये—(सविकल्प) समाधिप्रज्ञा में जो प्रज्ञेय तत्त्व है, वह प्रति-बिम्बीभूत आत्मतत्त्व चित्त से भिन्न अर्थात् अत्यन्त पृथक् है। शब्दान्तर में समाधिप्रज्ञा में प्रतिबिम्बरूप से जो ज्ञेयरूप अर्थ भासित होता है, वह चित्त से भिन्न आत्मा है।

**शङ्का**—किस कारण से प्रतिबिम्बीभूत अर्थ 'चित्त' से भिन्न 'आत्मा' है?

**समाधान**—क्योंकि आत्मा चित्त का आलम्बनीभूत होता है। अर्थात् चित्त आत्मा को अपने ज्ञान का विषय बनाता है, इसलिये समाधिप्रज्ञा में प्रज्ञेय अर्थ चित्त से भिन्न आत्मा है। इस प्रकार युक्तिपूर्वक समझाने पर भी धृष्टतापूर्वक यदि वैनाशिक यह

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ—वैयात्यात्, द ध न—वैजात्यात्।
2. थ द ध—स चेदिति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—स चेदिति नोपलभ्यते।

कहे कि चित्त से अभिन्न होकर ही आत्मा प्रज्ञा का आलम्बन क्यों नहीं होता है? तो इस पर भाष्यकार का कहना है—'स चेदिति।' यदि वह आत्मरूप पदार्थ चित्तमात्र ही हो, चित्त से भिन्न तत्त्व न हो तो फिर प्रज्ञा से ही प्रज्ञा रूप का किस प्रकार अवधारण किया जा सकेगा? क्योंकि अपने से अपने को जानने में वृत्तिविरोध होता है। अर्थात् आत्माश्रयदोष होने से वह प्रज्ञा (चित्त) अपने से अपना आधार कैसे हो सकती है? भाष्यकार विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं—'तस्मादिति।' इसलिये पूर्वोक्त समाधिप्रज्ञा में प्रतिबिम्बीभूत जो ध्येय रूप अर्थ है, वह जिससे जाना जाता है वही चित्त से भिन्न आत्मा है, यह सिद्ध हुआ। किस प्रकार के उपयुक्त उपदेश से ये समझाये जा सकते हैं, इसे भाष्यकार बतलाते हैं—'एवमिति।' भाष्य में प्रयुक्त 'जातितः' पद का अर्थ है—स्वभावतः। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ यह है—इस प्रकार ग्रहीतृस्वरूप, ग्रहणस्वरूप और ग्राह्यस्वरूप चित्त के भेद से ये तीनों पदार्थ भी स्वभाव से ही जिनके ज्ञान से भिन्न-भिन्न रूप से भासते हैं, वे यथार्थदर्शी हैं और उन्हीं से आत्मतत्त्व यथार्थरूप से अधिगत होता है। अर्थात् तदतिरिक्त अवधारणा रखने वालों को अज्ञानी ही कहा जा सकता है॥२३॥

**बालप्रिया—**

**'सर्वार्थम्'**—मन केवल मन्तव्य पदार्थ से ही उपरक्त नहीं होता है, अपितु विषयी पुरुष के साथ पुरुषाकारवृत्ति के रूप से स्वतः सम्बद्ध भी होता है। अतः इस प्रकार का चित्त द्रष्टृदृश्योपरक्त होता हुआ **'सर्वार्थ'** कहा जाता है।

**'स्फटिकमणिकल्पम्'**—जिस प्रकार स्फटिकमणि रक्तिम जपाकुसुम और इन्द्रनील-मणि इन पार्श्वद्वय मणियों का प्रतिबिम्ब पड़ने से और अपने श्वेतरूप के साथ तीन रूप का प्रतीत होता है, उसी प्रकार चित्त भी अपने में विषय और आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्यात्मक रूपावयव के समान प्रतीत होता है, इसलिये भी चित्त को 'सर्वार्थ' कहते हैं।

**'द्वयाकारं ज्ञानम्'**—**'नीलमहं सम्प्रत्येमि'** इस उदाहरण में ज्ञान द्वयाकार अर्थात् विषय-विषयी का निर्भास अर्थात् प्रकाश करने वाला होता है। अतः ज्ञान नीलादि बाह्य पदार्थ की भाँति ज्ञाता का भी प्रत्यक्ष रूप से निश्चय कराता है। अतः चित्ता-तिरिक्त आत्मतत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता है।

**'लोकः'**—**'लोक्यतेऽसौ लोकः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसे देखा जाता है, उसे **'लोक'** कहते हैं। अतः 'लोक' शब्द का अर्थ है—विषय।

**'भ्रान्तिबीजम्'**—चित्त सर्वरूपाकार से भासित होता है। अतः चित्त का यह सर्वार्थ-निर्भासकत्व ही वैनाशिकों द्वारा चित्त को आत्मा मानने का भ्रान्तिबीज कहा गया है।

'जातितः'— ग्रहीत्रादित्रय को परस्पर विविक्त (विजातीय) रूप से जो जानते हैं, वे ही 'सम्यग्दर्शी' कहे जाते हैं। और उन्हीं को आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। इससे भिन्न अवधारणा के पोषक दार्शनिक पुरुषार्थभ्रष्ट अर्थात् भ्रान्त ही कहे जाते हैं॥२३॥

### योगवार्त्तिकम्

ननु भवतु चितेः स्वबुद्धिसंवेदनम्, शब्दादिसंवेदनं तु कथं भवेत्, बुद्धिवच्छब्दादीनामपि चितौ प्रतिबिम्बनसामर्थ्याङ्गीकारे सर्वदैव सर्वार्थभानप्रसङ्गात्, कथं वा चितेः स्वसंवेदनम्, उक्ता ह्यनवस्था चित्तवत् पुरुषेऽपि समानेत्याशङ्कानिरासायोत्तरसूत्रं प्रवर्त्तिष्यते, तत्सूत्रं भाष्यकारः प्रकारान्तरेणाप्युत्थापयति—अतश्चेति। अतो बुद्धिपुरुषयोर्वेद्यवेत्तृभावाच्च तदन्यथाऽनुपपत्तेश्चेति यावत्, एतद् आगामिसूत्रप्रतिपाद्यम् अङ्गीक्रियत इत्यर्थः। चकारोऽस्मदुक्तप्रयोजनसमुच्चयार्थः। द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्। सर्वे ग्रहीतृग्रहणग्राह्याः पुरुषस्यार्था भोग्या अस्मिन्निति सर्वार्थम्, अयं घट इत्यनन्तरं घटमहं जानामीति बुद्धेर्वृत्त्यन्तरस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्याकारस्यायं घट इतिवृत्तिवदेव साक्षिभास्यस्य प्रायशो दर्शनात्। सर्वार्थत्वे हेतुः— द्रष्टृदृश्योपरक्तमिति। द्रष्टृदृश्योभयाकारमित्यर्थः। बाधकं विना सन्निकृष्टवस्त्वाकारतास्वाभाव्यस्य चित्ते सर्वसंमतत्वादिति भावः। तथा च बुद्धिसंवेदनमेव बुद्धिस्थस्य शब्दादेः स्वस्य च संवेदनं यद्धि शब्दादिपुरुषोभयाकारा बुद्धिवृत्तिः पुरुषे प्रतिबिम्बिता भासते। इदमेव शब्दादेः पुरुषस्य च दृश्यत्वं बुद्धेर्दृश्यत्ववदित्यतो न पुरुषदर्शनार्थं द्रष्ट्रन्तरापेक्षा नापि कर्मकर्तृविरोधोऽन्तःकरणद्वारत्वादिति भावः। एतेन सर्वार्थत्वेन भाष्यकारोक्तं बुद्धिपुरुषयोरविशिष्टाकारत्वमपि सिद्धम्, बुद्धेः पुरुषाकारताऽतिरेकेण पुरुषवत्त्वासंभवात्, पुरुषस्य बुद्ध्याकारतायाश्च पूर्वसूत्रेणैवोक्तत्वादिति।

शङ्का—भले ही चिति का स्वबुद्धिसंवेदन मान लिया जाय किन्तु उसका शब्दादिसंवेदन कैसे उपपन्न हो सकता है? अर्थात् अपने में प्रतिबिम्बित बुद्धि तत्त्व को भले ही पुरुष जान ले, किन्तु बाह्यस्थ शब्दादि विषय का ज्ञान पुरुष को नहीं हो सकता है। किञ्च बुद्धितत्त्व की भाँति शब्दादि विषयों में भी चितिशक्ति के प्रतिफलन (प्रतिबिम्बन) के सामर्थ्य को स्वीकार करने पर व्यापक पुरुष को (विषय का प्रतिबिम्ब पड़ते रहने से) सर्वदा सभी पदार्थों के ज्ञान (भान) होने का प्रसंग आयेगा। अथवा चितिशक्ति को 'स्वसंवेदन' अर्थात् स्वयं अपना भान (ज्ञान) कैसे होगा? यदि (चित्त से चित्तान्तर-ग्रहण की भाँति) एक पुरुष का ज्ञान अपर पुरुष को होगा—इस विधा को स्वीकार किया जाय तो चित्त-ग्रहण की भाँति पुरुष-ग्रहण में भी पूर्वोल्लिखित अनवस्थादोष समान रहेगा?

समाधान—उक्त शंका के निराकरणार्थ उत्तर-सूत्र प्रवृत्त होगा। उसी आगामी सूत्र को भाष्यकार प्रकारान्तर से उठाते हैं—'अतश्चेति।' 'अतः' अर्थात् बुद्धि-पुरुष में वेद्य-वेदक-

भावसम्बन्ध रहने से तथा अन्य किसी भी विधा से उनका भोक्तृभोग्यभावसम्बन्ध निष्पन्न न हो सकने से आगामी सूत्र में उपपादित तथ्य को स्वीकार किया जाता है। भाष्यगत **'चकार'** शब्द हमारे द्वारा उक्त प्रयोजन के संग्रहार्थ है। सूत्र इस प्रकार है— **'द्रष्टृदृश्येति।'** वार्तिककार सूत्रगत **'सर्वार्थम्'** पद का बहुव्रीहिपरक विग्रह करते हैं—**'सर्वे ग्रहीतृग्रहणग्राह्याः पुरुषस्यार्था भोग्या अस्मिन् इति सर्वार्थम्'** अर्थात् 'जिसमें ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्यरूप समस्त अर्थ पुरुष के भोग्यरूप हैं वह **'सर्वार्थ'** कहलाता है। क्योंकि **'अयं घटः'** अर्थात् 'यह घट है'—इत्याकारक वृत्ति के अनन्तर **'घटमहं जानामि'** अर्थात् 'मैं घट को जानता हूँ' इत्याकारक ग्रहीतृग्रहणग्राह्याकार अन्य बुद्धिवृत्ति **'अयं घटः'** वृत्ति के समान ही साक्षिभास्य प्रायः देखी जाती है। अर्थात् ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य ये तीनों साक्षिपुरुष के भोग्य हैं। सर्वार्थता में हेतु है—**'द्रष्टृदृश्योपरक्तमिति।'** द्रष्टृदृश्योभयाकारता को **'द्रष्टृदृश्योपरक्त'** कहते हैं। यह सर्वमान्य है कि किसी प्रकार का गतिरोध आये विना यह चित्त सन्निकृष्ट वस्तु के आकार से आकारित होने के स्वभाव वाला है। इस प्रकार **'बुद्धिसंवेदन'** पद का अर्थ है—बुद्धिस्थ 'शब्दादिविषय' तथा 'स्व' का ज्ञान होना, क्योंकि शब्दादिपुरुषोभयाकारा बुद्धिवृत्ति पुरुष में प्रतिबिम्बित होती हुई अवभासित होती है। यही बुद्धि के **'दृश्यत्व'** की भाँति शब्दादि और पुरुष का भी 'दृश्यत्व' है। अतः पुरुषदर्शनार्थ (पुरुष को स्वयं अपने ज्ञान के लिये) अपर द्रष्टा पुरुष की अपेक्षा नहीं है और इससे एक ही पुरुष में कर्तृत्व और कर्मत्व को लेकर अन्तर्विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि अन्तःकरण मध्यवर्ती व्यापार का काम करता है। इससे 'सर्वार्थ' पद के द्वारा भाष्यकाराभिमत बुद्धि-पुरुष का अविशिष्टाकारत्व (अभिन्नाकारत्व) भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि पुरुषाकारता के अतिरिक्त बुद्धि का पुरुषवत्त्व (चेतनत्व) सम्भव नहीं होता है तथा पुरुष की बुद्ध्याकारता तो विगत सूत्र के द्वारा पहले ही बतलाई जा चुकी है।

## योगवार्त्तिकम्

**वेद्यत्वान्यथाऽनुपपत्त्या यः सिध्यति तं बुद्धौ पुरुषोपरागं प्रतिपादयन्समग्रसूत्रं व्याचष्टे— मनो हीति।** उपरक्तं तदाकारम्, अन्यथा ग्रहणानुपपत्तेः। युक्तिपूर्वकं द्रष्टुपरागमाह— [1]यत्स्वयं चेति। तन्मनः स्वयमपि पुरुषस्य विषयत्वात् स्वीयचैतन्यलक्षणवृत्तिविशिष्टेन पुरुषेण विषयिणा सम्बद्धम् आकारितं सन्निकर्षस्य ग्रहणहेतुत्वात्, बुद्धिवृत्तौ च पुरुषस्यासङ्गस्य प्रतिबिम्बातिरेकेणानित्यसन्निकर्षासम्भवादिति। तस्मादेतच्चित्तमेवोभयोपरक्ततया शब्दादिविषयरूपेण विषयिपुरुषरूपेण च निर्भासते। साक्षिणि प्रतिबिम्बितं सदिति। विषय-विषयिनिर्भासम्। तत्र हेतुः—चेतनाचेतनरूपापन्नं तदाकारम्। एतदेव विवृणोति—

1. क च छ—यत्, ख ग घ—सत्।

**विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवेति। अचेतनमपि चेतनमिवेति। इवशब्दार्थं दृष्टान्तेनाह—स्फटिकमणिकल्पमिति। यथा एक एव स्फटिकमणिः पार्श्वद्वयस्थयोर्जपेन्द्रनीलयोः प्रतिबिम्बनात्स्वीय रूपेण सह त्रिरूप इव भवतीति, एवं चित्तमपि विषयात्मनोः प्रतिबिम्बनात् ग्रहीतृग्रहणग्राह्यात्मकरूपा[1]वयववदिव भवति, अतः सर्वार्थमित्युच्यत इत्यर्थः। चित्तमेवेत्येवकारेणान्येषां सन्निकर्षसत्त्वेऽप्याकारग्रहणसामर्थ्यं नास्तीत्युक्तम्। अत्र च स्फटिकदृष्टान्तो न सर्वांशे, बुद्धेः स्वार्थाकारपरिणामस्यैव [2]स्वप्नानुरोधेनेष्टत्वात्, स्फटिके च प्रतिबिम्बमात्रस्य स्वीकारात्, किं तु तत्तद्वस्तुसन्निकर्षेण तत्तद्रूपतया प्रतीयमानतामात्रांशे स्फटिकस्य दृष्टान्त इति मन्तव्यम्।**

वेद्यत्व की अन्यथानुपपत्ति से जो सिद्ध होता है, उसे बुद्धि में पुरुषोपरागरूप से प्रतिपादित करते हुए भाष्यकार सम्पूर्ण सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'मनो हीति'**। 'उपरक्त' शब्द का अर्थ 'तदाकार' है। अन्यथा मन द्वारा मन्तव्य अर्थ का ग्रहण (ज्ञान) उपपन्न नहीं हो सकता है। अब युक्तिपूर्वक द्रष्टा के 'उपराग' को भाष्यकार बतलाते हैं—**'तत्स्वयं चेति'**। यह मन स्वयं भी पुरुष का विषय बनता है, इसलिये स्वीय (अपनी) चैतन्याकारावृत्ति से विशिष्ट होकर विषयी पुरुष के साथ 'सम्बद्ध' अर्थात् आकारित होता है, क्योंकि सन्निकर्ष ही ज्ञान का हेतु होता है। और बुद्धिवृत्ति में असङ्ग पुरुष की विषयाकारता प्रतिबिम्बरूप सन्निकर्ष से ही होती है, क्योंकि प्रतिबिम्बातिरिक्त किसी प्रकार का अनित्य सन्निकर्ष (पुरुष का बुद्धि के साथ) सम्भव नहीं है। इस प्रकार प्रतिबिम्बरूप सन्निकर्ष से ही पुरुष बुद्धि का विषय बनता है। इससे यह सिद्धान्तित होता है कि यह चित्त ही शब्दादिविषयरूप तथा विषयिपुरुषरूप उभयाकारता से निर्भासित होता है। इस प्रकार साक्षिपुरुष में प्रतिबिम्बित होता हुआ चित्त विषय-विषयी का निर्भासक होता है अर्थात् साक्षी में प्रतिबिम्बित होना विषय-विषयिनिर्भास है। इसमें हेतु है—**'चेतनाचेतनरूपापन्नम्'** अर्थात् चित्त का चेतनाचेतनरूपाकार वाला होना। इसी को भाष्यकार खोलते हैं—**'विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवेति'** **'अचेतनमपि चेतनमिवेति'** अर्थात् विषय होता हुआ भी चित्त अविषयात्मता (विषयिता) को प्राप्त सा दिखलाई पड़ता है तथा अचेतन होता हुआ भी लब्धचैतन्य सदृश प्रतीत होता है। भाष्यकार **'इव'** शब्द के अर्थ (अभिप्राय) को दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं—**'स्फटिकमणिकल्पमिति'**। जिस प्रकार एक ही स्फटिकमणि पार्श्वद्वय में स्थित जपाकुसुम तथा इन्द्रनीलमणि की प्रतिच्छाया (प्रतिच्छवि) के कारण अपने स्वकीयरूप के साथ त्रिरूपता की भाँति हो जाती है उसी प्रकार चित्त भी शब्दादि विषय और विषयी आत्मा की प्रतिच्छाया से ग्रहीतृ,

---

1. क ख—त्रय०, च छ—अवयव०, उपलभ्यते, ग घ—त्रय०/अवयव०, नोपलभ्यते।
2. क घ च छ—स्वप्न०, ख—स्वप्नादि०, ग—स्वप्नार्थ०।

ग्रहण तथा ग्राह्यरूप त्रिरूपता को प्राप्त होता है। अतः चित्त को 'सर्वार्थ' कहते हैं। भाष्य में 'चित्तमेव' में 'एव' शब्द के प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि अन्य पदार्थों का एक दूसरे के साथ सन्निकर्ष बना रहने पर भी उनमें आकारग्रहण की शक्ति निहित नहीं है। अर्थात् ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्याकारावभास चित्त का ही होता है। यहाँ चित्त की तत्तद्रूपता में जो स्फटिक का दृष्टान्त उपन्यस्त हुआ है, वह दार्ष्टान्त के साथ सभी पक्षों में उपमित नहीं होता है। अर्थात् दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त में सर्वथा एकरूपता नहीं है, क्योंकि स्वप्नादि के अनुरोध से बुद्धि का तो विषयाकारपरिणाम ही हमें स्वीकृत है, जब कि स्फटिक में समीपस्थ विषय का प्रतिबिम्ब ही पड़ता है। यह दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की विरूपता हुई। दृष्टान्तभूत चित्त की दार्ष्टान्तभूत स्फटिक के साथ सरूपता इस अंश में है कि तत्तद् वस्तुओं के सन्निकर्ष से तत्तद्रूपता के रूप से 'प्रतीयमानता' दोनों में तुल्य है। भाव यह है कि जिस प्रकार प्रतिबिम्बोद्ग्राही स्वच्छ स्फटिकमणि अपने में प्रतिफलित वस्तु के वर्ण-रूप सदृश भासित होती है उसी प्रकार सत्त्वगुणप्रधान स्वच्छ चित्त भी अपने में प्रतिसंक्रान्त विषय-विषयी के प्रतिबिम्ब से तद्रूप प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रातिबिम्बिक सरूपता दृष्टान्तरूप स्फटिक और दार्ष्टान्तरूप चित्त में प्रतीत होती है। (अतः द्रष्टा और दृश्य का पार्थक्य सुस्पष्ट है)।

सम्प्रति, चित्त की 'द्रष्टृदृश्योभयरूपता' किस भ्रान्ति का मूल है, इसे पूर्वपक्षोत्तर-पक्ष की शैली से विशदीकृत किया जा रहा है—

### योगवार्त्तिकम्

यदेतदुक्तं चित्तस्य द्रष्टृदृश्यसारूप्यम् इदमेव भवबीजाविवेकस्य कारणमिति प्रतिपादयति—तदनेनेति। केचिद्बाह्यार्थवादिनः चित्तातिरिक्तचेतनानभ्युपगन्तारो वैनाशिकाः। अपरे विज्ञानवादिनः। लोक्यत इति लोकः। तदुक्तं विज्ञानवादिभिः—

अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥ इति।

तेषां च वादिनामयं भावः—चित्तस्य चेतनरूपता स्वीकृता तद्वलं पुरुषेण, बाह्यार्थेन वाऽनादिवासनावशात् स्वत एव चित्तस्यानन्तपरिणामस्वीकारसम्भवात्, दुग्धस्य दधिरूपतावदिति। अनुकम्पामुखेन तेषु समाधानमाह—अस्ति हीति—इत्यन्तम्। बीजमित्यर्थः।

चित्त का यह जो द्रष्टृदृश्यसारूप्य वर्णित (अभिहित) हुआ है, वही संसार के हेतुभूत अविवेक (अज्ञानता) का कारण है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—'तदनेनेति।' पूर्वपक्ष—'चित्तसारूप्य' से भ्रान्त हुए 'केचित्'=बाह्यार्थवादी वैनाशिकजन चित्त से अतिरिक्त चेतन पुरुष को स्वीकार ही नहीं करते हैं। 'अपरे'=विज्ञानवादी वैनाशिक-

जन 'सम्पूर्ण प्रपञ्च चित्तमात्र से अतिरिक्त कुछ नहीं है', ऐसा कहते हैं। **'लोक्यत इति लोकः'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो दिखलाई पड़ता है, उसे 'लोक' कहते हैं। प्रकृत में घट, पटादि विषय को 'लोक' शब्द से व्यवहृत किया गया है। विज्ञान- वादियों ने कहा है—**'अभिन्नोऽपि....लक्ष्यते'** अर्थात् 'यद्यपि विज्ञानरूप आत्मा अभिन्न (अविभक्त) है, एक है तथापि भ्रमज्ञान में वह ग्राह्य-ग्राहक-संवित्ति-भेद वाला प्रतीत होता है।' इन पूर्ववादियों का तात्पर्य यह है—जब चित्त की सर्वरूपता (सर्वार्थता) स्वीकार कर ली गई, तब पुरुषतत्त्व की स्वीकृति का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। क्योंकि अनादि वासना से वशीभूत चित्त का बाह्यार्थ (घट, पटादि) के रूप से अनन्त परिणाम उसी प्रकार स्वीकार किया जा सकता है, जिस प्रकार दुग्ध का दधिरूपत्व (सर्वमान्य है)।

**उत्तरपक्ष**—भाष्यकार अनुकम्पामुख से (बालवाणी के तिरस्काररूप से) वैनाशिकों को उत्तर देते हैं—**'अस्ति हीति—इत्यन्तम्'**। चित्त की सर्वरूपाकारता की भ्रान्तिपूर्ण प्रतीति ही वैनाशिकों के चित्तात्मवाद की उत्पत्ति का स्रोत है।

इसी प्रसंग में वार्त्तिककार 'आधुनिक वेदान्ती' मत का भी खण्डन करते हुए योगमत को स्पष्ट करते हैं—

### योगवार्त्तिकम्

**एतेन यदाधुनिका वेदान्तिब्रुवा आहुः—विषयदोषात् करणदोषाद्वा चैतन्ये भ्रमो न भवति, [1]विषयकरणदोषयोर्भ्रममात्रकल्पितत्वेन भ्रमात्पूर्वं तयोरभावात्, अपि त्वनिर्वचनीयाविद्यामात्रादिति, तद्धेयम्—चैतन्येऽपि चित्तवदेव सकलवस्तुप्रतिबिम्बेन सारूप्यस्यैव विषयगतदोषस्य प्रपञ्चारोपहेतुतालाभात्, सर्ववस्तूनां भ्रममात्रकल्पितत्वस्य चासिद्धेः, शुक्तिरजतादिस्थले क्लृप्तेन सारूप्यदोषेणैवाध्यासोपपत्तावध्यासहेतुतया तदभिप्रेतानाद्यविद्यायां कल्पनानवकाशाच्चेति।**

इससे, आधुनिक वेदान्ती लोग इस सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं वह भी हेय (उपेक्षणीय) है।

**पूर्वपक्ष**—आधुनिक वेदान्तियों का कहना है कि विषयगतदोष अथवा करणगतदोष के कारण 'चैतन्य' के विषय में भ्रम नहीं होता है, क्योंकि विषयगतदोष और करणगतदोष दोनों भ्रममात्र से कल्पित अर्थात् आविर्भूत होते हैं। अतः भ्रम से पूर्व करणगतदोष तथा विषयगतदोष का अभाव रहता है। अर्थात् कारण से पूर्व कार्य का होना नहीं पाया जाता है। अतः यह मानना चाहिये कि **'अनिर्वचनीय अविद्या'** के ही कारण चैतन्य में भ्रम होता है।

---

1. क घ—विषयदोषयोः, ख—विषयकरणयोः, ग च छ—विषयकरणदोषयोः।

उत्तरपक्ष—उपरिवर्णित पूर्वपक्ष हेय है, क्योंकि चैतन्य में भी चित्त की भाँति सकल पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ने से होने वाली विषयगतदोषविषयिणी सरूपता प्रपञ्चारोप का कारण (हेतु) नहीं बन सकती है तथा सभी वस्तुओं की भ्रममात्र से निष्पत्ति मानना भी सिद्ध नहीं होता है। किञ्च शुक्ति में होने वाले रजतविषयक भ्रमज्ञान के स्थल में स्वीकृत (क्लृप्त) चाक्चक्यादि सारूप्यदोष के कारण ही शुक्ति में रजताध्यास उपपन्न हो जाता है। अतः इस अध्यास के हेतुरूप से पूर्वपक्षाभिप्रेत अनादि अविद्या की कल्पना करने का अवकाश ही नहीं रह जाता है। यह वार्तिककार की ओर से आधुनिक वेदान्तिब्रुवों के लिये प्रासंगिक समाधानपक्ष है।

सम्प्रति, वार्तिककार विज्ञानवादियों के मत का खण्डन करने के लिये व्यासभाष्य को उठाते हैं—

### योगवार्तिकम्

तत्रादौ [1]विज्ञानवादिनं बोधयति—समाधीत्यादिना रूपमवधार्यत इत्यन्तेन। भ्रमस्थले ज्ञेयार्थस्य चित्तमात्रताया अस्माभिरप्यभ्युपगमात्। समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेय इत्युक्तमर्थस्य सत्यत्वलाभाय। तथा चायमर्थः—विवादगोचरोऽर्थश्चित्ते प्रतिबिम्बितो योऽनुभूयते स तस्य चित्तस्यालम्बनीभूतत्वाच्चित्तादन्यः। तत्र हेतुः—स चेदेति। स चेदर्थश्चित्ताकारमात्रं स्यात् कथं तर्हि प्रज्ञयैव प्रज्ञाऽऽकारो गृह्येत, कर्मकर्तृविरोधात् पुरुषस्यानङ्गीकारात्, [2]पुरुषप्रज्ञया पुरुषसिद्धिरर्थप्रज्ञयाऽर्थस्यापि सिद्ध्यौचित्यादिति। अतो विज्ञानातिरिक्तो विज्ञेयोऽर्थः सिद्धः।

भाष्यकार सर्वप्रथम विज्ञानवादियों को समझाते हैं—'समाधीत्यादिना रूपमवधार्यत इत्यन्तेन।' भ्रमादिस्थल में ज्ञेय पदार्थ चित्तमात्र से कल्पित होता है, ऐसा हम योगाचार्यों को भी मान्य है, किन्तु तदतिरिक्त स्थल में पदार्थ को चित्तमात्रकल्पित नहीं कहा जा सकता है। इसे ही भाष्यकार स्पष्ट कर रहे हैं—'समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेय इति।' पदार्थ की वास्तविक सत्ता बतलाने के लिये भाष्यकार ने समाधिप्रज्ञा में ज्ञात होने वाले 'अर्थ' अर्थात् पदार्थ का यहाँ ग्रहण किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि विवाद का विषयीभूत पदार्थ चित्त में प्रतिबिम्बित होता हुआ समाधिप्रज्ञा में जिस रूप से अनुभूत होता है, वह चित्त का आलम्बन (विषय) बनने के कारण चित्त से 'अन्य' अर्थात् सर्वथा भिन्न होता है। इसमें कारण यह है—'स चेदिति।' यदि इस अर्थ (विषय) को चित्ताकारमात्र ही माना जाय तो फिर कैसे प्रज्ञारूप चित्त से ही

---

1. क ख घ च छ—विज्ञानवादिनं, ग—विज्ञानवादिनौ।
2. क ग घ च छ—पुरुषप्रज्ञया पुरुषसिद्धिरर्थप्रज्ञयाऽर्थस्यापि सिद्ध्यौचित्यादिति, ख—पुरुषस्वीकारे च पुरुषप्रज्ञया पुरुषसिद्धिवत् प्रत्यभिज्ञादिमूलकार्यप्रज्ञया अर्थस्यापि सिद्ध्यौचित्यात्, शुक्तिरजतादेस्तु बाधाच्च सिद्धिरिति।

प्रज्ञारूप विषय का आकार गृहीत होगा, क्योंकि पुरुष को स्वीकार न करने से कर्म-कर्तृविरोध होगा। अतः पुरुषज्ञान से पुरुषतत्त्व की सिद्धि तथा अर्थज्ञान से अर्थ (विषय) की भी सिद्धि मानना उचित है। अतः यह सिद्ध होता है कि विज्ञान से भिन्न ज्ञेय पदार्थ है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार **'बाह्यार्थवादी'** बौद्धों के मत का खण्डन करने के लिये आगे के भाष्य को उठाते हैं–

**योगवार्त्तिकम्**

**अनयैव युक्त्या पुरुषानभ्युपगन्तारं बाह्यार्थवादिनमपि बोधयति–तस्मादिति। तस्मात्प्रज्ञारूपस्य प्रज्ञाग्राह्यत्वाभावादेव प्रज्ञायां प्रतिबिम्बीभूतः प्रतिबिम्बरूपेण जातोऽर्थो ज्ञानाकारो येन गृह्यते स पुरुष इत्यपि सिद्धमित्यर्थः। ननु [1]स्वमगृहीत्वैव स्वस्य प्रज्ञारूपं गृह्णातु, आकाशाग्रहणेऽपि शब्दवदिति चेत्? न; शब्दवत्केवलस्याकारस्याग्रहणात्, अयं घट इति ज्ञानमभूदित्यादिरूपेण रूपादिवद्धर्मिपुरस्कारेणैवाकारानुभवादिति। ननु कर्मकर्तृविरोधः सूत्रकारेणैवोक्तो न स्वाभासमित्यनेनातो भाष्यकारस्य पौनरुक्त्यमिति? मैवम्–[2]तत्र चित्तस्य चित्तग्राह्यत्वं निराकृतमत्र चित्ताकारस्य चित्तग्राह्यत्वं निराक्रियत इति विशेषादिति।**

भाष्यकार उपरिनिर्दिष्ट युक्ति (तर्क) से ही पुरुष को स्वीकार न करने वाले बाह्यार्थवादी वैनाशिकजन को समझाते हैं–**'तस्मादिति।'** प्रज्ञा से ही प्रज्ञा का ग्रहण न होने से ही समाधिप्रज्ञा में **'प्रतिबिम्बीभूत'** अर्थात् प्रतिबिम्बरूप से उत्पन्न ज्ञानाकार पदार्थ जिसके द्वारा गृहीत होता है, वही (चित्त से भिन्न) पुरुष है, यह भी सिद्ध हो जाता है।

**शङ्का**–अपने आप को ग्रहण न करके भी विज्ञानरूप चित्त अपने प्रज्ञारूप का ग्रहण करे जैसे आकाश का ग्रहण (ज्ञान) न होने पर भी आकाश के विशेष गुण शब्द का ज्ञान (श्रवणज्ञान) होता है। अतः चित्तातिरिक्त पुरुषकल्पना व्यर्थ है।

**समाधान**–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि शब्द की तरह केवल विषय के आकार का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि **'अयं घट इति ज्ञानमभूत्'** अर्थात् 'यह घट है, ऐसा ज्ञान हुआ'–इत्यादि रूप वाला ज्ञान, रूपादि की तरह, धर्मी से समन्वागत होकर ही विषय के आकार को ग्रहण करता है।

**शङ्का**–'न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्' (४/१९) सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने चित्त को ही स्वाभासक और परभासक मानने पर आने वाले कर्मकर्तृविरोध को बतला दिया है, अब भाष्यकार द्वारा पुनः उसी बात का उपपादन पुनरुक्तिदोषयुक्त है?

---

1. क ग घ च छ–स्वमगृहीत्वा, ख–स्वयं गृहीत्वा।
2. क ग घ च छ–तत्र चित्तस्य चित्तग्राह्यत्वं निराकृतमत्र चित्ताकारस्य चित्तग्राह्यत्वं निराक्रियत इति विशेषादिति, ख–अत्र प्रकरणार्थस्योपसंहाररूपत्वेनावैयर्थ्यादिति।

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि विगत सूत्र में चित्त की चित्तग्राह्यता (चित्त के द्वारा चित्त के ग्रहण) का खण्डन किया गया है और यहाँ (प्रकृत सूत्र में) चित्ताकार की चित्तग्राह्यता (चित्ताकार द्वारा चित्त के ग्रहण) का निराकरण किया जा रहा है, यही दोनों में अन्तर है। अतः उत्तरपक्षी पर लगाया हुआ पुनरुक्तिदोष का आरोप निरस्त हो जाता है।

भाष्य को उपसंहृत करते हुए वार्त्तिककार आगे कहते हैं—

### योगवार्त्तिकम्

पुरुषचित्ततदर्थानां यथोक्तप्रकारैर्विवेकज्ञानमेव तत्त्वज्ञानमिति वेदान्तोक्तोपासनादिव्यावृत्त्यर्थं नास्तिकादिज्ञाननिरसनार्थं चावधारयति—एवं ग्रहीत्रिति। ग्रहीत्रादित्रितयं परस्परविजातीयतया ये विभजन्ति विवेचयन्ति त एव सम्यग्दर्शिनः, तैरेव पुरुषो लब्धः, अन्ये तु भ्रान्ता इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते,

अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्तीत्यादिः, स्मृतिश्च—

अव्यक्ताद्येऽविशेषात्ते विकारेऽस्मिंश्च वर्त्तिते।
चेतनाचेतनान्यत्वज्ञानेन ज्ञानमुच्यते॥

इत्यादि। आत्मैवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, वासुदेवः सर्वमित्यादिश्रुतिस्मृतयस्तु शक्तिशक्तिमदाद्यभेदेनैवोपासनार्थं प्रवर्त्तन्त इति न तद्विरोधः। एतेन जीवात्मप्रकरणेष्वात्मैक्यश्रुतीनामवैधर्म्यलक्षणाभेदेन विवेक एव तात्पर्यमिति द्रष्टव्यम्, विवेकज्ञानस्यैव सम्यग्ज्ञानतया मोक्षहेतुत्ववचनात्। परमात्म[1]प्रकरणस्य [2]तु जीवादपि विवेकेन परमात्मन एकस्यैवात्मत्वे तात्पर्यमिति मन्तव्यम्। द्वितीयपादे विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय इत्येवोक्तम्, अत्र तु विवेकज्ञानस्यैव सम्यग्ज्ञानत्वोपपादनेन मोक्षहेतुत्वं [3]प्रभाषितं विवेकस्वरूपं च परीक्ष्यत इति विवेकः॥२३॥

पुरुष, चित्त और विषय इन तीनों का यथोक्त प्रकार से होने वाला विवेकज्ञान ही 'तत्त्वज्ञान' कहलाता है—इस तथ्य का अवधारण, वेदान्तोक्त उपासनादि की व्यावृत्ति के लिये तथा नास्तिकादिसम्मत ज्ञान का खण्डन करने के लिये, भाष्यकार करते हैं—'एवं ग्रहीत्रिति' ग्रहीता, ग्रहण तथा ग्राह्य—इन तीनों रूपों के परस्पर

---

1. क च छ—प्रकरणस्य, ख—प्रकरणे, ग घ—प्रकरणम्।
2. ख—अविभागलक्षणाभेदतः (तु—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—अविभागलक्षणाभेदतः नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ—प्रसाधितं, ख—प्रभाषितम्।

विजातीय (भिन्न जातीय) होने से जो लोग विभाग करके विश्लेषण करते हैं, वे ही यथार्थदर्शी कहलाते हैं। अर्थात् उन्होंने ही पुरुष के स्वरूप को पहचाना है, अन्य (चित्तात्मवादी दार्शनिक) तो मूढमति अर्थात् भ्रान्त हैं, ऐसा भाष्य का तात्पर्य है। इसमें श्रुति प्रमाण है—**'यन्मनसा....मुपासते'** (केनोप. १/५) अर्थात् 'कोई भी जिस ब्रह्म को मन के द्वारा समझ नहीं सकता, परन्तु मन जिसकी शक्ति पाकर जाना हुआ हो जाता है। ज्ञानिजन जिसे ऐसा कहते हैं उसे तू ब्रह्म समझ। जो मन बुद्धि द्वारा गम्य है, ऐसे तत्त्व की उपासना करना, ब्रह्म की उपासना नहीं है', तथा **'अथात....परमस्ति'** (बृ. आ. २/३/६) अर्थात् 'आत्मतत्त्व के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् ऋषिगण नेति-नेति कहकर उसकी अनिर्वचनीयता बतलाते हैं तथा आत्मतत्त्व से परे कोई दूसरा तत्त्व नहीं है', ऐसा प्रतिपादन करते हैं। तदर्थ स्मृतिवाक्य भी है—**'अव्यक्तात्....ज्ञानमुच्यते'** (वायु. पु. ५८/५४) अर्थात् 'अव्यक्तरूप अविशेष से जो उत्पन्न होते हैं, वे विकार नाम से इस संसार में विद्यमान रहते हैं। चेतन-अचेतन के पृथग्ज्ञान से उत्पन्न विवेकज्ञान को 'ज्ञान' कहते हैं।' वार्तिककार आगे बतलाते हैं कि **'आत्मैवेदं सर्वम्'** (छा. उप. ७/१५/२) अर्थात् 'यह सब कुछ पुरोदृश्यमान जगत् आत्मरूप ही है', **'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'** (मुण्डकोप. २/२/११) अर्थात् 'सब कुछ ब्रह्मरूप ही है', **वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७/१९) अर्थात् 'सब कुछ वासुदेव-रूप है'—इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ शक्ति-शक्तिमत् के अभेदरूप से ही उपासना (भक्ति) के लिये प्रवृत्त होती हैं। इनका 'तत्त्वज्ञान मोक्ष का कारण है', इससे विरोध नहीं आता है। इससे यह जानने योग्य है कि जीवात्मप्रकरण में आत्मैक्य का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ आत्मा के परमात्मा के साथ अवैधर्म्यलक्षणक अभेद के द्वारा जड-चेतन के विवेक अर्थात् भेदज्ञान में ही पर्यवसित होती हैं। क्योंकि सम्यग्ज्ञान-परक होने से विवेकज्ञान को ही मोक्ष का हेतु (श्रुतियों में) कहा गया है। (रही बात परमात्मप्रकरण की तो ऐसा है कि) परमात्मप्रकरण में जीव से भी परमात्मा का भेद होने से एक ही परमात्मा का 'आत्मत्व' बतलाने में श्रुति का तात्पर्य (अभिप्राय) है, ऐसा समझना चाहिये। भाष्य के अभिप्राय को उपसंहृत करते हुए वार्तिककार आगे कहते हैं—योग सूत्र के द्वितीय साधन पाद में **'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः'** (२/२६) सूत्र में अविप्लुत विवेकख्याति को हानोपाय कहा गया है। यहाँ पर विवेकज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान के उपपादन द्वारा मोक्ष का हेतु सिद्ध किया गया है। अतः विवेकस्वरूप परीक्षित है, यही विवेक का विवेकत्व है॥२३॥

सम्प्रति, प्रश्नपरक वैयासिकी अवतरणिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

### व्यासभाष्यम्

[1]कुतश्चै[2]तत्—

शङ्का—और किस कारण से चित्त से अतिरिक्त पुरुष की सत्ता स्वीकार की जाय? ( तदर्थ सूत्र है)—

### योगसूत्रम्

**तद[3]संख्येयवासनाभिश्चि[4]त्रमपि परार्थं [5]संहत्यकारित्वात्॥२४॥**

वह चित्त असंख्य वासनाओं के द्वारा चित्रित होने पर भी संघातरूप में मिलकर कार्य करने के कारण 'परार्थ' अर्थात् अपने से भिन्न पुरुष के लिये है॥२४॥

### व्यासभाष्यम्

तदेतच्चित्तमसंख्येयाभिर्वासनाभिरेव चित्रीकृतमपि परार्थं परस्य भोगा[6]पवर्गार्थं [7]न स्वार्थं संहत्यकारित्वाद् गृहवत्। [8]संहत्यकारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यम्। [9]न [10]सुखचित्तं सुखार्थम्, न [11]ज्ञानं ज्ञानार्थम्। उभयमप्येतत्परार्थम्। यश्च भोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवान् पुरुषः स एव परः। न [12]परः सामान्यमात्रम्। यत्तु किञ्चित्[13]परं सामान्यमात्रं [14]स्वरूपेणोदाहरेद् वैनाशिकस्[15]तत्सर्वं संहत्य-

---

1. क ख ग—कुतश्चैतत् ४/२३ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—कुतश्चैतत् ४/२४ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. घ च छ ज झ त थ द ध न प फ म य र—एतत् उपलभ्यते, क ख ग ब भ—एतत् नोपलभ्यते।
3. असंख्य०—इति पाठान्तरम्।
4. चित्तम्—इति पाठान्तरम्।
5. सह—इति पाठान्तरम्।
6. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—अपवर्गार्थं न, छ थ—अपवर्गार्थेन।
7. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—न स्वार्थं उपलभ्यते, ज—न स्वार्थं नोपलभ्यते।
8. क ख ग च छ ज झ त थ द घ न प ब भ म य र—संहत्य०, घ फ—संहत०।
9. ब—हि ( न—पश्चात् ) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—हि नोपलभ्यते।
10. क ख ग घ च ज झ त द ध प फ ब भ म य र—सुख०, छ थ न—सुखम्।
11. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—ज्ञानं, ब—ज्ञानचित्तम्।
12. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—परः, ब—पर०।
13. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—परं, ब—पर०।
14. क—स्व रूपेण, ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—स्वरूपेण।
15. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—तत्सर्वं, ब—स सर्वः।

**कारित्वात् [1]परार्थमेव स्यात्। यस्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति॥२४॥**

पूर्वोक्त यह चित्त गणनातीत वासनाओं से संवलित अर्थात् चित्रित है, तो भी यह परार्थ अर्थात् पर जो पुरुष है, उसके भोग और मोक्ष-सम्पादन के लिये है। इसका अपने लिये कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि जो संहत्यकारी होता है वह परार्थ हुआ करता है, घर के समान। 'संहत्यकारी' अर्थात् मिल-कर कार्य करने वाला चित्त अपने लिये नहीं हो सकता है। सुखानुभवा- त्मक चित्त सुख के लिये और ज्ञानात्मक चित्त ज्ञान के लिये नहीं हो सकता है। ये दोनों ही दूसरे के लिये होते हैं। और जो भोग और अपवर्गरूप प्रयोजनों से सिद्धप्रयोजन वाला पुरुष है, वही 'पर' है। कोई सामान्यमात्र चित्त 'पर' पदार्थ नहीं हो सकता। और बौद्ध दार्शनिक इस अन्य पदार्थ को जिस किसी सामान्य पदार्थ (चित्तादि) के रूप से उद्धृत करें, वह सभी (सजातीय विज्ञानादि) पदार्थ मिलकर कार्य करने वाला होने के कारण (अपने से भिन्न किसी) अन्य के (प्रयोजन के) लिये ही होगा। इसलिये यह जो विशेषरूप 'अन्य' पदार्थ है, वह मिलकर कार्य न करने वाला 'पुरुष' तत्त्व ही है॥२४॥

### तत्त्ववैशारदी

**चित्तातिरिक्तात्मसद्भावे हेत्वन्तरमवतारयति—कुतश्चेति। तदसंख्येयवासनाभिश्चित्र-मपि परार्थं संहत्यकारित्वात्। यद्यप्यसंख्येयाः कर्मवासनाः क्लेशवासनाश्च चित्तमेवाधि-शेरते न तु पुरुषम्, तथा च वासनाधीना विपाकाश्चित्ताश्रयतया चित्तस्य भोक्तृतामावहन्ति, भोक्तुरर्थे च भोग्यमिति सर्वं चित्तार्थं प्राप्तम्, तथापि तच्चित्तमसंख्येयवासनाविचित्रमपि परार्थम्। कस्मात्? संहत्यकारित्वादिति सूत्रार्थः। व्याचष्टे—तदेतदिति। स्यादेतत्—चित्तं संहत्यापि करिष्यति, स्वार्थं च भविष्यति, कः खलु विरोध इति यदि कश्चिद् ब्रूयात्तं प्रत्याह—संहत्यकारिणेति। [2]सुखचित्तमिति भोगमुपलक्षयति। तेन [3]दुःखचित्तमपि द्रष्टव्यम्। ज्ञान-मित्यपवर्ग उक्तः।**

चित्त से भिन्न आत्मा के सद्भाव में अन्य हेतु (के प्रतिपादक सूत्र) को भाष्यकार अवतरित करते हैं—'कुतश्चेति।' उत्तर है—'तदसंख्येयेति।' यद्यपि शुभाशुभ कर्मजन्य तथा अविद्यादि क्लेशजन्य असंख्य वासनाएँ चित्त को ही आश्रय बनाती हैं अर्थात् वे चित्ताधिकरणनिष्ठ ही होती हैं, न कि पुरुषनिष्ठ। अर्थात् पुरुष इन

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—परार्थं, ब—परार्थः।
2. क छ झ—सुखम्, ख ग घ च ज त थ द ध न—सुख०।
3. क छ—दुःखम् ख ग घ च ज झ त थ द ध न—दुःख।

वासनाओं का आधार नहीं है। इससे वासनाधीन अर्थात् वासनाजन्य विपाक भी चित्ताश्रित होने से चित्त के ही भोक्तृभाव का आपादन करते हैं और 'जो भोक्ता के लिये भोग्य पदार्थ है'—यह कहा जाता है, वह सब चित्तरूप भोक्ता के लिये प्राप्त होता है। तथापि 'असंख्य वासनाओं से चित्रित हुआ भी यह चित्त 'परार्थ' है।

**शङ्का**—चित्त क्यों 'परार्थ' है?

**समाधान**—चित्त विषय और इन्द्रियादि की सहायता से भोगाकार और अपवर्गाकार वृत्तिरूप व्यापार को करता है। अतः संहत्यकारी होने से चित्त परार्थ है, यह सूत्रार्थ हुआ। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'**तदेतदिति**।'

**शङ्का**—चित्त इन्द्रियादि पदार्थों के साथ मिलकर कार्य भी करेगा और अपने लिये ही भोग-मोक्षरूप पुरुषार्थ का सम्पादन भी करेगा—ऐसा मानने पर कौन सा विरोध आता है?

**समाधान**—इस प्रकार प्रश्नकर्त्ता के पूछने पर भाष्यकार उसको बतलाते हैं—'**संहत्यकारिणेति**।' संहत्यकारी चित्त अपने लिये भोग-मोक्ष का सम्पादन करने में सक्षम नहीं होता है। भाष्य में '**सुखचित्तम्**' पद से चित्तनिष्ठ भोग को लक्षित किया गया है। इससे चित्त के दुःखभोग को भी प्रदर्शित किया गया है। अर्थात् सुख-दुःख की अनुभूति चित्त को होती है। भाष्य में '**ज्ञानम्**' पद से अपवर्ग को लिया गया है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार भाष्योक्त कथन का सारांश प्रस्तुत करते हैं—

## तत्त्ववैशारदी

**एतदुक्तं भवति—सुखदुःखे चित्ते प्रतिकूलानुकूलात्मके नात्मनि संभवतः; स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। न चान्योऽपि संहत्यकारी साक्षात्परम्परया वा सुखदुःखे विदधानस्ताभ्यामनुकूलनीयः प्रतिकूलनीयो वा। तस्माद्यः साक्षात्परम्परया वा न सुखदुःखयोर्व्याप्रियते स एवाभ्यामनुकूलनीयः प्रतिकूलनीयो वा। स च नित्योदासीनः पुरुषः एवम[1]पवृज्यते येन ज्ञानेन तस्यापि ज्ञेयतन्त्रत्वात्स्वात्मनि च वृत्तिविरोधान्न ज्ञानार्थत्वम्। न बाह्यविषयादस्मादपवर्गसंभवोऽ[2]स्ति, विदेहप्रकृतिलयानामपवर्गासंभवात्। तस्मात्तज्ज्ञानमपि पुरुषार्थमेव, न तत्स्वार्थं नापि परमात्रार्थम्। संहतपरार्थत्वे चानवस्थाप्रसङ्गाद[3]संहतपरार्थसिद्धिरिति॥२४॥**

अभिप्राय यह है—चित्त में प्रियाप्रिय अर्थात् अभीप्सित-अनभीप्सित रूप से अनुभूत होने वाले सुख-दुःख, जो चित्त के धर्म हैं, आत्मा में सम्भव नहीं हो सकते हैं। अर्थात् पारमार्थिक रूप से आत्मतत्त्व को सुखानुभूति अथवा दुःखानुभूति नहीं

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न—अपकृज्यते, छ—अपव्रज्यते।
2. घ च छ ज झ त न—अस्ति उपलभ्यते, क ख ग थ द घ—अस्ति नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न—असंहत० छ—असंहतम्।

होती है, क्योंकि अपने में अपनी वृत्ति नहीं होती है। और दूसरा कोई संहत्यकारी पदार्थ (चित्तान्तर) भी साक्षात् अथवा परम्परया सुख-दुःख को धारण करता हुआ उनको अनुकूल और प्रतिकूल रूप से नहीं भोग सकता है। अर्थात् एक संघात को दूसरे संघात का अनुकूल अथवा प्रतिकूल नहीं बनाया जा सकता है। अतः जो साक्षात् अथवा परम्परया सुख-दुःख से व्यापृत (सम्बद्ध) न हो, वही इनके द्वारा अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का अनुभव करता है और वह नित्य उदासीन **'पुरुष'** संज्ञक तत्त्व है। और जिस ज्ञान से जो उदासीन किया जाता है, वह भी ज्ञेय के अधीन होने से और अपने में अपनी वृत्ति होना विरुद्ध होने से एक चित्त दूसरे चित्त के लिये नहीं है। और बाह्यविषयक चित्त से अपवर्ग सम्भव नहीं होता है। इसी कारण से विदेहप्रकृतिलयों को अपवर्ग सम्भव नहीं रहता है। अतः विवेकज्ञान भी पुरुष के प्रयोजनार्थ है, न कि **'स्वार्थ'**। अर्थात् संहत्यकारी चित्त न तो अपने प्रयोजन के लिये है और न किसी दूसरे संघात के प्रयोजनार्थ है। क्योंकि एक संघात को दूसरे संघात के लिये मानने पर अनवस्थादोष आता है। इसलिये असंहत **'परार्थ'** अर्थात् 'पुरुष' की सत्ता सिद्ध होती है॥२४॥

**बालप्रिया—**

**'अधिशेरते'**—इस पद का अर्थ है—**'आश्रयन्ते'**।

**'असंहतपरार्थसिद्धिः'**—सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यह है—सुखचित्त अर्थात् भोग-चित्त, चित्त के भोगार्थ नहीं है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानचित्त अर्थात् अपवर्गचित्त, चित्त के अपवर्गार्थ नहीं है। चित्तनिष्ठ **'भोग'** और **'अपवर्ग'** कार्य हैं और जो कार्य होता है, वह सार्थक होता है। यदि एक चित्तनिष्ठ कार्य की सार्थकता दूसरे चित्त के भोग-मोक्ष रूप कार्य के लिये मानी जाय, तो अनवस्थादोष प्रसक्त होगा। अतः नान्तरीयकतया यह मानना चाहिये कि चित्त के ये दोनों भोग और मोक्ष भी **'परार्थ'** हैं। और वह **'संहत्यकारी चित्त'** से भिन्न **'असंहतकारी पुरुष'** तत्त्व है, जो भोगापवर्गार्थ वाला है॥२४॥

**योगवार्त्तिकम्**

**चित्तादात्मन्यविवेके हेत्वन्तरप्रदर्शकतया सूत्रमवतारयति—[1]कुतश्चेति। कुतश्च चित्ताऽतिरिक्तः पुरुष इति शेषः। तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्। यदुक्तं चित्तस्य सर्वात्मकत्वाङ्गीकारेऽसंख्यवासनावशात् स्वत एव चित्तस्यापि परिणामोऽस्तु किं पुरुषेणेति, तन्न—यतस्तच्चित्तमसंख्येयवासनाभिश्चित्रितमपि परार्थं परस्यान्यस्य भोगापवर्गायैव, विना तौ न स्थातुं [2]परिणन्तुं वा क्षमते, संहत्यकारिपदार्थानां लोके परमात्रार्थत्व-**

---

1. क ख घ च—इतः, ग छ—कुतः (उभयत्र)
2. क ख ग घ—परिणमितुं, च छ—परिणन्तुम्।

**दर्शनादित्यर्थः। तथा च पुरुषार्थसमाप्तौ चित्तविलयेन मोक्षोपपत्तिरित्यत्रापि सूत्रतात्पर्यम्।**

चित्त से अतिरिक्त आत्मा के सद्भाव में अर्थात् चित्त से भिन्न आत्मतत्त्व के स्थापन में अन्य कारण के उपपादक सूत्र को भाष्यकार अवतरित करते हैं—'**कुतश्चेति**'। '**चित्तातिरिक्तः पुरुषः**' यह '**कुतश्च**' का वाक्यशेष है।

**शङ्का**—अन्य किस हेतु से चित्त से अतिरिक्त चेतन पुरुष का सद्भाव माना जाता है?

**समाधान**—सूत्र से उत्तर दिया जा रहा है—'**तदसंख्येयेति**'।

**पूर्वपक्ष**—चित्त की सर्वात्मकता को स्वीकार कर लेने पर अर्थात् '**द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्**' सूत्र द्वारा चित्त की सर्वार्थता को मान लेने पर सिद्धान्ती द्वारा यह भी माना जाना चाहिये कि असंख्य वासना के वशीभूत चित्त का स्वतः ही परिणाम भी होता है। इस स्थिति में पुरुष की सिद्धि का प्रयोजन क्या रह जाता है? अर्थात् पुरुष को मानना व्यर्थ है?

**उत्तरपक्ष**—ऐसा नहीं है, क्योंकि '**सर्वार्थ**' रूप वाला यह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित है, तो भी '**परार्थ**' है अर्थात् अन्य (पर पुरुष) के भोगापवर्गरूप प्रयोजन के लिये ही उसका अस्तित्व है (न कि अपने अस्तित्व के लिये)। इन दो उद्देश्यों के विना चित्त, स्वस्थिति के लिये अथवा परिणाम के लिये समर्थ नहीं होता है। इसमें हेतु यह है कि जगत् में संहत्यकारी पदार्थ, जो मिलकर कार्य करते हैं, परार्थ ही होते हैं, ऐसा देखा जाता है। इससे सूत्र का यह तात्पर्य भी पर्यवसित होता है कि पुरुषार्थ की समाप्ति के पश्चात् चित्तलय द्वारा मोक्ष निष्पन्न होता है।

## योगवार्त्तिकम्

**सूत्रं व्याचष्टे—तदेतदिति। भोगापवर्गार्थं सुखादि[1]साक्षात्कारार्थम्, संहत्यकारित्वाद् इतरसाहाय्येनार्थक्रियाकारित्वात्, गृहवदिति। गृहं हि शयनादिकार्यमास्तरणशरीरादिसाहाय्येनैव करोति, पुरुषस्तु नित्यचैतन्यरूपतया चैतन्यार्थं नान्यमपेक्षते, अन्या चार्थक्रिया पुरुषस्य नास्तीति स न संहत्यकारीत्याशयः। यत्तु संघातपारार्थ्यादिति सांख्ये प्रोक्तम्, तत्र संहननमारम्भसंयोगो विवक्षितः, स चावयवावयव्यभेदात् शय्याऽऽसनगृहादिषु सत्त्वादिषु चास्ति न तु पुरुष इति। ननु चित्तं संहत्यापि करिष्यति स्वार्थमपि, कः खलु विपक्षबाधकस्तर्क इत्याकाङ्क्षायामाह—संहत्यकारिणेति। [2]न सुखचित्तमिति। सुखचित्तं भोगचित्तं न सुखार्थं न**

---

1. क ख ग घ—विवेकसाक्षात्कार० (साक्षात्कार०—पश्चात्) उपलभ्यते च छ—विवेकसाक्षात्कार० नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ—न सुखचित्तमिति। सुखचित्तं.......एवापरिणामित्वाभिर्द्धर्मत्वाच्चेति, ख—न खल्विति। सुखमात्रं दुःखस्याप्युपलक्षणम्। तथा च सुखचित्तं सुखदुःखात्मकश्चित्तपरिणामे ज्ञानं, न च सुखाद्यर्थकं किन्तूभयमप्येतत् सुखज्ञानं च परार्थमिति योजना। तथा च संहत्यकारिणः स्वार्थत्वे सुखाद्यपि स्वार्थस्यादिति विपक्षबाधकस्तर्क इति भावः।

**चित्तस्य भोगार्थं तथा तत्त्वज्ञानचित्तमपवर्गचित्तं न चित्तस्यापवर्गार्थम्, चित्तस्य भोगापवर्गयोरपि कार्यतया सार्थकत्वनियमेनानवस्थाप्रसङ्गात्। यत्कार्यं तत्सार्थकमिति हि सर्वसंमतम्, अतश्चित्तस्य तदुभयमपि परार्थमित्यर्थः। पुरुषस्य च भोगापवर्गौ स्वरूपचैतन्यरूपतया न कार्याविति नानवस्था पुरुषार्थत्ववादिनामिति भावः।**

भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'तदेतदिति।' 'भोगापवर्गार्थम्'** (इस प्रतिज्ञा बोधक) शब्द का अर्थ सुखादिसाक्षात्कारार्थ है तथा **'संहत्यकारित्वात्'** (इस हेतु-बोधक) शब्द का अर्थ है—दूसरे की सहायता से प्रयोजनसम्बन्धी व्यापार को करने वाला होने से, **'गृहवत्'** यह उदाहरण वाक्य है। चित्त की परार्थता के अनुमापक वाक्य का स्पष्टीकरण करते हुए वार्तिककार कहते हैं—जैसे गृह शयनादिक्रिया को आस्तरण (बिस्तर), शरीरादि की सहायता से ही निष्पन्न करता है किन्तु पुरुष नित्यचैतन्यरूप होने से चैतन्य की अभिव्यक्ति के लिये परमुखापेक्षी नहीं होता है और कोई प्रयोजनपरक क्रिया पुरुष की नहीं होती है। इसलिये पुरुष संहत्यकारी नहीं कहलाता है। अनुमान-प्रयोग का यही अभिप्राय है। और **'संघातपारार्थ्यात्'** (सांख्य सू. १/६६) इस कापिलसांख्य में संघात को जो परार्थ रूप से बतलाया गया है, वहाँ **'संहनन'** शब्द का 'आरम्भक संयोग' अर्थ विवक्षित है और वह अवयव-अवयवी के अभेद से शय्या, आसन, गृहादि कार्यों तथा सत्त्वादि गुणों में विद्यमान है, न कि पुरुष में। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रकृति और उसके कार्य के परार्थत्व का अनुमान करने से पुरुष का बोध हो जाता है।

**शङ्का**—चित्तात्मवादी वैनाशिक शंका करते हैं कि संहत चित्त भी स्वार्थ (स्वोद्देश्य) क्रिया करे और ऐसा मानने में कौन सी बाधक युक्ति है?

**समाधान**—ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं—**'संहत्यकारिणेति।'** अर्थात् संहत्यकारी चित्त से स्वार्थसाधन नहीं हो सकता। वार्तिककार आगे का भाष्य उठाते हैं—**'न सुखचित्तमिति।' 'सुखचित्त'** अर्थात् भोगचित्त (भोगप्रधान चित्त) **'सुखार्थं'** अर्थात् चित्त के भोगार्थ नहीं होता है। इसी प्रकार **'तत्त्वज्ञानचित्त'** अर्थात् अपवर्गभागीय चित्त, दूसरे चित्त के अपवर्ग के लिये नहीं होता है। भोगापवर्ग चित्त के कार्य होने से भी सार्थकत्वनियम से अनवस्थादोष का प्रसंग आयेगा। क्योंकि **'यत्कार्यं तत्सार्थकम्'** अर्थात् जो कार्य होता है, वह सार्थक होता है, यह सर्वजनीन सिद्धान्त है। अतः चित्त का भोग और अपवर्गात्मक उभयरूप परार्थ सिद्ध होता है। किन्तु पुरुषपक्ष में भोग और अपवर्ग दोनों स्वरूपतः चैतन्यात्मक होने से कार्य नहीं हैं। अतः चित्त से अतिरिक्त पुरुष की सत्ता स्वीकार करने वाले उत्तरमत में पूर्वमत की भाँति अनवस्थादोष प्रसक्त नहीं होता है।

इस प्रकार चित्तातिरिक्त पुरुष का सद्भाव सिद्ध हो जाने के पश्चात् वार्त्तिककार आगे कहते हैं–

### योगवार्त्तिकम्

**पुरुषस्य भोगो हि सुखादिसाक्षात्कारः, अपवर्गश्च विवेकख्यातिसाक्षात्कारो वा स्वरूपावस्थानं वा, सर्वथैव चैतन्यमात्र एवापरिणामित्वान्निर्द्धर्मत्वाच्चेति। ननु परार्थतामात्रेण न पुरुषसिद्धिर्विनाशादीनामपि [1]परार्थत्वसंभवाद् विनाशार्थमेवोत्पत्तेः परैरभ्युपगमादित्याशङ्कायामाह–यश्चेति। भोगापवर्गार्थवानेवात्र [2]परे साध्ये प्रविष्टोऽतो न सामान्येन येन केनचित्परेण सिद्धसाधनमर्थान्तरं चेत्यर्थः। स्वोत्तरोत्पन्नक्षणिकचित्तस्य भोगार्थकतया पराभिप्रेतं सिद्धसाधनमपाकरोति–यत्तु किं चिदिति। स्वरूपेण आत्मरूपेण, भोक्तृतयेति यावत्। यस्त्विति। यस्त्वसौ विशेषः पुरुषाख्यः परः स कूटस्थनित्यत्वाद् न संहत्यकारीति न तस्य परार्थत्वापत्त्याऽनवस्थितिरित्यर्थः॥२४॥**

'सुखादि का साक्षात्कार' होना पुरुष का 'भोग' है और 'विवेकख्याति का साक्षात्कार' होना पुरुष का 'अपवर्ग' है अथवा पुरुष की स्वस्वरूपावस्थिति को 'अपवर्ग' कहते हैं। किन्तु पुरुष का यह स्वरूपावस्थान सर्वथा चैतन्यात्मक ही है, क्योंकि पुरुष अपरिणामी तथा निर्धर्मक है।

**शङ्का**–चित्त के पारार्थ्यमात्र से (चित्तातिरिक्त) पुरुष तत्त्व की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि वैनाशिक मत में भी विज्ञानरूप चित्त का परार्थत्व सम्भव है। यहाँ पूर्व चित्त के विनाश के लिये ही परवर्ती चित्त की उत्पत्ति पूर्ववादियों द्वारा अङ्गीकृत है। अतः विज्ञानरूप चित्तधारा में परार्थत्व के निष्पन्न हो जाने से तदतिरिक्त पुरुष के सद्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता है?

**समाधान**–पूर्ववादियों की ओर से उक्त आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**यश्चेति**।' यहाँ सुखादिरूप '**भोग**' तथा विवेकख्यातिरूप '**अपवर्ग**' नामक अर्थ (प्रयोजन) से अर्थवान् (प्रयोजनवान्) चित्तातिरिक्त '**पुरुष**' तत्त्व ही '**परार्थ**' पद के अन्तर्गत निर्दिष्ट 'पर' रूप साध्य में प्रविष्ट होता है। अर्थात् पुरुष ही 'पर' शब्द का अभिधेय अर्थ है। ('पर' शब्द से पुरुष ही क्यों? कोई भी पदार्थ विवक्षित हो सकता है?– पूर्ववादी की इस शंका को ध्यान में रखते हुए उन्हें उत्तर दिया जा रहा है कि)– 'पर' शब्द से जिस किसी चित्तादि सामान्य को लेने से '**सिद्धसाधन**' (चित्त का आत्मत्व वैनाशिकों द्वारा पूर्वसिद्ध होने से) तथा '**अर्थान्तर**' (आत्मतत्त्व के स्थान पर चित्त की सिद्धि हो जाने से) दोष आते हैं। स्वचित्त (पूर्व चित्त) से उत्तर क्षण

---

1. क ख ग घ–परत्व०, व छ–परार्थत्व०।
2. क ख ग घ च–परे, च–परः।

में उत्पन्न क्षणिक परचित्त के लिये भोग और अपवर्गरूप प्रयोजन मानने से (अर्थात् पूर्ववर्ती चित्त से भिन्न परवर्ती चित्त को 'पर' शब्द का अभिधेय तथा भोगापवर्गरूप प्रयोजन वाला मानने से) आने वाला सिद्धसाधनदोष, जो पूर्ववादियों को अभिप्रेत है, का भाष्यकार खण्डन करते हैं—'**यत्तु किञ्चिदिति**' जो वैनाशिक लोग जिस किसी सामान्य पदार्थ को 'पर' शब्द का वाच्य मानकर उसे '**स्वरूपेण**' अर्थात् आत्मरूप से अथवा भोक्तृरूप से उदाहृत करते हैं तो उनका यह प्रयास सिद्ध-साधनदोष वाला होगा जो ठीक नहीं है। वस्तुतस्तु हमारे मत में सिद्धसाधनदोष इसलिये नहीं है कि वे सभी पूर्व-परवर्ती विज्ञानरूप चित्त संहत्यकारी होने से अपने से भिन्न 'पर' पुरुष को ही सिद्ध करेंगे। इस प्रकार उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं—'**यस्त्विति**' यह जो चित्तसामान्य से भिन्न '**पुरुष**' संज्ञक पराभिधेय विशेष है, वह कूटस्थ नित्य होने से संहत्यकारी नहीं है। अतः पुरुष में (चित्त की भाँति) परार्थत्व न होने से किसी प्रकार का अनवस्थादोष नहीं आता है॥२४॥

**बालप्रिया—**

'**न सामान्येन येन केनचित्परेण सिद्धसाधनमर्थान्तरं वा**'—भाव यह है कि '**परार्थ**' शब्द में प्रयुक्त 'पर' शब्द से यदि भोगापवर्गवान् चित्तसामान्य को लिया जाय तो ऐसा चित्त अन्य वादियों द्वारा अभिमत होने से पुनः उसे सिद्ध करना '**सिद्धसाधनदोष**' कहलायेगा। न्यायकोश में कहा गया है—'**प्रमाणान्तरेणावगतार्थसाधनं अनुमानम्। यथा पर्वते वह्निनिश्चयानन्तरमपि पुनस्तत्साधनाय विहितं पर्वतो वह्निमान् धूमात् इत्यनुमानम्।**'

**चित्तं परार्थं संहत्यकारित्वाद् गृहवत्**—इस अनुमानप्रयोग से यदि चित्त की 'पर' पुरुष के लिये प्रयोजनता सिद्ध न होकर दूसरे चित्त के लिये सिद्ध होने लगे तो पुरुषसिद्धि की यह विधा '**अर्थान्तरदोष**' ग्रसित कही जायेगी, क्योंकि परपुरुष को सिद्ध करने के प्रयास से चित्तसामान्य ही सिद्ध हो जायेगा। '**अर्थान्तरदोष**' का लक्षण है—'**प्रकृतादर्थादप्रतिसंबद्धार्थमर्थान्तरम्**'॥२४॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

**योगसूत्रम्**

## विशेषदर्शिन आत्म[1]भावभावना[2]निवृत्तिः॥२५॥

चित्त से अतिरिक्त आत्मा का साक्षात्कार करने वाले (विशेषदर्शी) योगी की आत्मभावभावना निवृत्त हो जाती है॥२५॥

---

1. भाव०—नोपलभ्यते।
2. निवृत्तिः—इति पाठान्तरम्।

**व्यासभाष्यम्**

यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्तानुमीयते, तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षा[1]श्रुपातौ दृश्येते, तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते। तस्यात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते, [2]यस्याभावादिदमुक्तम्—[3]स्वभावं मुक्त्वा दोषाद्येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवत्यरुचिश्च निर्णये भवति। तत्रात्मभावभावना—कोऽहमासं, कथमहमासं, किंस्विदिदं, कथंस्विदिदं, के भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इति। सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तते। कुतः? चित्तस्यै[4]वैष विचित्रः परिणामः, पुरुषस्त्वसत्याम[5]विद्यायां शुद्धश्चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति। [6]ततोऽस्यात्मभावभावना कुशलस्य [7]निवर्तत [8]इति॥२५॥

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में तृण के अंकुरों के निकलने से उन तृणों के बीज की सत्ता का अनुमान किया जाता है। उसी प्रकार मोक्षसम्बन्धी बातों को सुनने से जिस प्राणी में रोमाञ्च और अश्रुधारा दिखलाई पड़ती है तो उस व्यक्ति में भी पूर्वजन्मों के कर्मों से सम्पादित, मोक्षकारक तत्त्वज्ञान का बीज वर्तमान है—ऐसा अनुमान किया जाता है। तथाकथित प्राणी में स्वाभाविकी आत्मभावभावना प्रवृत्त होती है। विवेकज्ञानरूप बीज का अभाव होने से ऐसा कहा जाता है—'अपनी आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करके (अविद्या) दोष के कारण इनकी पूर्वपक्ष (अनात्मवाद) में रुचि होती है और निर्णय (चित्तातिरिक्त आत्मवाद) में अरुचि होती है।' सूत्रोक्त आत्मभावभावना का स्वरूप यह है—मैं (पूर्वजन्म में) कौन था? मैं किस रूप में था? यह शरीर क्या है? यह किस प्रकार से स्थित है? भविष्य में हम क्या होंगे? या किस प्रकार होंगे?—इत्याकारिका आत्मविषयिणी भावना, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति से सम्पन्न योगी की, निवृत्त हो जाती है। कैसे? क्योंकि

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—अश्रुपातौ दृश्येते, ब—अश्रुपातो दृश्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—यस्य, ब—तस्य।
3. क ग घ च छ थ द ध न प फ भ म य र—स्वभावं मुक्त्वा, ख ज ब—स्वभाव०, झ त—स्वभावं युक्तम्।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—एव उपलभ्यते, घ य फ र—एव नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—अविद्यायां, ज—अपि विद्यायाम्।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—ततोऽस्य, ब—तस्य।
7. क खं ग घ प फ ब भ य र—निवर्तते, च छ ज झ त थ द ध न भ—विनिवर्तते।
8. छ थ—अयमानन्दानुगतः सम्प्रज्ञातः समाधिर्विवेके सर्वार्थचित्तप्रकृतिलयगतत्वादिति ( इति—पश्चात् ) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—अयं....इति नोपलभ्यते।

आत्मभावभावना रूप यह विचित्र परिणाम चित्त का ही धर्म है और पुरुष तो अविद्या के अभाव में शुद्ध तथा आत्मभावभावना आदि समस्त चित्त-धर्मों से असंस्पृष्ट रहता है। अतः विवेकख्यातिसम्पन्न योगी की आत्मभाव-भावना निवृत्त हो जाती है॥२५॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार सूत्र को अवतरित करते हुए उसकी व्याख्या करते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

**तदेवं कैवल्यमूलबीजं युक्तिमयमात्मदर्शनमुक्त्वा तदुपदेशाधिकृतं पुरुषमनधिकृत-पुरुषान्तराद्व्यावृत्तमाह—विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः। यस्यात्मभावे भावना-स्ति तस्याष्टाङ्गयोगो[1]पदेशाननुतिष्ठतो युञ्जानस्य तत्परिपाकाच्चित्तसत्त्वपुरुषयोर्विशेषदर्शना-दात्मभावभावना निवर्तते। यस्यात्मभावभावनैव नास्ति नास्तिकस्य, तस्योपदेशानधिकृतस्या-परिनिश्चितात्मतत्परलोकभावस्य नोपदेशो न विशेषदर्शनं नात्मभावभावनानिवृत्तिरिति सूत्रार्थः।**

इस प्रकार अनेक युक्तियों से कैवल्य के मूलकारण चित्त से अतिरिक्त आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करके सम्प्रति, सूत्रकार उस आत्मा के उपदेश द्वारा साक्षात्कार करने की योग्यता वाला जो अधिकारी चित्त है, उसका अनधिकारी चित्त की दृष्टि से विशेषरूप से प्रतिपादन करते हैं—**'विशेषेति'** जो आत्मविषयिणी भावना (आत्मसम्बन्धी चिन्तन) करता है, उस अष्टाङ्गयोग के उपदेश का श्रवण करने वाले युञ्जान योगी का अभ्यास जब परिपक्व हो जाता है तब चित्तसत्त्व और पुरुष को **'विशेषदर्शन'** अर्थात् भेदानुभूति होने से उसकी आत्मविषयिणी चिन्तना निवृत्त हो जाती है। जिसमें आत्मविषयिणी भावना ही नहीं है, उस अष्टाङ्गयोग के उपदेश के अनधिकारी नास्तिक पुरुष में आत्मा तथा परलोकादि विषयों में निश्चय न रहने से चित्तसत्त्व और पुरुष का विशेषदर्शन न होने के कारण उसकी आत्मविषयिणी गवेषणा भी निवृत्त नहीं होती है। इस प्रकार सूत्रार्थ निष्पन्न होता है।

सम्प्रति, आत्मविषयक भावना जो अमूर्तरूप है, उसका अवबोध किस प्रकार होता है, उस पर विचार किया जा रहा है—

### तत्त्ववैशारदी

**नन्वात्मभावभावनायाश्चित्तवर्तिन्याः कुतोऽवगम इत्यत आह—यथा प्रावृषीति। प्राग्भ-वीयं तत्त्वदर्शनबीजमपवर्गभागीयं यत्कर्माष्टाङ्गयोगानुष्ठानं तदेकदेशानुष्ठानं वा तदभि-**

---

1. क छ झ—उपदेशात्, ख ग घ च ज त थ द ध न—उपदेशान्।

निर्वर्तितमस्तीत्यनुमीयते। तस्य चात्मभावभावनावश्यमेव स्वाभाविकी वस्त्वभ्यासं विनापि प्रवर्तते। अनधिकारिणमागमिनां वचनेन दर्शयति—यस्याभावादिदमिति। पूर्वपक्षः—नास्ति कर्मफलं परलोकिनोऽभावात्[1]परलोकाभाव इति। तत्र रुचिः। अरुचिश्च निर्णये पञ्चविंशतितत्त्वविषये। आत्मभावभावना प्राग्व्याख्याता। विशेषदर्शिनः परामर्शमाह—चित्तस्यैवेति। [2]अस्य विशेषदर्शनकुशलस्यात्मभावभावना विनिवर्तत इति॥२५॥

शङ्का—चित्तवर्तिनी आत्मविषयक भावना का अवगम कैसे होता है अर्थात् आत्मविषयक चिन्तन तो अन्तर्वर्ती चित्त का धर्म है, अतः यह कैसे जाना जाता है कि अमुक साधक में आत्मभावभावना है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**यथा प्रावृषीति**' पूर्वजन्मीय, तत्त्वज्ञान का हेतुभूत तथा अपवर्ग दिलाने वाला अष्टाङ्गयोग का सम्पादनरूप जो कर्म है अथवा उसके एक देश अर्थात् एक भाग की जो अभिनिष्पत्ति है, वह अनुमित होती है। ऐसे साधननिष्ठ पुरुष की आत्मभावभावना अवश्य ही स्वाभाविक होती है, क्योंकि वस्तु के अभ्यास के विना भी वह प्रवृत्त होती है। योगतत्त्व के उपदेश का अधिकारी कौन नहीं है, इसे भाष्यकार आगमिकों के वचन द्वारा प्रदर्शित करते हैं—'**यस्याभावादिदमिति**' पूर्वपक्ष यह है—कर्मजन्य फल प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि परलोकी के अभाव से परलोक का भी अभाव होता है—इसमें जो आस्था रखते हैं और पञ्चविंशतितत्त्व के निर्णय अर्थात् साक्षात्कार के विषय में जिनकी अनास्था रहती है, उसे योगतत्त्व का अनधिकारी समझना चाहिये। आत्मभावभावना का स्वरूप पीछे व्याख्यात हो चुका है। विशेषदर्शी अर्थात् चित्तातिरिक्त आत्मा का साक्षात्कार करने वाले योगी के परामर्श अर्थात् निर्णयात्मक ज्ञान के स्वरूप को भाष्यकार बतलाते हैं—'**चित्तस्यैवेति**' (अर्थात् आत्मभावभावनारूप यह विचित्र परिणाम चित्त का ही धर्म है और पुरुष तो अविद्या के अभाव में शुद्ध तथा आत्मभावभावना आदि समस्त चित्त-धर्मों से असंस्पृष्ट रहता है—इत्याकारक) विशेषदर्शन करने वाले '**कुशल**' योगी की आत्मभावभावना निवृत्त हो जाती है॥२५॥

**बालप्रिया—**

'**प्राग् व्याख्याता**'—आत्मभावभावना का स्वरूप प्रथमपाद के ऊनचालिसवें सूत्र में प्रतिपादित हुआ है॥२५॥

**योगवार्त्तिकम्**

तदेवं बुद्धिपुरुषविषयाणां विवेकं प्रदर्श्यैतज्ज्ञानादाद्यं मोक्षमादौ प्रतिपादयति—विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः। मातृमानमेयात्मकस्याखिलप्रपञ्चस्य तप्तायःपिण्डव-

1. क ख ग घ च छ ज झ त न—परलोकाभावः, थ द ध—परलोकाभावात्।
2. क ख ग थ द ध—तस्य, घ च छ ज झ त न—अस्य।

देकीभावापन्नस्य यथोक्तप्रकारैरन्योन्यं विशेषदर्शिनो विवेकसाक्षात्कारिणश्चित्तस्यात्मभावे भावना स्वसत्ताजिज्ञासा कोऽहमासमित्यादिरूपा भाष्ये व्याख्येया, तस्या भयशोकप्रवृत्ति-निवृत्त्याद्यनर्थहेतोर्निवृत्तिराद्यो मोक्षो भवतीत्यर्थः। स्वर्गनरकमोक्षादिभिर्हि विचित्ररूपता चित्तस्यैव भवति न तु सदेकरूपचिन्मात्रस्य, न ममेत्यवधारणे सति नैवात्मभावचिन्तोदेतीति भावः। तथा च श्रुतिः—एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापकर-वमितीत्यादिः। तदेतदुक्तं—पञ्चशिखाचार्यैः—आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेनेति।

इस प्रकार बुद्धि, पुरुष तथा विषय का पार्थक्य (परस्पर भेद) प्रदर्शित करके सूत्रकार उस भेदज्ञान से होने वाले मोक्ष को सर्वप्रथम प्रदर्शित करते हैं—'विशेषेति।' तप्तायःपिण्ड की तरह एकीभावापन्न (एकाकारता को प्राप्त हुए) प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयात्मक अखिल प्रपञ्च का यथोक्त प्रकार से परस्पर भेदसाक्षात्कार करने वाले 'विशेषदर्शी' योगी के चित्त की आत्मविषयिणी भावना ('आत्मभावभावना') अर्थात् स्वसत्ताविषयिणी जिज्ञासा—जिसका स्वरूप भाष्य में 'कोऽहमासम्' तथा जो भय, शोक, प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि अनर्थ की हेतुभूता है—की निवृत्ति हो जाती है। विशेष-दर्शी को यही आत्मभावभावनानिवृत्तिरूप प्रथम मोक्ष प्राप्त होता है। स्वर्ग, नरक, मोक्षादियों से विचित्ररूपता चित्त की ही होती है, न कि सदा एकरूप रहने वाले चिन्मात्र पुरुष की। भाव यह है कि 'न मम' अर्थात् 'यह मेरा नहीं है'—ऐसा ज्ञान होने पर उस पदार्थ के विषय में कभी भी आत्मभावभावना का उदय नहीं होता है। इसमें श्रुति प्रमाण है—'एतं ह वाव....पापकरवमिति' (तै. उप. २/९) अर्थात् 'ज्ञानिजन इस बात का विचार नहीं करते हैं कि मैंने श्रेष्ठ कर्म क्यों नहीं किया? मैं पाप क्यों करता रहा' (श्रुति का आगे अर्थ है—जो व्यक्ति पाप-पुण्य को जानता है, वह पाप से अपनी रक्षा करता है। इस प्रकार का ज्ञाता अपनी रक्षा स्वयं कर लेता है)। पञ्चशिखाचार्य ने भी ऐसा ही कहा है—'आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेन' अर्थात् प्रथम मोक्ष ज्ञान से प्राप्त होता है।

### योगवार्त्तिकम्

अत्रादौ भाष्यकार आत्मभावभावनामेव सकारणां प्रतिपादयति—यथेत्यादिना। तत्रा-पीति। पुरुष इति शेषः। विशेषदर्शनबीजमिति। आत्मभावजिज्ञासाद्वारेति शेषः। इत्यनुमी-यत इति। [1]विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादिश्रुतेः,

पापक्षयाद् शुद्धमतिराप्नोति ज्ञानमुत्तमम्

इति स्मृतेश्चेति शेषः। तस्य यथोक्तकर्मवतः, स्वाभाविकी ऐहिकसाधन[2]निरपेक्षा च। तथा यथोक्तं कर्म आत्मभावनायाः कारणम्, तत्र च नैहिकत्वनियम इत्यायातम्, ऐहिकसाधन-

1. क ग घ च छ—विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादिश्रुतेः उपलभ्यते, ख—विवि......श्रुतेः नोपलभ्यते।
2. क च छ—निरपेक्षा च, ख घ—निरपेक्षा, ग—निरपेक्षणात्।

**शून्यस्य प्राक्तनतथाविधकर्माभावे च सा भावना नोदेति प्रत्युत देहाद्यात्मतायामेव रुचिर्भवतीति। अत्र पूर्वाचार्यवाक्यं प्रमाणयति—यस्याभावादिति। यस्य कर्मणोऽभावादिदं वक्ष्यमाणं फलमुक्तं पूर्वाचार्यैः, तदेवाह—स्वभावमिति। स्वभावमात्मभावं त्यक्त्वैषां सत्कर्मशून्यानां पूर्वपक्षेऽनित्यदेहाद्यात्मतायामेव रुचिः श्रद्धाऽऽतिशयो भवति, अरुचिश्च तत्त्वनिर्णय इत्यर्थः।**

सर्वप्रथम भाष्यकार कारणसहित आत्मभावभावना का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—**'यथेत्यादिना।'** जैसे वर्षाकाल में अंकुरोद्भव से बीज की सत्ता अनुमित होती है, वैसे ही मोक्षमार्ग का श्रवण करने से जिसके शरीर तथा नेत्र में रोमहर्ष तथा अश्रुपात दिखलाई पड़ता है तो उस पुरुष में भी विवेकख्याति का बीज अनुमित होता है। वार्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—**'तत्रापीति।'** इस वाक्य का **'पुरुष'** यह वाक्यशेष है। **'विशेषदर्शनबीजमिति।'** 'आत्मभावजिज्ञासा द्वारा' यह विशेषदर्शन-बीज का शेष है। **'इत्यनुमीयत इति।'** सम्पूर्ण वाक्यांश का सम्मिलित अर्थ यह है—आत्मभावविषयिणी जिज्ञासा द्वारा पुरुष को यह अनुमित होता है कि उसमें **'विशेषदर्शनबीज'** अर्थात् विवेकख्याति का हेतु निहित है। यही तथ्य **"विविदिषन्ति यज्ञेन'** (बृ. आ. ४/४/२२) अर्थात् 'यज्ञ से उसे प्राप्त करना चाहते हैं'—इत्यादि श्रुति से तथा **'पापक्षयाद्....उत्तमम्'** अर्थात् 'पापक्षय द्वारा शुद्धमतिमान् पुरुष उत्तम ज्ञान को प्राप्त करता है'—इत्यादि स्मृति से सिद्ध होता है। इस प्रकार अपवर्गभागीय यमादि कर्मों को करने वाले की आत्मभावभावना **'स्वाभाविकी'** अर्थात् ऐहिकसाधन-निरपेक्ष होती है। यहाँ जिस प्रकार के कर्म को आत्मभावना का कारण कहा गया है, उसमें ऐहिकत्वनियम चरितार्थ नहीं होता है। अर्थात् वर्तमान जन्म के कारण ही आत्मभावभावना नहीं होती है, क्योंकि ऐहिक साधनशून्य व्यक्ति के पूर्वजन्मीय तथाविध कर्म का अभाव होने पर उक्त आत्मभावभावना का उदय नहीं होता है, प्रत्युत ऐसे यमादि योगानुष्ठानशून्य पुरुष की तो देहादि अनात्म पदार्थों को ही आत्मा समझने में रुचि रहती है। भाष्यकार तदर्थ पूर्वाचार्य के वाक्य को प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं—**'यस्याभावादिति।'** यथोक्त यमाद्यनुष्ठानादि शुभकर्म के न करने से जिस वक्ष्यमाण फल को पूर्वाचार्यों ने कहा है, उसे ही भाष्यकार बतलाते हैं—**'स्वभावमिति।' 'स्वभाव'** अर्थात् आत्मविषयिणी सहज जिज्ञासा को छोड़कर सत्कर्मानुष्ठानरहित व्यक्तियों की पूर्ववादी के अनुसार अनित्य देहादि में आत्मबुद्धि करने में ही **'रुचि'** अर्थात् अतिशय श्रद्धा होती है और उत्तरवादी के अनुसार तत्त्वनिर्णय (महदादि से भिन्न आत्मतत्त्व के निर्णय) में अरुचि (अनास्था) रहती है।

सम्प्रति, किस प्रकार की आत्मविषयिणी भावना होती है?—इसका स्वरूप निर्धारित किया जा रहा है—

### योगवार्त्तिकम्

**आत्मभावनायाः कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—तत्रात्मेति। कोऽहमासं किं नरादिरूप आसं कथमासं [1]दुःखेन दर्शनवानासं किं स्विदिदं वर्त्तमानमपि मम स्वरूपं किं देहो वा मन आदिर्वा कथं स्विदिदं केन वा प्रकारेण [2]पुण्यपापादिना तिष्ठतीत्यादिरर्थः। के भविष्याम इत्याद्येकत्व एव बहुवचनम्। तथा च यज्जिज्ञासोत्थभयादिनिवृत्तये विशेषदर्शनं पुरुषः संपादयति सैवात्मभावनेत्यर्थः।**

इस प्रकार (योगोक्त) आत्मभावभावना के कारण को बतलाने के पश्चात् भाष्यकार उसके स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं—'**तत्रात्मेति**' '**कोऽहमासं=किं नरादिरूप आसम्**' अर्थात् मैं पूर्वजन्म में कौन था? क्या मनुष्यादि रूप वाला था', '**कथमासं=दुःखेन दर्शनवानासम्**' अर्थात् 'मैं किस प्रकार था? क्या दुःख का अनुभव (दर्शन) करने वाला था, '**किं स्विदिदं=वर्तमानमपि मम स्वरूपं किं देहो वा मन आदिर्वा**' अर्थात् 'वर्तमान काल में मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? मैं देह हूँ या मन हूँ, '**कथं स्विदिदं=केन वा प्रकारेण पुण्यपापादिना तिष्ठति**' अर्थात् 'पाप-पुण्यादि किस कारण से मेरी यह वर्तमान अवस्था हुई? वार्त्तिककार आत्मविषयिणी भावना के अगले अंश के विषय में व्याकरणसम्बन्धी चर्चा करते हुए कहते हैं कि '**के भविष्यामः**' (**कथं वा भविष्यामः**) इत्यादि वाक्यों में एकत्व की विवक्षा में बहुवचन किया गया है। अतः इन वाक्यों का अर्थ होगा—मैं भविष्य में कौन होऊँगा, किस प्रकार होऊँगा? इस प्रकार जो जिज्ञासा—समुद्भूत भयादि के निवारण के लिये—पुरुष में '**विशेषदर्शन**' अर्थात् भेदज्ञान का सम्पादन करती है, उसी को '**आत्मभावभावना**' कहते हैं।

सम्प्रति, सूत्र के निर्गलित अर्थ पर प्रकाश डाला जा रहा है—

### योगवार्त्तिकम्

**आत्मभावनामशेषतो व्याख्याय सूत्रवाक्यार्थमाह,—सा त्विति। विशेषदर्शनात्कुतो निवृत्तिरिति प्रश्नस्योत्तरमाह—चित्तस्येति। एष भावरूपो विचित्रः परिणाम आत्मनो न भवति किं तु चित्तस्यैवाविद्याजन्यत्वात्, अविद्यायाश्च चित्तधर्मत्वात्; पुरुषस्त्वविद्याशून्यत्वाच्छुद्धः पापपुण्यविवर्जितः। ततश्च चित्तधर्मैर्जन्ममरणसुखदुःखादिभिरपरामृष्टः कदाऽप्यसंबद्ध इति। तत इति विशेषदर्शनादस्य कुशलस्यात्मभावना निवर्त्तत इत्यर्थः॥२५॥**

आत्मभावना के स्वरूप का पूर्णरूप से व्याख्यान करके भाष्यकार सम्प्रति, सूत्रवाक्य का अर्थ करते हैं—'**सा त्विति**' विशेषदर्शी की आत्मभावभावना निवृत्त हो जाती है।

---

1. क ख ग—सुखेन दुःखेन वाऽऽसं, घ च छ—दुःखेन दर्शनवान् आसम्।
2. क घ च छ—पुण्यपाप०, ख ग—पापपुण्य०।

**शङ्का**—विशेषदर्शन (विवेकज्ञान) से आत्मभावभावना की निवृत्ति कैसे होती है?
**समाधान**—प्रश्न का उत्तर (भाष्यकार) देते हैं—'**चित्तस्येति**' आत्मभावभावना का यह भावरूप विचित्र परिणाम आत्मा का नहीं, अपितु चित्त का ही होता है, क्योंकि उक्त आत्मभावना अविद्याजन्य है और '**अविद्या**' चित्त का धर्म है। अतः चित्त के परिणामरूप से ही आत्मभावना सिद्ध होती है, न कि पुरुष के धर्म रूप से। पुरुष तो अविद्या से रहित होने से '**शुद्ध**' अर्थात् पाप-पुण्य से रहित है। फलतः पुरुष जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि चित्त के धर्मों से '**अपरामृष्ट**' अर्थात् कदापि सम्बद्ध नहीं होता है। वार्तिककार प्रकृत सूत्र के भाष्य की अन्तिम पंक्ति को उठाते हैं—'**तत इति**' इस प्रकार विशेषदर्शन से कुशल पुरुष की आत्मभावभावना निवृत्त हो जाती है॥२५॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

**योगसूत्रम्**

**[1]तदा विवेक[2]निम्नं कैवल्य[3]प्राग्भारं चित्तम्॥२६॥**

तब (विशेषदर्शन की अवस्था में) योगी का चित्त विवेकमार्ग में सञ्चरण करने वाला तथा कैवल्यफलोन्मुख होता है॥२६॥

**व्यासभाष्यम्**

**तदानीं यदस्य चित्तं [4]विषयप्राग्भारमज्ञाननिम्नमासीत्, तदस्यान्यथा भवति [5]कैवल्यप्राग्भारं [6]विवेकज्ञाननिम्नमिति॥२६॥**

विवेकज्ञान से पूर्व इस योगी का जो चित्त विषयाभिमुख तथा अज्ञान की ओर सञ्चारी था, वही चित्त विवेकज्ञान के उदित होने पर दूसरे प्रकार का हो जाता है। अर्थात् मोक्षपर्यन्त पहुँचकर विश्रान्त होने वाला तथा विवेकजन्यज्ञान के मार्ग में सञ्चार करने वाला हो जाता है॥२६॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार अवतरणिका के साथ सूत्र को उठाकर उसकी व्याख्या करते हैं—

---

1. तदानीं—इति पाठान्तरम्।
2. निम्नैः—इति पाठान्तरम्।
3. प्रभावं—इति पाठान्तरम्।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—विषयप्राग्भारमज्ञाननिम्नं, ब—अज्ञानप्राग्भारं विषयनिम्नम्।
5. क—कैवल्यं, ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—कैवल्य०।
6. क ब—विवेक, ख ग घ च ज झ त द ध न प फ भ य र—विवेकजज्ञान०, छ थ म—विवेकज्ञान०।

**तत्त्ववैशारदी**

**अथ विशेषदर्शिनः कीदृशं चित्तमित्यत आह—तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्। निगदव्याख्यातम्॥२६॥**

सम्प्रति, सूत्रकार विशेषदर्शी योगी का चित्त किस प्रकार का होता है, इसे कहते हैं—'तदेति।' इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या पीछे की जा चुकी है॥२६॥

**बालप्रिया—**

**'तदा'**—कालवाचक इस अव्यय से तत्त्वज्ञ की **'विशेषदर्शन'** अवस्था का बोध कराया गया है। **'विशेषदर्शन'** प्राप्त चित्त का स्वरूप सूत्रकार ने **'कैवल्यप्राग्भार'** शब्द से बतलाया है। इसका विग्रह है—**कैवल्ये प्राग्भारः=आभिमुख्यं यस्येति कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।'** भाव यह है कि अविवेक मार्ग में संचरणशील जो चित्त विषयाभिमुख था, वही चित्त इस विशेषदर्शन की अवस्था में विवेकमार्ग में सञ्चरण करता हुआ कैवल्याभिमुख हो जाता है॥२६॥

**योगवार्त्तिकम्**

**तन्निवृत्तेः स्वर्गनरकादिषु रागद्वेषादिनिवृत्तिः फलमिति तस्य विशेषदर्शिनो लक्षणं संप्रज्ञातयोगं वक्ष्यमाणमुक्तेश्च कारणभूतमाह—तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्। कैवल्ये प्राग्भारो यस्य तत्कैवल्यप्राग्भारम्, कैवल्याभिमुखमिति यावत्। व्याचष्टे—तदानीमिति। तदानीं विशेषदर्शनावस्थायां स्वर्गादिवैराग्यवशात् चित्तमन्यथा भवतीत्यनेनान्वयः। विषय-प्राग्भारं विषयाभिमुखम्, अज्ञाननिम्नमज्ञानमार्गसंचारि। [1]एवमुत्तरत्र॥२६॥**

पूर्वप्रतिपादित आत्मभावभावना की निवृत्ति होने से विशेषदर्शी की स्वर्ग, नरकादि विषयों के प्रति क्रमशः होने वाली रागबुद्धि तथा द्वेषबुद्धि की निवृत्ति हो जाती है। यही रागादिनिवृत्ति भावनिवृत्ति का फल है। सम्प्रति, सूत्रकार विशेषदर्शी का स्वरूप (लक्षण) तथा आगे बतलाई जाने वाली मुक्ति के साधनभूत (कारण-भूत) सम्प्रज्ञात योग को सूत्रित करते हैं। सूत्र है—**'तदेति।' कैवल्ये प्राग्भारो यस्य तत्कैवल्यप्राग्भारम्'**—इस बहुव्रीहिपरक विग्रह के अनुसार कैवल्य की ओर जिसकी अभिमुखता है, ऐसे कैवल्याभिमुख चित्त को **'कैवल्यप्राग्भार'** कहते हैं। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'तदानीमिति।' 'तदानीं'** अर्थात् विशेषदर्शन की अवस्था में योगी का चित्त स्वर्गादिविषयक वैराग्य के कारण **'अन्यथा'** अर्थात् कैवल्यप्राग्भार वाला हो जाता है, इस प्रकार से वैयासिक वाक्य का अन्वय किया जाता है। **'विषयप्राग्भारं'** शब्द का अर्थ विषयाभिमुख (वाला चित्त) है तथा **'अज्ञाननिम्नम्'** पद का अर्थ अज्ञानमार्ग में सञ्चरण करने वाला चित्त है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती **कैवल्यप्राग्भारम्'**

---

1. क ग घ च छ—एवमुत्तरत्र, ख—विवेकेन इतरभेदेन जायमानं विवेकजज्ञानम् आत्मविवेक-साक्षात्कारस्तन्निम्नं तन्मार्गसंचारी भवतीत्यर्थः।

तथा 'विवेकज्ञाननिम्नम्' पद का अर्थ किया जाता है। अर्थात् कैवल्याभिमुख चित्त को 'कैवल्यप्राग्भार' तथा विवेकज्ञानमार्ग में सञ्चरणशील चित्त को 'विवेकज्ञाननिम्न' कहते हैं॥२६॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है–

**योगसूत्रम्**

## तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥२७॥

उस समाहित चित्त के अन्तरालों में (बीच-बीच में) व्युत्थान काल के संस्कारों से अन्य प्रत्यय भी उत्पन्न होते हैं॥२७॥

**व्यासभाष्यम्**

**[2]प्रत्ययविवेकनिम्नस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्याति[3]मात्रप्रवाहिणश्चित्तस्य तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराण्यस्मीति वा [4]ममेति वा [5]जानामीति वा न जानामीति वा। कुतः? क्षीयमाण[6]बीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति॥२७॥**

विवेकज्ञानाभिमुख तथा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्र रूप में प्रवाहित चित्त को उसके बीच-बीच में मैं हूँ अथवा यह मेरा है, मैं जान रहा हूँ अथवा मैं नहीं जान रहा हूँ–इस प्रकार के अन्य ज्ञान भी होते हैं। क्यों? (उत्तर है)– आगे क्षीण होने वाला है बीज जिनका ऐसे पूर्व संस्कारों से कभी-कभी विवेकज्ञान के शिथिल हो जाने पर इस प्रकार के प्रत्यय उत्पन्न होते रहते हैं॥२७॥

**तत्त्ववैशारदी**

**स्यादेतत्–विशेषदर्शनं चेद्विवेकनिष्ठं न जातु [7]चित्तं व्युत्थितं स्यात्। दृश्यते चास्य भिक्षामटतो व्युत्थितमित्यत आह–तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः। प्रत्ययेति।**

---

1. छिद्रेण–इति पाठान्तरम्।
2. क ग घ च छ थ द ध न प फ भ म य र–प्रत्ययविवेक०, झ त–विवेकप्रत्यय०, ख ज ब– प्रत्यय...../विवेक....नोपलभ्यते।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न भ–मात्रप्रवाहारोहिणः, घ प फ म य र–मात्रप्रवाहिणः, ब–प्रवाहाधिरोहिणः।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र–ममेति वा उपलभ्यते, म–ममेति वा नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–जानामीति वा न जानामीति उपलभ्यते, ब–जानामि....इति नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–बीजेभ्यः, ब–बीजस्य।
7. क ख घ च छ ज झ त थ ध न–चित्तम् उपलभ्यते, ग द–चित्तं नोपलभ्यते।

**प्रतीयते येन स प्रत्ययश्चित्तसत्त्वम्। तस्माद्विवेकश्चितेः। तेन निम्नस्य। जानामीति [1]ज्ञाना-न्[2]मोक्षो विविच्य दर्शितः। न जानामीति मोहः। तन्मूलावहङ्कारममकारावहमस्मीति वा ममेति वा दर्शितौ। क्षीयमाणानि च तानि बीजानि चेति समासः। पूर्वसंस्कारेभ्यो व्युत्थान-संस्कारेभ्यः॥२७॥**

**शङ्का**—ठीक है, विशेषदर्शी का कैवल्याभिमुख चित्त रहे किन्तु तब विवेकनिष्ठ (एकाग्र) चित्त कभी भी व्युत्थित अवस्था वाला नहीं होगा। किन्तु भिक्षाटन (स्नान, शौचादि व्यवहार) करते हुए विशेषदर्शी का चित्त व्युत्थित अर्थात् व्युत्थान अवस्था वाला देखा जाता है। (अतः यह विसंगति कैसी)?

**समाधान**—इस पर सूत्रकार कहते हैं—'**तच्छिद्रेष्विति**।' तत्त्ववैशारदीकार भाष्य की व्याख्या करते हैं—'**प्रत्ययेति**।' '**प्रत्यय**' शब्द की व्युत्पत्ति है—'**प्रतीयते येन स प्रत्ययः**' अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे '**प्रत्यय**' कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार '**प्रत्यय**' शब्द का अर्थ '**चित्तसत्त्व**' है, क्योंकि चित्त के द्वारा ही शब्दादि विषयों का ज्ञान होता है। ऐसे चित्तसत्त्व से गृहीत जो भेदज्ञान अर्थात् '**विवेक**' है, उस भेदप्रत्यय से निम्न अर्थात् विवेकमार्गसञ्चारी चित्त की व्युत्थानावस्था में अन्य प्रत्यय भी उदित होते रहते हैं। विशेषदर्शी की व्युत्थित अवस्था में होने वाले प्रत्ययों का विवरण करते हुए भाष्यकार ने जिन वाक्यों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है, सम्प्रति तत्त्ववैशारदीकार उन्हीं वाक्यों के अर्थ को स्पष्ट करते हैं—'**जानामि**' इससे मोक्ष को साक्षात् पृथक् करके दिखाया है। '**न जानामि**' इससे (विशेषदर्शी का) मोह प्रदर्शित किया गया है। '**अस्मि, ममेति**' द्वारा मोहमूलक अहंकार तथा ममकार को प्रदर्शित किया गया है। तत्त्ववैशारदीकार '**क्षीयमाणबीजानि**' पद की व्युत्पत्ति करते हैं—'**क्षीयमाणानि च तानि बीजानि चेति क्षीयमाणबीजानि**' अर्थात् जो बीज क्षीण हो रहे हैं, ऐसे क्षीयमाण बीजों के पूर्वसंस्कार अर्थात् व्युत्थान- संस्कारों से उक्त प्रकार के प्रत्ययान्तरों का उदय होता है। (इस प्रकार 'किस कारण से अन्य प्रत्यय होते हैं'—इत्याकारक शंका का भी समाधान हो जाता है)॥२७॥

**बालप्रिया**—

'**तच्छिद्रेषु**'—भाव यह है कि विवेकवाही चित्त के अन्तरालों अर्थात् बीच-बीच में पूर्वकालिक व्युत्थितवृत्तिजन्य संस्कारों से व्युत्थानप्रधान प्रत्ययान्तरों का उदय होता रहता है। अतः विशेषदर्शी के लिये इस संक्रान्तिकाल में सत्त्वपुरुषान्यता-ख्यातिसहकृत सम्प्रज्ञातयोग के प्रति ही निरोधात्मक अलंबुद्धि को जागरित करना

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—साक्षात्, न—ज्ञानात्।
2. क ख छ झ त—मोक्षे विविच्य दर्शिते, ग घ च ज थ द ध न—मोक्षो विविच्य दर्शितः।

ही कर्तव्यरूप में शेष नहीं रहता है, अपितु परवैराग्य नामक साधन से समुत्पन्न होने वाली असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति के लिये उक्त प्रत्ययान्तरों का निरोध भी अपेक्षित रहता है, तभी असम्प्रज्ञात में चित्त की वृत्तियों की निवृत्ति सम्भव हो सकती है। सूत्र द्वारा यही अभिप्राय बोधित हुआ है॥२७॥

### योगवार्त्तिकम्

**न चानेन कोमलकण्टकवद् उत्पन्नमात्रेण विशेषदर्शनेनैव कृतकृत्यता भवति, पूर्वसंस्कारवशाद् अन्तराऽन्तरा मोहाख्यानां भवदुःखबीजवृत्तीनामनुवृत्तेरित्याह—तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः। व्याचष्टे—विवेकेति। विवेकप्रत्ययनिम्नस्येत्यस्य विवरणं सत्त्वेत्यादि। सत्त्वपुरुषान्यतामात्रेण प्रवहणशीलस्येत्यर्थः। तच्छिद्रेषु स्थानेषु अविद्यारूपाणां प्रत्ययानामाकारा अस्मिताऽऽद्याश्च प्रदर्शिताः। अस्मीति देवमनुष्यादिरूपोऽस्मीत्यर्थः, केवलास्मितायाः संप्रज्ञातयोगेऽपि सत्त्वात्। क्षीयमाणेभ्यो बीजेभ्यः क्षीयमाणबीजेभ्यः, एतस्य विशेष्यं पूर्वसंस्कारेभ्य इति॥२७॥**

कोमलकण्टक की तरह विशेषदर्शन (विवेकज्ञान) की उत्पत्तिमात्र से ही चित्त कृतकृत्य (चरिताधिकार) नहीं हो जाता है अर्थात् पुरुष का कण्टकशून्य मोक्षमार्ग प्रशस्त नहीं होता है, क्योंकि पूर्वजन्मीय दृढ़ संस्कारों के कारण भवदुःख (संसारागमन) की हेतुभूता मोहकारिणी वृत्तियों का अनुवर्तन (पुनर्भाव) होता रहता है, इस तथ्य को पतञ्जलि अग्रिम सूत्र से सूत्रित करते हैं। सूत्र है—'**तच्छिद्रेष्विति**' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'**विवेकेति**' भाष्यगत '**विवेकप्रत्ययनिम्नस्य**' पद का ही विवरण है—'**सत्त्वेत्यादि**' '**विवेकप्रत्ययनिम्न**' पद का अर्थ है—सत्त्वपुरुषान्यता के समान। ऐसे विवेकज्ञानपरायण चित्त के '**छिद्रेषु**' अर्थात् स्थानों में अर्थात् व्युत्थानकाल में होने वाले अविद्यारूप प्रत्ययों का आकार तथा अस्मितादि का आकार पहले दिखलाया जा चुका है। '**अस्मि**' इत्याकारक प्रत्यय में देव, मनुष्यादि रूप वाला आकार है अर्थात् मैं देव अथवा मनुष्यादि रूप वाला हूँ, क्योंकि केवल '**अस्मि**' भाव तो सम्प्रज्ञातयोग में भी होता है। (अतः सम्प्रज्ञातयोगकालिक '**अस्मि**' प्रत्यय से व्युत्थानकालिक 'अस्मि' प्रत्यय का यही सूक्ष्म भेद है)। '**क्षीयमाणबीजेभ्यः**' इस विशेषणभूत पद का विशेष्य पद है—'**पूर्वसंस्कारेभ्यः**'। (भाष्यार्थ यह है—आगे क्षीण होने वाले पूर्व के व्युत्थानसंस्कारों से जब विवेकज्ञान शिथिल होने लगता है, तो अनेक प्रकार के व्युत्थित प्रत्यय चित्त में उत्पन्न होते हैं)॥२७॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

### योगसूत्रम्

## हानमेषां क्लेशवदुक्तम्॥२८॥

इन (व्युत्थान संस्कारों) का दग्धबीज होना क्लेशों के समान कहा गया है॥२८॥

### व्यासभाष्यम्

**यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोहसमर्था भवन्ति, तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति। ज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताधिकारसमाप्तिमनुशेरत इति न [1]चिन्त्यन्ते॥२८॥**

जिस प्रकार अविद्यादि क्लेश दग्धबीज को प्राप्त होते हुए अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि से दग्धबीजभाव को प्राप्त हुआ पूर्व संस्कार भी अन्य प्रत्यय को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है। विवेकज्ञान के संस्कार तो चित्ताधिकार की समाप्ति तक विद्यमान रहते हैं। अतः उनके विषय में विचार नहीं किया जाता है॥२८॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार प्रश्नपरक अवतरणिका के साथ सूत्र को उठाकर उसकी व्याख्या करते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

**स्यादेतत्—सत्यपि विवेक[2]विज्ञाने व्युत्थानसंस्कारा यदि प्रत्ययान्तराणि प्रसुवते कस्तर्हि हानहेतुरेतेषां यतः प्रत्ययान्तराणि न पुनः प्रसुवीरन्नित्यत आह—हानमेषां क्लेशवदुक्तम्। अपरिपक्वविवेकज्ञानस्याक्षीयमाणा व्युत्थानसंस्काराः प्रत्ययान्तरं प्रसुवते न [3]तु परिपक्वविवेक[4]ज्ञानस्य क्षीणाः प्रत्ययान्तराणि प्रसोतुमर्हन्ति। यथा विवेकच्छिद्रसमुत्पन्ना अपि क्लेशा न संस्कारान्तरं प्रसुवते। तत्कस्य हेतोः? तदेते क्लेशा विवेकज्ञानवह्निदग्धबीजभावा इति। एवं व्युत्थानसंस्कारा अपीति। अथ व्युत्थानसंस्कारा विवेकज्ञानसंस्कारैर्निरोद्धव्याः। विवेकसंस्काराश्च निरोधसंस्कारैः। निरोधसंस्काराणां [5]त्वबाह्यविषयत्वं दर्शितम्। निरोधोपायः प्रायश्चिन्तनीय इत्यत आह—ज्ञानसंस्कारास्त्विति। परवैराग्यसंस्कारा इत्यर्थः॥२८॥**

शङ्का—विवेकज्ञान के उत्पन्न होने पर भी यदि व्युत्थानसंस्कार अन्य (व्युत्थित) प्रत्ययों को उत्पन्न करते ही रहते हैं, तो ऐसा कौन सा उपाय है, जिसके करने से व्युत्थान संस्कार नष्ट होते हुए फिर से अन्य प्रत्ययों को कभी भी नियमित रूप से उत्पन्न न कर सकें?

---

1. क ख ग छ ज झ त थ द ध न—चिन्त्यते, घ च प फ ब भ म य र—चिन्त्यन्ते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—विज्ञाने, थ द ध—ज्ञाने।
3. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न—तु उपलभ्यते, ख—तु नोपलभ्यते।
4. क ज त—विज्ञानस्य, ख ग घ च छ झ थ द ध न—विवेकज्ञानस्य।
5. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—त्वबाह्य०, झ—च बाह्य०

**समाधान**—इस पर सूत्रकार (समाधानपक्ष की ओर से) कहते हैं—'**हानमिति**।' जिसे अविप्लुतविवेकज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है, ऐसे साधक के नाश को न प्राप्त हुए व्युत्थानसंस्कार व्युत्थानात्मक प्रत्यय को उत्पन्न करते रहते हैं। किन्तु जिस साधक का विवेकज्ञान पराकाष्ठा को प्राप्त हो चुकता है, उसके क्षीण हुए व्युत्थानसंस्कार प्रत्ययान्तर को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते हैं। जिस प्रकार विवेकज्ञान के बीच में उत्पन्न होते हुए भी ये अविद्यादिक्लेश अन्य संस्कारों को उत्पन्न नहीं करते हैं।

**शङ्का**—अन्य व्युत्थित संस्कारों के उत्पन्न न होने में क्या कारण है?

**समाधान**—विवेकज्ञानरूप अग्नि से क्लेशों की क्लेशदायकत्व शक्ति क्षीण हो जाती है। अतः दग्ध व्युत्थित संस्कारों से व्युत्थान प्रत्ययों का उदय होना कथमपि सम्भव नहीं है। इसलिये विवेकज्ञानजन्य संस्कारों से व्युत्थानसंस्कारों का निरोध करना चाहिये और विवेकज्ञानजन्य संस्कारों का निरोधसंस्कारों से निरोध करना चाहिये। निरोधसंस्कार तो बाह्यविषयक नहीं होते हैं, अतः निरोधसंस्कारों के निरोध का उपाय चिन्तनीय नहीं है, इसे भाष्यकार बतलाते हैं—'**ज्ञानसंस्कारास्त्विति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**ज्ञानसंस्कार**' पद का अर्थ है—परवैराग्यजन्य संस्कार॥२८॥

**बालप्रिया**—

'**अनुशेरते**'—इस पद का अर्थ है—**प्रतीक्षन्ते**। अर्थात् चित्ताधिकार की समाप्ति होने पर चित्त के साथ ही ज्ञानसंस्कारों का भी नाश हो जाता है। अतः ज्ञानसंस्कारों के नाश के लिये साधनविषयिणी चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। अर्थात् किस उपाय से ज्ञानसंस्कारों का नाश किया जाय?—यह तत्त्वज्ञ की चिन्ता का विषय नहीं रहता है॥२८॥

### योगवार्त्तिकम्

**ननु ज्ञाने जातेऽपि चेत् पूर्वसंस्कारवशाद्व्युत्थानदशायां कदा चिदविद्योदयः कथं तर्हि संप्रज्ञातप्रवाहेणाप्यविद्यानिवृत्तिः स्यात्? तत्राह—हानमेषां क्लेशवदुक्तम्। एषां संस्काराणां हानं दाहः स्वकार्यासामर्थ्यं क्लेशानामिवोक्तं पूर्वाचार्यैरित्यर्थः। ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः, ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः इति सूत्राभ्यां यथा स्थूलसूक्ष्मक्लेशानां तत्त्वज्ञानचित्तलयाभ्यां दाहनाशौ प्रोक्तौ तथा तत्संस्काराणामपीति फलितार्थः। एतदेव व्याचष्टे—यथेति। [1]यथा संप्रज्ञातयोगिनो व्युत्थानदशायां पूर्वसंस्कारजाः क्लेशा अविद्याऽऽदिवृत्तयो दग्धबीजतुल्याः सन्तो न संस्कारं जनयन्ति तथा पूर्वसंस्कारा अपि संप्रज्ञातपरंपराजनितेन निष्ठारूपेण**

---

1. क ग घ च छ—यथा संप्रज्ञातयोगिनो व्युत्थानदशायां...ज्ञाननाशोऽपि क्लेशवदुपलक्षित इति, ख—पूर्वसंस्कारः पूर्वकालीनस्य संस्कारोऽनागतावस्थः क्लेशसंस्कारः अत्र दाहेन नाशोऽपि क्लेशवदुपलक्षित इति।

ज्ञानाग्निना दग्धबीजतुल्याः सन्तः प्रत्ययं न प्रसुवत इत्यर्थः। पूर्वसंस्कारः प्राचीनः क्लेशसंस्कारः। ज्ञानकाले ज्ञानसंस्कारेण प्रतिबन्धात्संस्कारो नोत्पद्यत इत्याशयेन पूर्वपदम्। अत्र ज्ञाननाशोऽपि क्लेशवदुपलक्षित इति। नन्वेकदा चेद् दृष्टं मम जन्म मरणं दुःखादिकं नास्तीति तर्हि कदा चिदन्तराऽन्तरा मोहेऽपि तद्धानार्थं प्रवृत्तिर्नोपपद्यते, मोहस्यापि चित्तधर्मतायाः पूर्वं निश्चितत्वादिति चेत्? न; चित्तस्य मोहसत्त्वे पुनश्चित्तस्य भवदुःखोत्पत्त्या पुरुषस्य दुःखभोगः स्यादित्याशयेनैव ज्ञानिभिरपि चित्तस्यात्यन्ततो मोहनिवृत्त्यर्थं यतनात्। भोगश्च चिन्मात्र- स्यैवेत्यसकृदावेदितमिति। ननु संस्कारत्वाविशेषात्तत्त्वज्ञानसंस्कारा अपि किं संप्रज्ञातनिष्ठया नश्यन्ति? नेत्याह—ज्ञानसंस्कारास्त्विति। अविरुद्धत्वादिति शेषः। तर्हि कथं तेषां नाशः स्यादिति? तत्राह—इति न चिन्त्यन्त इति। अधिकारसमाप्तौ चित्तेन सहैव तेषां नाशात्त- त्साधनचिन्ता नास्तीत्यर्थः, आशुमुमुक्षूणां त्वसंप्रज्ञातेनापि तन्नाशश्चिन्तित इति

शङ्का—विवेकज्ञान के उत्पन्न होने पर भी यदि पूर्वजन्मीय दृढतर व्युत्थानात्मक संस्कार के कारण व्युत्थानकाल में कदाचित् अविद्या का उदय हो सकता है तो फिर सम्प्रज्ञातप्रवाह (सम्प्रज्ञातकालिक विवेकधारा) से भी अविद्या की निवृत्ति कैसे हो सकेगी? अर्थात् विवेकप्रत्यय में व्युत्थित प्रत्यय को रोकने की शक्ति नहीं है।

समाधान—उक्त शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—'हानमिति।' पूर्वाचार्यों ने अविद्यादि क्लेशों की भाँति अविद्यादिजन्य संस्कारों का भी 'हान' अर्थात् स्वकार्य-करणासामर्थ्यरूप दाह बतलाया है। सूत्र का फलितार्थ यह है—'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः' (२/११) तथा 'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः' (२/१०)—इन दो सूत्रों के द्वारा सूत्रकार ने जिस प्रकार स्थूलक्लेशों तथा सूक्ष्मक्लेशों के क्रमशः तत्त्वज्ञान तथा चित्तलयरूप-उपायों के द्वारा दाहात्मक नाश को विधिवत् बतलाया है उसी प्रकार तज्जन्य संस्कारों का भी नाश विहित है। सूत्र के इसी अभिप्राय को भाष्यकार बतलाते हैं—'यथेति।' जिस प्रकार सम्प्रज्ञातप्राप्त योगी के व्युत्थानकाल में (अर्थात् चित्त की व्युत्थित अवस्था में) पूर्वसंस्कारजन्य 'क्लेश' अर्थात् अविद्यादिवृत्तियाँ (अर्थात् अनित्य में नित्यबुद्धि, अशुचि में शुचिबुद्धि, दुःख में सुखबुद्धि तथा अनात्म में आत्मबुद्धिरूप वृत्तियाँ) दग्धबीजभाव को प्राप्त होकर संस्कार को उत्पन्न नहीं करती हैं, उसी प्रकार पूर्ववर्ती (व्युत्थितवृत्तिजन्य) व्युत्थितसंस्कार भी सम्प्रज्ञात-परम्परा से जनित निष्ठारूपज्ञानाग्नि द्वारा दग्धबीजभाव के समान होकर वृत्ति (प्रत्यय) को उत्पन्न नहीं करते हैं। यहाँ 'पूर्वसंस्कारः' पद से प्राक्तन क्लेशात्मक संस्कार का ग्रहण होता है। वार्त्तिककार का कहना है कि ज्ञानकाल में (अर्थात् सम्प्रज्ञातयोग के समय उत्पन्न ज्ञानात्मक संस्कार से प्रतिबद्ध (अभिभूत, दग्ध) हो जाने से व्युत्थानसंस्कार का उदय नहीं हो पाता है, इसी अभिप्राय से (ज्ञानाग्नि द्वारा व्युत्थित संस्कारों के दग्धीकरण में) 'पूर्व' पद का प्रयोग किया है। अर्थात्

सम्प्रज्ञातसमाधि की प्राप्ति से पूर्व व्युत्थितवृत्ति से पुञ्जीभूत संस्कारों का ही सम्प्रज्ञातयोग द्वारा उदित विवेकाग्नि द्वारा भस्मीकरण होता है, यह प्रदर्शित करने के लिये भाष्यकार ने **'पूर्वसंस्कारः'** पद में **'पूर्व'** शब्द का प्रयोग किया है। जिस प्रकार व्युत्थित वृत्ति और तज्जन्य संस्कारों का नाश यहाँ कहा गया है उसी प्रकार विवेकवृत्ति (ज्ञानवृत्ति) तथा तज्जन्य संस्कारों का नाश भी यहाँ उपलक्षित है। (तभी असम्प्रज्ञात योग और तत्पश्चात् मोक्ष की प्राप्ति होती है)।

**शङ्का**—एक बार ऐसा ज्ञान हो जाने पर कि **'दृष्टं मम जन्म मरणं दुःखादिकं नास्ति'** अर्थात् 'मुझ पुरुष के जन्म-मरणादि दुःख नहीं होते हैं' तो ज्ञान के बीच में यदा-कदा मोहात्मकवृत्ति होने पर भी उसके नाशार्थ प्रवृत्ति (प्रयत्न) की अपेक्षा नहीं रह जाती है, क्योंकि 'मोह भी चित्त का धर्म है', ऐसा पूर्वनिश्चय (पूर्वज्ञान) साधक को रहता ही है?

**समाधान**—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि चित्त के मोहयुक्त होने पर चित्त को पुनः संसारदुःख की उत्पत्ति होगी जिससे (अज्ञानतावशात्) पुरुष को भी दुःख भोगना पड़ेगा। इसी अभिप्राय से ज्ञानिजन चित्त में होने वाले मोह की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये भी प्रयत्नशील रहते हैं। और भोग तो चिन्मात्र पुरुष को ही बार-बार भोगना पड़ता है।

**शङ्का**—संस्कारत्व की तुल्यता (अविलक्षणता) के कारण तत्त्वज्ञानात्मक संस्कार भी (व्युत्थानात्मक संस्कार की तरह) क्या सम्प्रज्ञात समाधि के दार्ढ्य से नष्ट हो जाते हैं?

**समाधान**—नकारात्मक उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं—**'ज्ञानसंस्कारास्त्विति'।** व्युत्थानसंस्कार समाधि के विरोधी होने से उनका विवेकज्ञान से नाश होता है किन्तु विवेकजसंस्कार समाधि के विरोधी नहीं होते हैं। अतः उनका नाश नहीं होता है, इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्रकृत भाष्यपंक्ति के लिये वार्तिककार कहते हैं कि **'अविरुद्धत्वात्'** यह वाक्यशेष है।

**शङ्का**—तो फिर इन विवेकज्ञानात्मक संस्कारों का नाश कैसे होता है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'इति न चिन्त्यन्त इति'** (भोग और मोक्षरूप) अधिकार की समाप्ति होने पर चित्त के साथ ही प्रज्ञात्मक संस्कारों का नाश हो जाता है। अतः प्रज्ञात्मक संस्कारों के नाश के लिये साधनचिन्ता (पृथक् प्रयास) की आवश्यकता नहीं रह जाती है। किन्तु अतिशीघ्र मोक्ष के इच्छुक योगी असम्प्रज्ञात योग से भी विवेकसंस्कारों का नाश कर लेते हैं॥२८॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

### योगसूत्रम्

**प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥२९॥**

विवेकसाक्षात्कार के प्रति भी वीतरागता को प्राप्त हुए योगी को सर्वथा अर्थात् निर्बाध 'धर्ममेघसमाधि' प्राप्त होती है॥२९॥

### व्यासभाष्यम्

**यदायं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्ततोऽपि न किञ्चित्प्रार्थयते। तत्रापि [1]विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते। तदास्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति॥२९॥**

जब यह ब्राह्मण योगी 'प्रसंख्यान' अर्थात् विवेकख्याति में भी वीतराग रहता है अर्थात् उस विवेकज्ञानरूप सिद्धि से भी किसी बात की कामना नहीं करता है तब उस विवेकख्याति और उसके फल के विषय में भी विरक्त योगी को निरन्तर विवेकख्याति ही उत्पन्न होती रहती है। अतः व्युत्थानावस्था के संस्कार के बीजभूत अविद्यादि का क्षय होने से इस योगी (के चित्त) में अन्य लौकिक प्रत्यय उत्पन्न नहीं होते हैं। इस स्थिति में योगी को 'धर्ममेघ' समाधि प्राप्त होती है॥२९॥

### तत्त्ववैशारदी

**तदेवं सूत्रकारो व्युत्थाननिरोधोपायं [2]प्रसंख्यानमुक्त्वा प्रसंख्याननिरोधोपायमाह—प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। [3]ततः प्रसंख्यानाद[4]पि न किञ्चित्सर्वभावाधिष्ठातृत्वादि प्रार्थयते। प्रत्युत तत्रापि क्लिश्नाति, परिणामित्वदोषदर्शनेन विरक्तः सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवति। एतदेव विवृणोति—[5]तत्रापीति। [6]यदा व्युत्थानप्रत्यया भवेयुस्तदा नायं ब्राह्मणः सर्वथा विवेकख्यातिः। यतस्तस्य न प्रत्ययान्तराणि भवन्ति ततः सर्वथा विवेकख्यातिरिति। तदास्य धर्ममेघः समाधिर्भवति। एतदुक्तं भवति—प्रसंख्याने विरक्तस्तन्निरोधमिच्छन्धर्ममेघं समाधिमुपासीत। तदुपासने च, [7]सर्वथा विवेकख्यातिर्भवति। तथा च तं निरोद्धुं पारयतीति॥२९॥**

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—विरक्तस्य, ब—विरक्तः।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—प्रसंख्यानमुक्त्वा, न—प्रसंख्यानमुक्त्वा नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न—ततः, थ द ध—ततोऽपि।
4. थ द ध—अपि उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—अपि नोपलभ्यते।
5. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न—तत्रापीति, ख—यदा चेति।
6. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न—यदा, ख—यदि।
7. क ख ग घ च छ ज झ त न—सर्वथा, थ द ध—सर्वदा।

इस प्रकार व्युत्थान के निरोध के उपायभूत 'प्रसंख्यान' को बतलाकर सम्प्रति, सूत्रकार प्रसंख्यान के निरोध के उपाय को बतलाते हैं—**'प्रसंख्यान इति।'** **'प्रसंख्यान-समाधि'** के प्रति अकुसीदभाव रखने वाला योगी उस प्रसंख्यान से भी सर्वभावाधिष्ठातृत्व आदि सिद्धियों की कामना नहीं करता है, अपितु इन सिद्धियों के प्रति भी क्लेशबुद्धि रखता है। इन सिद्धियों में परिणामित्व आदि दोषदर्शन से विरक्त हुए योगी को सर्वदा विवेकख्याति ही होती है। इसी तथ्य का विशदीकरण भाष्यकार करते हैं—**'तत्रापीति।'** जब तक व्युत्थानप्रत्यय रहते हैं तब तक ब्राह्मण को अविप्लुतविवेकख्याति प्राप्त नहीं होती है। क्योंकि जब (योगी के चित्त में) व्युत्थानप्रत्यय (उदित) नहीं होते हैं, तभी नितान्त रूप से विवेकख्याति होती है। ऐसी स्थिति में (विवेकख्याति के पराकाष्ठा को प्राप्त होने पर) साधक को **'धर्ममेघ'** समाधि प्राप्त होती है। अभिप्राय यह है—प्रसंख्यान में विरक्त होकर विवेकजज्ञान के निरोध की इच्छा करता हुआ योगी धर्ममेघसमाधि की उपासना करे और धर्ममेघ समाधि की उपासना करने पर उसे अविप्लुतविवेकख्याति प्राप्त होती है। फलतः योगी 'प्रसंख्यान' का भी निरोध करने में समर्थ होता है॥२९॥

**बालप्रिया—**

**'प्रसंख्यानेऽपि....'**—'प्रसंख्यान' शब्द का अर्थ है—विवेकजज्ञान। इस विवेकजज्ञान के प्रति भी वैराग्यबुद्धि रखने वाले योगी को **'अकुसीद'** कहते हैं। जब योगी प्रसंख्यान से निश्चित सम्भाव्यमान फल के प्रति भी तृष्णाशून्य रहता है तब उसके व्युत्थान-संस्कार और योगान्तराय का नितान्त नाश हो जाता है और निरन्तर विवेकख्याति होते रहने से 'धर्ममेघ' नाम वाली सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठारूप समाधि होती है।

'धर्ममेघः'—इस पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यह है—**'धर्मः= प्रत्यग्ब्रह्मैक्यसाक्षात्कारः तं मेहति=सिञ्चति वर्षतीति धर्ममेघः'** अर्थात् जो प्रत्यग्ब्रह्मैक्यसाक्षात्कार की वर्षा करती है, उसे 'धर्ममेघ समाधि' कहते हैं। वचन है—**'अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्म-दर्शनम्'**॥२९॥

## योगवार्त्तिकम्

**उक्तस्य संस्कारहानस्य प्रकारमाह सूत्रद्वयेन—प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। प्रसंख्यानं विवेकसाक्षात्कारः, तत्रापि योऽकुसीदः [1]कृषीवलवत् सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिरूपां सिद्धिं न प्रार्थयते तस्य योगविघ्नाभावेन सर्वथा निरन्तरं विवेकख्यात्युदयाद् धर्ममेघनाम्नो संप्रज्ञातयोगस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः। तदेतद्व्याचष्टे—यदेति। तत्रापि तत्फलेऽपि। सर्वथाशब्दार्थमाह—संस्कारेति। संस्काररूपस्य बीजस्य क्रमेण क्षयाद्दाहा-**

---

1. क ग घ च छ—कृषीवलवत्, ख—वार्धुषिकवत्।

**क्षीयमानाद्धेतोः प्रत्ययान्तराणि अविद्याऽ[1]न्तराणि यदा न जायन्ते तदा धर्ममेघसमाधि-रित्यर्थः। क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलकं धर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः॥२९॥**

सूत्रकार प्रज्ञात्मक संस्कार के हान के प्रकार को सूत्रद्वय द्वारा अंकित करते हैं। पहला सूत्र है—'**प्रसंख्यान इति**।' 'प्रसंख्यान' शब्द का अर्थ विवेकसाक्षात्कार है। प्रसंख्यान समाधि प्राप्त हो जाने पर भी जो योगी व्याज को न चाहते हुए भी मात्र कृषि से अपना जन्म-भरण करने वाले कृषक की भाँति सर्वभावाधिष्ठातृत्वरूप सिद्धि (३/४९) की कामना (अभिलाषा) नहीं करता है, ऐसे योगी के लिये योग के विघ्न-कारी तत्त्वों का अभाव हो जाने से अविरल गति से विवेकख्याति का उदय होता है। यह 'धर्ममेघ' नाम की विवेकख्याति सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा है। भाष्यकार इस तथ्य का विश्लेषण करते हैं—'**यदेति**।' भाष्यगत 'तत्रापि' शब्द का अर्थ है—'विवेक-साक्षात्कारजन्य फल के विषय में भी' अर्थात् सर्वभावाधिष्ठातृत्वरूप फल के विषय में योगी की अकुसीदवृत्ति होती है। भाष्यकार सूत्रगत 'सर्वथा' शब्द का अर्थ करते हैं—'**संस्कारेति**।' व्युत्थानसंस्काररूप बीज का क्रमशः 'क्षय' अर्थात् दाह (आत्यन्तिक अतीतता) होने से जब अविद्यादि प्रत्ययान्तर का आविर्भाव नहीं होता है अर्थात् आविद्यिक वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं तब साधक को 'धर्ममेघ' समाधि प्राप्त होती है। वार्त्तिककार 'धर्ममेघ' पद की व्युत्पत्ति करते हैं—(**क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलकं**) '**धर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः**' अर्थात् (क्लेश, कर्मादि के समूलोन्मूलक) धर्म की जो वर्षा करती है, उसे 'धर्ममेघ' कहते हैं॥२९॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

**योगसूत्रम्**

## ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥३०॥

### तदनन्तर (धर्ममेघ समाधि के पश्चात्) क्लेश और कर्म की निवृत्ति हो जाती है॥३०॥

**व्यासभाष्यम्**

**तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः [2]समूलकाषं कषिता भवन्ति। कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति। क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान्विमुक्तो भवति। कस्मात्? यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्। न हि [3]क्षीणविपर्ययः कश्चित्के-**

---

1. क घ च छ—अन्तराणि, ख ग—रूपाणि।
2. क ख घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—समूलकाषं कषिताः, ग—समूलकाषाय कषिताः, झ—समूलकाः संकर्षिताः।
3. ख ग च छ ज झ त थ द ध न—क्लेश० (क्षीण०—पश्चात्) उपलभ्यते, क घ प फ ब भ म य र—क्लेश० नोपलभ्यते।

**नचित्क्वचिज्जातो दृश्यत इति॥३०॥**

उस (धर्ममेघसमाधि) के लाभ से अविद्यादि क्लेश समूलोन्मूलित हो जाते हैं। पुण्यात्मक एवं पापात्मक कर्माशय मूलसहित विनष्ट हो जाते हैं। क्लेश और कर्म की निवृत्ति होने पर तत्त्वज्ञ योगी जीवित रहते हुए ही विमुक्त हो जाता है। क्यों? क्योंकि विपर्ययात्मक अज्ञान ही संसार का कारण है। जिस विद्वान् योगी का मिथ्याज्ञान समाप्त हो गया है, वह पुनः उत्पन्न होता हुआ किसी के द्वारा नहीं देखा जाता है॥३०॥

## तत्त्ववैशारदी

**तस्य च प्रयोजनमाह—ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। कस्मात्पुनर्जीवन्नेव [1]विद्वान्वि[2]मुक्तो भवति? उत्तरम्—यस्मादिति क्लेशकर्मवासनेद्धः किल कर्माशयो जात्यादिनिदानम्। न चासति निदाने निदानी भवितुमर्हति। यथाहात्र [3]भगवानक्षपादः—वीतरागजन्मादर्शनात् इति॥३०॥**

सम्प्रति, सूत्रकार यथोक्त धर्ममेघसमाधि से प्राप्त होने वाले फल को बताते हैं— **'तत इति।'**

**शङ्का**—किस कारण से विद्वान् योगी जीवित रहता हुआ भी मुक्त हो जाता है?

**समाधान**—भाष्यकार उत्तर देते हैं—**'यस्मादिति।'** क्लेशजन्य कर्म और कर्मजन्य वासना से युक्त कर्माशय ही जात्यादि विपाक का कारण होता है। किन्तु जब कर्माशयरूप कारण ही नहीं रहता है, तो उसका जन्मादि विपाकरूप कार्य भी कैसे उत्पन्न हो सकता है। अर्थात् कारण के न रहने पर कार्य की असत्ता—अनुद्भवता अवश्यंभावी है। इसी तथ्य को भगवान् अक्षपाद ने भी कहा है—**'वीतरागजन्मादर्शनात्'** (न्या. सू. ३/१/२४) अर्थात् जिसका राग नष्ट हो गया है, उसका पुनः संसार नहीं देखा जाता है॥३०॥

**बालप्रिया**—

**'क्लेशकर्मनिवृत्तिः'**—इस सूत्र में क्लेशकर्मनिवृत्ति के कथन से संस्कारसहित क्लेशादि की उच्छिन्नता विवक्षित है॥३०॥

## योगवार्त्तिकम्

**अस्य समाधेर्धर्मद्वारकफलं द्वितीयमोक्षमाह—ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। दाहः समाप्तिः। व्याचष्टे—तल्लाभादिति। समूलकाषमिति। मूलं क्लेशसंस्कारास्तैः सह क्लेशा अभिनिवे-**

---

1. घ च छ ज झ त न—विद्वान् उपलभ्यते, क ख ग थ द ध—विद्वान् नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—विमुक्तः, थ द ध—मुक्तः।
3. क घ च छ ज झ त थ द ध न—भगवान्, ख ग—भवान्।

शातिरिक्ताश्छिन्ना भवन्ति, अत एव कर्माशयाश्च प्रारब्धातिरिक्ताः क्लेशाख्यमूलेन सह हताः स्युरतो न पुनरुत्पद्यन्त इत्यर्थः। ननु दुःखात्यन्तनिवृत्तिरेव मोक्षः, जीवतश्चावश्यं दुःखम्, न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति इति श्रुतेः, तत्कथं जीवन्मुक्तिरित्याशयेन पृच्छति—कस्मादिति। उत्तरम्—यस्मादिति। तथा च दुःखनिदानात्यन्तो[1]च्छेदाय गौणमुक्तित्वमिति भावः। अत्र प्रमाणमनुपलब्धिमाह—न हीति। तदुक्तं गोतमाचार्यैः—वीतरागजन्मादर्शनात् इति। अयमपि मोक्षः पञ्चशिखाचार्यैरुक्तः—द्वितीयो रागसंक्षयादिति। अत्र जीवन्मुक्तस्य सवासनक्लेशात्यन्तदाहनिर्णयाद् आधुनिकवेदान्तिनामविद्याक्लेशस्वीकारोऽविद्यामूलक एवेति स्मर्त्तव्यम्॥३०॥

इस सम्प्रज्ञातसमाधि के धर्ममेघनाम्नी पराकाष्ठा द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्षरूप द्वितीय फल को पतञ्जलि सूत्रित करते हैं—'तत इति' सूत्रगत 'निवृत्तिः' पद का अर्थ दाहात्मक समाप्ति अर्थात् क्लेश तथा तज्जन्य कर्म का अपुनरुद्भव है। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'तल्लाभादिति' 'समूलकाषमिति' क्लेशजन्य संस्कार 'मूल' पद का अर्थ है। इन क्लेशात्मक संस्कारों के साथ अभिनिवेश को छोड़कर अविद्यादि चार क्लेश छिन्न (दग्ध) हो जाते हैं। इसलिये प्रारब्ध को छोड़कर अन्य कर्माशय भी अविद्यादि क्लेशमूल के साथ हताहत हो जाते हैं अर्थात् उनका पुनरुद्भव नहीं होता है।

शङ्का—दुःख का आत्यन्तिक रूप से नाश होना ही मोक्ष है और जीते हुए व्यक्ति (शरीरधारी योगी) को दुःख का अनुभव अवश्य ही होता है, इसमें श्रुतिवाक्य प्रमाण है—'न ह वै....रहतिरस्ति' (छा. उप. ८/१२/१) अर्थात् 'शरीरयुक्त रहने पर इसमें प्रिय-अप्रिय का अन्त नहीं होता है।' अतः यह कैसे कहा जाता है कि विद्वान् जीते जी मुक्त हो जाता है? इसी अभिप्राय को ध्यान में रखते हुए (भाष्य में) प्रश्न किया जा रहा है—'कस्मादिति'

समाधान—भाष्यकार उत्तर देते हैं—'यस्मादिति' दुःखात्मक संसार के हेतुभूत 'विपर्यय' का आत्यन्तिक उच्छेद करने के लिये (जीवन्मुक्तिसंज्ञक) गौण मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। (भाव यह है कि जन्म-मरण का हेतुभूत मिथ्याज्ञान ही संसार का कारण है। अतः दुःख के कारण की आत्यन्तिकी निवृत्ति को 'गौणमुक्ति' कहा गया है। अतः जीवन्मुक्ति की मान्यता असंगत नहीं है)। जीवन्मुक्ति के विषय में भाष्यकार अनुपलब्धि प्रमाण को प्रस्तुत करते हैं—'न हीति' अर्थात् क्षीणक्लेश योगी को पुनः उत्पन्न होता हुआ किसी ने नहीं देखा है। इसी बात को न्यायदर्शन के आचार्य गौतम ने भी कहा है—'वीतरागजन्मादर्शनात्' (३/१/२४) अर्थात् 'वीतराग पुरुष का

---

1. क ख ग घ च—उच्छेदस्य, छ—उच्छेदाय।

जन्म दिखलाई नहीं पड़ता है।' इस मोक्ष को पञ्चशिखाचार्य ने भी बतलाया है— **'द्वितीयो रागसंक्षयादिति।'** यहाँ जीवन्मुक्त योगी के 'वासनासहित क्लेश के आत्यन्तिक नाश' की वार्ता निर्णीत हो जाने से, आधुनिक वेदान्तियों का वह मत अविद्यामूलक ही समझना चाहिये, जिसमें वे जीवन्मुक्ति की अवस्था में आविद्यिक क्लेश को स्वीकार करते हैं॥३०॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के बिना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

### योगसूत्रम्

## तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्॥३१॥

उस समय समस्त आवरणमलों से रहित ज्ञान के अनन्त हो जाने से ज्ञेय स्वल्प रह जाता है॥३१॥

### व्यासभाष्यम्

**सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति। [1]आवरकेण तमसाभिभूतमा[2]वृतमनन्तं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति। तत्र यदा सर्वैरावरणमलैर[3]पगतं भवति तदा भवत्य[4]स्यानन्त्यम्। ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं संपद्यते; यथा—आकाशे खद्योतः यत्रेदमुक्तम्—**

**अन्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत्।**
**अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥[5]इति॥३१॥**

क्लेश, कर्मादि सम्पूर्ण आवरणों से विमुक्त चित्त का आनन्त्य होता है। आच्छादित करने वाले तमोगुण से अभिभूत तथा आच्छादित अनन्त चित्तसत्त्व रजोगुण के द्वारा अनावृत एवं प्रवर्तित किया जाकर किसी-किसी विषय को ही ग्रहण करने में समर्थ होता है। वही (चित्त) जब सभी आवरणमलों से रहित तथा निर्मल हो जाता है, तब उसकी अनन्तता होती

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म प र—आवरकेण उपलभ्यते, द—आवरकेण नोपलभ्यते।
2. क ख ग च छ ज थ द ध न ब भ म—आवृतमनन्तं ज्ञानसत्त्वं, घ प फ य र—आवृतज्ञानसत्त्वं, झ त—आवृतमनन्तज्ञानं सर्वम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न ब भ म र—अपगतं, प फ य—अपगतमलम्।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य र—अस्य, फ—तस्य।
5. थ—देहेन्द्रियान्तःकरणशून्या विवेकख्यातिः सैव तदन्वयेन मणिविन्धनादिकमकरोदित्यर्थः (इति—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—देहेन्द्रिय....इत्यर्थः नोपलभ्यते।

है। ज्ञान की अनन्तता के कारण ज्ञेय नितान्त स्वल्प हो जाता है। जैसे, आकाश में खद्योत। इस पर यह बात कही गई है—'अन्धे व्यक्ति ने वज्र से मणि में छेद बना दिया। अंगुलिविहीन व्यक्ति ने उस मणि को सूत्र में पिरो दिया। गर्दनविहीन व्यक्ति ने उसे अपने गले में धारण कर लिया और जिह्वा-विहीन व्यक्ति ने उसकी प्रशंसा की'॥३१॥

### तत्त्ववैशारदी

अथैवं धर्ममेघे सति कीदृशं चित्तमित्यत आह—तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्। आव्रियते चित्तसत्त्वमे[1]भिरित्यावरणानि मलाः क्लेशकर्माणि। सर्वे च त आवरणमलाश्चेति सर्वावरणमलाः। तेभ्योऽपेतस्य [2]चित्तसत्त्वस्य ज्ञानस्य ज्ञायतेऽनेनेत्यनया व्युत्पत्त्या, आनन्त्यादपरिमेयत्वाज्ज्ञेयमल्पम्। यथा हि शरदि घनपटल[3]मुक्तस्य चण्डार्चिषः परितः प्रद्योतमानस्य प्रकाशानन्त्यात्प्रकाश्या घटादयोऽल्पाः प्रकाशन्त एवमपगतरजस्तमसश्चित्तसत्त्वस्य प्रकाशानन्त्यादल्पं प्रकाश्यमिति। तदेतदाह—सर्वैरिति। एतदेव व्यतिरेकमुखेन स्फोरयति—आवरकेण तमसाभिभूतमिति। क्रियाशीलेन रजसा प्रवर्तितमत एवोद्घाटितम्। प्रदेशादपनीतं तम इत्यर्थः। अत एव सर्वान्धर्माञ्ज्ञेयान्मेहति वर्षति प्रकाशनेनेति धर्ममेघ इत्युच्यते। नन्वयमस्तु धर्ममेघः समाधिः सवासनक्लेशकर्माशयप्रशमहेतुः, अथ सत्यप्यस्मिन्कस्मान्न जायते पुनर्जन्तुरित्यत आह—यत्रेदमुक्तमिति। कारणसमुच्छेदादपि चेत्कार्यं क्रियते हन्त भो मणिवेधादयोऽन्धादिभ्यो भवेयुः प्रत्यक्षाः। तथा चानुपपन्नार्थतायामाभाणको लौकिक उपपन्नार्थः स्यात्—अविध्यदन्धो मणिमिति। आवयद् ग्रथितवान्। प्रत्यमुञ्चत्पिनद्धवान्। अभ्यपूजयत्स्तुतवानिति॥३१॥

शङ्का—इस प्रकार धर्ममेघसमाधि प्राप्त होने पर (समाधिनिष्ठ योगी का) चित्त किस प्रकार के स्वरूप वाला होता है?

समाधान—इस पर सूत्रकार कहते हैं—'तदेति' जिनके द्वारा चित्तसत्त्व आवृत किया जाता है, उन्हें 'आवरण' कहते हैं—इस व्युत्पत्ति के अनुसार (प्रकृत में) क्लेशकर्मरूप मलों को 'आवरण' कहा गया है। इन सभी आवरणरूप मलों को सूत्र में 'सर्वावरण-मल' कहा गया है। इन मलों से 'अपेत' अर्थात् रहित चित्तसत्त्व के ज्ञान का—'ज्ञायतेऽनेनेति' अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार—'आनन्त्य' अर्थात् अपरिमेयत्व (निस्सीमत्व) होने से 'ज्ञेय' अर्थात् बाह्य विषय सान्त अर्थात् 'अल्प' (ससीम) हो जाता है। जिस प्रकार शरद् ऋतु में मेघविनिर्मुक्त सर्वत्र प्रकाश-

---

1. क घ च छ ज झ त थ द ध न—एभिः, ख ग—एतैः।
2. क ग घ च छ ज झ थ द ध न—चित्तसत्त्वस्य ज्ञानस्य, ख त—ज्ञानस्य चित्तसत्त्वस्य।
3. क घ च छ ज झ त न—मुक्तस्य, ख ग थ द ध—मुक्त०।

मान प्रचण्ड सूर्य की किरणों का आनन्त्य होने से प्रकाश्यभूत घटादि 'अल्प' रूप से प्रकाशित होते हैं। उसी प्रकार रजस् एवं तमस् रूप आवरण से वियुक्त चित्तसत्त्व के प्रकाश का आनन्त्य होने से 'प्रकाश्य' अर्थात् प्रकाश योग्य घट, पटादि बाह्य पदार्थ 'अल्प' अर्थात् नगण्य (तुच्छ) हो जाते हैं। सूत्रगत इसी तथ्य का प्रतिपादन भाष्यकार करते हैं—**'सर्वैरिति।'** सकल क्लेश, कर्मादि आवरणों से रहित चित्त का आनन्त्य होता है, इसी तथ्य को भाष्यकार व्यतिरेकमुख अर्थात् निषेधमुख से स्फुरित अर्थात् विशदीकृत करते हैं—**'आवरकेण तमसाभिभूतमिति।'** यह चित्तसत्त्व रजोगुण द्वारा प्रवर्तित होता है, अत एव तमोगुण के द्वारा अभिभूत अनन्त ज्ञान-सत्त्व रजोगुण के द्वारा कदाचित् 'उद्घाटित' अर्थात् विषय प्रदेश से क्षीण तम वाला होता है। ऐसा चित्त प्रकाशन-क्रिया द्वारा निखिल बाह्य धर्मों अर्थात् ज्ञेय पदार्थों की वर्षा करता है, अतः उसे **'धर्ममेघसमाधि'** वाला कहते हैं।

**शङ्का**—यह धर्ममेघसमाधि वासनासहित क्लेशजन्य कर्माशय के नाश का हेतु भले ही हो, किन्तु इस स्थिति में भी धर्ममेघसमाधिनिष्ठ योगी का पुनर्जन्म किस कारण से नहीं होता है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'यत्रेदमुक्तमिति।'** यदि कारण का नाश होने पर भी कार्य की उत्पत्ति होने लगेगी तब तो नेत्रहीनों के द्वारा मणि-छेदन आदि क्रियाएँ भी दिखलाई पडने लगेंगी। अर्थात् रूपादिदर्शन में असमर्थ अन्धादि व्यक्तियों में रूपप्रत्यक्ष जैसी क्रियाओं का सामर्थ्य निहित मानना पडेगा। जिससे किसी पदार्थ की अनुपपन्नता बतलाने के लिये प्रयुक्त उक्त लौकिक आभाणक भी उपपन्न होने लगेगा। अर्थात् कारण के विना भी कार्य की उत्पत्ति मानने पर असम्भव स्थिति का प्रतिपादक आभाणक भी सत्य सिद्ध होने लगेगा। **'अविध्यदन्धो मणिमिति।'** श्लोक में प्रयुक्त **'आवयत्'** ('वेञ्' तन्तुसंताने) क्रियापद का अर्थ है—गूँथना अर्थात् गुम्फित किया जाना, **'अभ्यपूजयत्'** क्रियापद का अर्थ है—स्तुति करना॥ ३१॥

**बालप्रिया—**

**'तदा'**—इस पद के प्रयोग से सूत्र में योगी की जीवन्मुक्त अवस्था का बोध कराया गया है।

**'ज्ञेयमल्पम्'**—जीवन्मुक्त के ज्ञान का आनन्त्य होने पर ज्ञेय की अल्पता इस दृष्टि से कही गई है कि पञ्चविंशतितत्त्व के साक्षात्कार के पश्चात् साधक के पास और कोई तत्त्व प्रकाशार्थ नहीं रह जाता है, यदि होता तो योगी उसका भी प्रत्यक्ष कर लेता। इस प्रकार ज्ञेय के अल्प होने के कारण ही दिव्य चक्षु वाले योगी को पञ्चविंशतितत्त्वातिरिक्त किसी तत्त्व का भास नहीं होता है। यही 'अल्प' शब्द का अभिप्राय है। अतः 'अल्प' शब्द से सत्त्व की अल्पता नहीं समझनी चाहिये।

'आभाणकः'—आभाणक उसे कहते हैं, जो असम्भव अर्थ के प्रतिपादक तथा हास्यजनक कथानक से सम्बन्धित होता है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में स्वामी श्रीविद्यारण्य ने इस श्लोक को श्रुतिवाक्य कहा है॥३१॥

**योगवार्त्तिकम्**

**इदानीं जीवन्मुक्तस्य परममुक्तिप्रकारमाह सूत्रद्वयेन—तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज् ज्ञेयमल्पम्। तदा तस्यां जीवन्मुक्तावस्थायां क्लेशकर्मणोर्ज्ञानावरकमलयोरपगमेन हेतुना ज्ञानस्य सत्त्वप्रकाशस्यानन्त्यादिति विभुत्वात् ज्ञेयं प्रकाश्यमल्पं तदपेक्षया भवतीत्यर्थः। यदि हि पञ्चविंशतितत्त्वातिरिक्तमन्यदपि वस्तु तिष्ठेत् तदा तदपि प्रकाश्येत, ज्ञेयस्यैव त्वल्पतयाऽन्यन्न प्रकाश्यते न तु सत्त्वस्याल्पतयेति भावः। तदेतद्व्याचष्टे—सर्वैरिति। अनन्तं स्वभावतो व्यापकम्, ज्ञानं सत्त्वमिति भूतसत्त्वव्यावर्त्तनायोक्तम् प्रवर्त्तितमिति। अस्य विवरणम्—उद्घाटितमिति। शेषं भाष्यं सुगमम्। अत्र तमोऽभिभवनानन्तरमेव वृत्त्युत्पत्तिवचनाद् वृत्तेस्तमोनाशकत्वमाधुनिकवेदान्तिनामपसिद्धान्त इति स्मर्त्तव्यम्। एतादृशं सर्वज्ञत्वं लोकेऽतीवाश्चर्यमन्धमणिवेधादिवदिति बौद्धोपहासमुखेन दर्शयति—यत्रेदमिति। यत्र क्षुद्राणामपि जीवानां योगबलादेतादृशसार्वज्ञ्ये बौद्धैरिदं दृष्टान्तजातमसम्भवदर्शनायोक्तमुपहसद्भिरित्यर्थः। किं तत्? तदाह—अन्ध इत्यादि। अविध्यत्सच्छिद्रमकरोत्, तं मणिमङ्गुलिहीनम् आवयद् ग्रथितवान्, तं मणिं ग्रीवाशून्यः प्रत्यमुञ्चत्, कण्ठाभरणमकरोत्, तत् कण्ठाभरणं जिह्वाशून्यः स्तुतवानित्यर्थः। दृष्टान्तचतुष्टयस्यायमाशयः—अनाद्यविद्यामूढचित्तैः सांख्याद्यभिमतसूक्ष्मार्थानामवधारणरूपं वेधनमेवादावशक्यं, ततोऽपि सर्वथा विवेकख्यातिरतीवाशक्या, ततोऽपि सर्वथा विवेकख्यातिरतीवाशक्या, ततश्च तादृशचित्तस्य पूरिपूर्णज्ञानत्वेन स्तुतिरप्यशक्येति। आस्तिकैस्तु श्रुतिस्मृतिप्रामाण्येनैतत्सर्वं श्रद्धेयमिति भावः॥३१॥**

सम्प्रति, आगामी दो सूत्रों के द्वारा जीवन्मुक्त योगी की परममुक्ति के प्रकार को सूत्रित किया जा रहा है—'तदेति।' 'तदा' अर्थात् पूर्वोल्लिखित जीवन्मुक्त की अवस्था में ज्ञान के आवरकभूत क्लेश तथा तज्जन्य कर्मरूप मल (मालिन्य) का दूरीकरण (आत्यन्तिक नाश) होने से सत्त्वप्रकाशरूप 'ज्ञान' का 'आनन्त्य' अर्थात् विभुत्व होता है। अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्ति अनन्त ज्ञानवान् हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप 'ज्ञेय' अर्थात् प्रकाश्य विषय सत्त्वप्रकाशरूप ज्ञान की तुलना में अत्यल्प रह जाता है। जीवन्मुक्त के ज्ञान की अनन्तता तथा ज्ञेयाल्पता के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं—(सांख्यसम्मत) पच्चीस तत्त्वों से अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व भी यदि जगत् में अवस्थित रहता, तो वह भी योगी के ज्ञान द्वारा प्रकाशित (विदित) होता, किन्तु ज्ञेय तत्त्व की अल्पता (परिच्छिन्नता, सीमितता) के कारण योगी को पञ्चविंशतितत्त्वातिरिक्त तत्त्व का प्रकाश (ज्ञान) नहीं होता है। अतः इससे योगी के चित्त की अल्पता नहीं समझनी चाहिये। भाष्यकार सूत्र के इसी अर्थ

की व्याख्या करते हैं—'सर्वैरिति।' सूत्रगत 'अनन्त' शब्द का अर्थ है जो स्वभावतः व्यापक होता है, तथाकथित अनन्तता ज्ञानसत्त्व में है—'ज्ञानं सत्त्वमिति।' व्यापक ज्ञान-सत्त्व से व्याप्य भूतसत्त्व को व्यावृत्त कराने के लिये भाष्यकार कहते हैं—'प्रवर्तित-मिति।' इसी का विवरण पद है—'उद्घाटितमिति।' अर्थात् तमोगुण से अभिभूत यह ज्ञानसत्त्व रजोगुण द्वारा प्रवर्तित होकर कभी-कभी विषय-ग्रहण में समर्थ होता है। शेष भाष्यार्थ सरल है। यहाँ तमोगुण के अभिभव के पश्चात् ही ज्ञानात्मकवृत्ति का उदय (आविर्भाव, उत्पत्ति) होना बतलाया जाने से आधुनिक वेदान्तियों के 'ज्ञानात्मक वृत्ति से अर्थात् ज्ञान से तमोगुण का नाश होता है'—इस मत को अप-सिद्धान्त रूप से ही दृष्टिपथ में रखना चाहिये। प्रकृत सूत्र द्वारा प्रतिपादित 'सर्वज्ञत्व' लोक में अन्ध के मणिवेध-क्रिया की भाँति अत्यधिक कौतुकपूर्ण है अर्थात् नितान्त असम्भव है—'बौद्धों के ऐसे व्यंग्यात्मक कोण (उपहासमुख) से भाष्यकार श्लोक को प्रदर्शित करते हैं—'यत्रेदमिति।' योगबल से क्षुद्र जीवों की भी इस प्रकार की सर्वज्ञता मानने पर उपहास करने वाले योगाचार्यों ने इस विषय में असम्भवता प्रदर्शित करने के लिये दृष्टान्तचतुष्टय अर्थात् दृष्टान्तजात को प्रस्तुत किया है, यह उद्धरण का भावार्थ है।

**शङ्का**—यह कैसे असम्भाव्य है?

**समाधान**—इस पर कहा जा रहा है—'अन्ध इत्यादि।' 'अन्ध व्यक्ति ने मणि में छिद्र किया, उस सच्छिद्र मणि को अङ्गुलिहीन व्यक्ति ने ग्रथित (माला में परिवर्तित) किया, उस ग्रथित माला को ग्रीवाहीन व्यक्ति ने कण्ठ में धारण किया अर्थात् उसे अपना कण्ठाभरण बनाया तथा उस कण्ठाभरण की जिह्वारहित व्यक्ति ने प्रशंसा की'—यह दृष्टान्तभूत श्लोक का अर्थ है। श्लोक में वर्णित दृष्टान्तचतुष्टय का प्रकृत प्रसंग में अभिप्राय यह है—अनादि अविद्या के कारण मूढ मतिमानों के द्वारा सांख्य-योगाभिमत सूक्ष्म तत्त्वों का अवधारण (स्वरूपनिर्धारण) रूप वेधन ही सर्वप्रथम असम्भव है, तदनन्तर उस सूक्ष्मार्थविषयिणी वृत्ति का अविरल धारारूपी सूत्र से ग्रथित अर्थात् प्रौढ बनना उससे (पहली क्रिया से) भी अधिक अशक्य है, तदनन्तर सर्वथा अर्थात् सार्वकालिक विवेकख्याति प्राप्त होना उससे भी अधिक असम्भव है, इस प्रकार के असम्भाव्य सफलतारहित चित्त की परिपूर्ण (निष्पन्न) ज्ञान के रूप से स्तुति करना और भी अधिक असम्भव है। किन्तु श्रुति-स्मृति के प्रामाणिक होने से आस्तिकजन इन सबमें पूर्ण आस्था रखते हैं॥३१॥

**बालप्रिया—**

**'अन्धो मणिं...ऽभ्यपूजयत्'**—वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु ने सूत्रगत एतद्भाष्य की भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ-योजना की है। तथापि भाष्य के पर्यवसित अर्थ में

किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता है॥३१॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है–

### योगसूत्रम्

**ततः [1]कृतार्थानां परिणामक्रम[2]परिसमाप्तिर्गुणानाम्॥३२॥**

तदनन्तर कृतार्थ गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है॥३२॥

### व्यासभाष्यम्

तस्य धर्ममेघस्योदयात्कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमः परिसमाप्यते। न हि कृतभोगा[3]पवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते॥३२॥

उस धर्ममेघसमाधि का उदय होने से कृतकृत्य हुए सत्त्वादि गुणों का परिणामक्रम समाप्त हो जाता है। (पुरुष के लिये) भोग तथा मोक्ष का सम्पादन कर चुकने वाले परिणामक्रम से रहित गुण एक क्षण भी आगे अवस्थित नहीं रह सकते हैं॥३२॥

### तत्त्ववैशारदी

ननु धर्ममेघस्य परा काष्ठा ज्ञानप्रसादमात्रं परं वैराग्यं समूलघातमपहन्तु व्युत्थान-समाधिसंस्कारान् [4]सक्लेशकर्माशयान्, गुणास्तु स्वत एव विकारकरणशीलाः कस्मात्तादृशमपि पुरुषं प्रति देहेन्द्रियादि नारभन्त इत्यत आह–ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्ति-र्गुणानाम्। शीलमिदं गुणानां यदमी यं प्रति कृतार्थास्तं प्रति न प्रवर्तन्त इति भावः॥३२॥

शङ्का–धर्ममेघसमाधि की चरमावस्थिति जो ज्ञानप्रसादमात्र 'परवैराग्य' रूप है, वह क्लेशकर्माशयमूलक व्युत्थानसमाधि के संस्कारों को भले ही नष्ट करे, किन्तु गुण तो स्वतः ही अपना महदादि 'विकार' (कार्य) करने के स्वभाव वाले हैं। अतः गुण धर्ममेघसमाधिनिष्ठ योगी के प्रति देहेन्द्रियादि का आरम्भ क्यों नहीं करते हैं? अर्थात् इस अवस्था में भी कार्यकरणशील गुणों का परिणाम अवश्यंभावी रहने से समाधिनिष्ठ योगी का पुनर्जन्म मानना ही अपरिहार्य हो जाता है।

---

1. कृतार्थतां–इति पाठान्तरम्।
2. समाप्तिः–इति पाठान्तरम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–अपवर्गाः, ब–अपवर्गार्थाः।
4. क ज–सक्लेशधर्माशयान्, ख ग घ च छ झ त न–सक्लेशकर्माशयान्, थ द ध–क्लेश-कर्माशयान्।

समाधान—इस पर सूत्रकार कहते हैं—'तत इति।' गुणों का यह स्वभाव (नैसर्गिक रूप) है कि जिस पुरुष के प्रति वे कृतकृत्य होते हैं, उस पुरुष के प्रति पुनः प्रवृत्त नहीं होते हैं॥३२॥

**बालप्रिया—**

**'यं प्रति कृतार्थाः'—** यहाँ ऐसी शंका करना उचित नहीं है कि गुणों के परिणाम-क्रम की समाप्ति मानने पर कोई भी बद्ध पुरुष नहीं रह जायेगा। शब्दान्तर में पुरुष को बाँधने वाली तात्त्विक सृष्टि भी नहीं रहेगी। क्योंकि यहाँ गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति सर्वपुरुषसाधारण नहीं है, अपितु कृतार्थ पुरुष को लक्षित करके ही कही गई है। अतः किसी प्रकार का सन्देहावकाश नहीं है॥३२॥

### योगवार्त्तिकम्

**यथोक्तसार्वज्ञ्यात् परवैराग्योदयेनासम्प्रज्ञातपरम्पराजन्यं प्रारब्धभोगसमाप्तिजन्यं वा तृतीयं मुख्यमोक्षमाह—ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्। ततो धर्ममेघोदयात् क्लेशकर्मनिवृत्त्या ज्ञानस्यानन्त्ये सति परवैराग्येण पुरुषार्थसमाप्त्या कृतार्थान् पुरुषान् प्रति गुणानां सत्त्वादीनां परिणामक्रमः समाप्यते, कृतार्थपुरुषाणां भोगौपयिकः परिणामः पुनर्न भवतीत्यर्थः। क्रमश्चाविरलधारेत्युत्तरसूत्रेण व्याख्यास्यते।**

यथोक्त (अव्यवहित सूत्र में प्रतिपादित) सर्वज्ञता से परवैराग्य का उदय होने से असम्प्रज्ञातसमाधि की अविरल-धारा से उत्पन्न अथवा प्रारब्धकर्मफलभोग की समाप्ति से उत्पन्न होने वाले तृतीय मुख्य मोक्ष को सूत्रकार बतलाते हैं—'तत इति।' 'ततः' अर्थात् 'धर्ममेघ' संज्ञक समाधि की प्राप्ति (उदय) से क्लेश तथा कर्म की निवृत्ति द्वारा ज्ञान का आनन्त्य होने पर (योगी को सर्वज्ञता प्राप्त होने पर) पर-वैराग्य के द्वारा भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ की समाप्ति हो जाने से कृतकृत्य पुरुषों के प्रति सत्त्वादि गुणत्रय का परिणामक्रम समाप्त (निवृत्त) हो जाता है। अर्थात् कृतार्थ पुरुषों का भोगनिमित्तक औपाधिक परिणाम पुनः नहीं होता है। सूत्रगत 'क्रम' शब्द का अर्थ 'अविरल धारा' है, अग्रिम सूत्र के द्वारा ऐसी व्याख्या की जायेगी।

सम्प्रति, वार्त्तिककार भाष्यार्थ प्रारम्भ करते हैं—

### योगवार्त्तिकम्

**तत्र इतिपदं व्याचष्टे—तस्य धर्ममेघस्योदयादिति। कृतार्थानामिति पुरुषाणामिति शेषः। तथा च कृतार्थपुरुषस्वामिको गुणानां परिणामक्रमः समाप्यत इत्यर्थः, न तु गुणानामखिलस्य परिणामक्रमस्य समाप्तिरत्रोक्ता कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टमित्युत्तरसूत्रादिति। समाप्तौ हेतुमाह—न हीति। नहि सत्त्वादयो गुणाः कृतभोगापवर्गा अत एव समाप्तक्रमाः तं पुरुषं प्रति क्षणमप्यवस्थातुं समर्थाः, स्थितिहेतुपुरुषार्थाभावादिति। यदि च सूत्रभाष्ययोर्गुण-**

**शब्देनात्र बुद्ध्यादय एव पुरुषोपकरणान्युच्यन्ते तदा यथाश्रुतमेव व्याख्येयम्। अत्राचेतनानां चेतनार्थतया चैतन्याधीनसत्ता वेदान्तिभिरुच्यमाना सिद्धेति स्मर्त्तव्यम्। इयमपि तृतीया मुक्तिः पञ्चशिखाचार्यैरुक्ता—कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणमिति। अत एव तत्त्वसमाससूत्रम्—त्रिविधो मोक्ष इति।**

भाष्यकार सूत्रगत **'इति'** पद की व्याख्या करते हैं—**'तस्य धर्ममेघस्योदयादिति।' 'कृतार्थानामिति।'** यहाँ **'पुरुषाणामिति'** यह वाक्यशेष है। वाक्य का तात्पर्य यह है कि ('स्व' स्थानीय) गुणों का कृतकृत्य पुरुष के प्रति **'स्वामि'**निमित्तक **'परिणामक्रम'** समाप्त हो जाता है। अर्थात् कृतार्थ पुरुष और गुणों का स्वस्वामिभावसम्बन्ध समाप्त हो जाता है। गुणों के अखिल परिणामक्रम की समाप्ति को बतलाना सूत्रकार का अभिप्राय नहीं है, क्योंकि **'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं'**...(२/२२) सूत्र के द्वारा 'गुणों के अखिल परिणामक्रम की समाप्ति क्यों नहीं होती है?—इसका उत्तर पीछे दिया जा चुका है। कृतार्थ पुरुष के प्रति गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति क्यों होती है? इस विषय में भाष्यकार कारण बतलाते हैं—**'न हीति।'** पुरुषविशेष के प्रति भोग और मोक्ष का सम्पादन कर चुके, अत एव समाप्तपरिणामक्रम वाले सत्त्वादि गुण उस कृतकृत्य पुरुष के उद्देश्य से क्षणमात्र के लिये भी अवस्थित रहने में समर्थ नहीं होते हैं, क्योंकि गुणों की **'स्थिति'** का हेतुभूत **'पुरुषार्थ'** उस कृतकृत्य पुरुष के प्रति नहीं रह जाता है। सूत्र तथा भाष्य में प्रयुक्त **'गुण'** शब्द से यदि पुरुष के (भोग के) उपकरणभूत (साधनरूप) बुद्ध्यादि तत्त्वों को बतलाया जा रहा है, तो भी यथाश्रुत व्याख्या ही रहेगी। अर्थात् कृतार्थ पुरुष के प्रति बुद्ध्यादि करणों के परिणामक्रम की समाप्ति कहना भी न्यायसंगत है। इससे वेदान्तियों द्वारा अभिहित यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि चेतन पुरुष के प्रयोजनार्थ होने से अचेतन बुद्ध्यादि तत्त्वों की चैतन्याधीन सत्ता है। पञ्चशिखाचार्य ने भी इसे ही तृतीय मुक्ति कहा है—**'कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्'।** तदर्थ तत्त्वसमास का (भी) सूत्र है—**'त्रिविधो मोक्षः'** (२२) अर्थात् मोक्ष तीन प्रकार का है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार सूत्र की अभिसन्धि (अभिप्राय) को विश्लेषित करते हैं—

## योगवार्त्तिकम्

**इदमत्रावधेयम्—यदेताभ्यां सूत्राभ्यां ज्ञानस्यानन्त्यात्सार्वज्ञ्याख्यान् मोक्ष उच्यत इदं मुख्यकल्पाभिप्रायेणोक्तम्, वैराग्यादेव सुखेन मोक्षसिद्धेः, न तु सार्वज्ञ्यादिकं विना मोक्षो न भवतीत्याशयेन, यतः सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति सूत्रे भाष्यकृता—ईश्वर-स्यानीश्वरस्य प्राप्तविवेकज्ञानस्येतरस्य वेत्यनेनासर्वज्ञस्याप्यभिमाननिवृत्तिमात्रादेव मोक्ष उक्त इति। तथा चोक्तं विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय इति, सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः इति च। संसारबीजं ह्यनात्मन्यात्मरूपाऽविद्या, रागद्वेषधर्माधर्मतद्विपाकादि-**

हेतुत्वात्, सा चेद्विवेकख्यात्या नाशिता तर्हि तत एव संसारोच्छेदे सार्वज्ञ्याद्यपेक्षा नास्तीति। तथा च विष्णुपुराणम्—

अनात्मन्यात्मबुद्धिर्याऽ[1]नर्थे स्वमिति या मतिः।
अविद्यातरु[2]संभूतिबीजमेतद् द्विधा स्थितम्॥३२॥

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है—इन दो सूत्रों (४/३१ तथा ३२) के द्वारा ज्ञान का आनन्त्य होने से जो 'सार्वज्ञ्य' संज्ञक मोक्ष कहा गया है, वह मुख्यकल्प के अभिप्राय से अभिहित है, क्योंकि वैराग्य होने से ही अनायास मोक्ष-सिद्धि होती है, न कि सार्वज्ञ्यादि के विना मोक्ष-सिद्धि नहीं होती है, इस अभिप्राय से कहा गया है। क्योंकि 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति' (३/५५) इस सूत्र में भाष्यकार ने बतलाया है कि ऐश्वर्यसम्पन्न अथवा ऐश्वर्यहीन, लब्धविवेक अथवा अलब्धसर्वज्ञता वाले व्यक्ति को भी अभिमान की निवृत्तिमात्र से ही मोक्ष प्राप्त होता है। जैसा कि योग सूत्र में कहा गया है—'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः' (२/२६), 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (२/१३)। अनात्मपदार्थों में आत्मबुद्धिरूपा अविद्या ही संसार का कारण (बीज) है, क्योंकि तथाकथित अविद्या ही राग-द्वेष, धर्म-अधर्म तथा तज्जन्य जात्यादि विपाक (भोग) की हेतु है। संसार की हेतुभूता यह अविद्या यदि विवेकख्याति के द्वारा निर्मूल (ध्वस्त, आत्यन्तिक अतीतावस्थाक) कर दी जाय तो उसी से संसारोच्छेद हो जाने पर (पुनः) संसारोच्छेद के लिये सर्वज्ञता आदि की अपेक्षा नहीं रह जाती है। जैसा कि विष्णु पुराण में कहा गया है—'अनात्मन्या...स्थितम्' (६/७/११) अर्थात् 'अनात्म में आत्मबुद्धि तथा अनर्थभूत पदार्थ में अर्थबुद्धि अथवा स्वभिन्न में स्वबुद्धिरूप यह अविद्या दो प्रकार से स्थित है। यही अविद्यारूप वृक्ष संसार का मूलकारण (बीज) है'॥३२॥

विगत सूत्र में प्रयुक्त 'क्रम' शब्द को लेकर भाष्यकार अवतरणिका द्वारा अग्रिम सूत्र को उपस्थित करते हैं—

### व्यासभाष्यम्

अथ कोऽयं क्रमो नामेति?

(पूर्व सूत्र में प्रतिपादित) यह 'क्रम' कौन सी वस्तु है? (उत्तर है)—

### योगसूत्रम्

**क्षण[3]प्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः॥३३॥**

---

1. क ग घ—अर्थे, ख—अस्वे, च छ—अनर्थे।
2. क ख—संभूति०, ग—सबीजं, घ च छ—संसृति०
3. प्रतियोगी—इति पाठान्तरम्।

क्षणप्रतियोगिक तथा परिणाम के अवसान से ज्ञायमान 'क्रम' होता है॥३३॥

### व्यासभाष्यम्

क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन [1]गृह्यते क्रमः। न ह्य[2]ननुभूत-[3]क्रमक्षणा नवस्य पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति। नित्येषु च क्रमो दृष्टः। द्वयी चेयं नित्यता—कूटस्थनित्यता [4]परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य। परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन्[5]परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्। [6]उभयस्य च [7]तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्। तत्र गुणधर्मेषु [8]बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानः, नित्येषु [9]धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्यवसानः। कूटस्थनित्येषु [10]स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति तत्राप्यलब्धपर्यवसानः [11]शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय [12]कल्पित इति। अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वेति? अवचनीयमेतत्। कथम्? अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः—सर्वो जातो [13]मरिष्यति

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—गृह्यते, ब—निगृह्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न फ ब भ म य र—अननुभूत०, द प—अनुभूत०।
3. क—क्रमलक्षणात् नव, ख ग छ ज थ न—क्रमक्षणात् नव, घ प फ म य र—क्रमक्षणा नवस्य, च झ त द ध भ—क्रमक्षणा, ब—क्रमा।
4. क ग ब—परिणाममनित्यता, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—परिणामिनित्यता।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—परिणम्यमाने, ब—परिणममाने।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—उभयस्य, ब—उभयत्र।
7. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—तत्त्वानभिघातात्, ख ब—तत्त्वस्याविघातात्।
8. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—बुद्ध्यादिषु, ब—महदादिषु, छ—बुद्ध्यादिषु/महदादिषु नोपलभ्यते।
9. ख ग घ च ज झ त ट ध न प फ ब भ म य र—धर्मिषु उपलभ्यते, क छ थ—धर्मिषु नोपलभ्यते।
10. क छ थ—स्वरूपमात्रप्रतिष्ठः, ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ य र—स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु, म—स्वरूप... प्रतिष्ठः प्रतिष्ठेषु नोपलभ्यते।
11. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—शब्दपृष्ठेन, झ त—शब्दे शब्देन।
12. क—कल्पतः, ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—कल्पितः, ब—विकल्पितः।
13. क ख ग च छ ज झ त थ न म—मृत्वा जनिष्यत इति (मरिष्यति—पश्चात्) उपलभ्यते, घ द ध प फ ब भ य र—मृत्वा जनिष्यत इति नोपलभ्यते।

इति। ॐ भो इति। अथ [1]सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति? विभज्य वचनीयमेतत्। [2]प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते। तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशून[3]धिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति। अयं त्ववचनीयः प्रश्नः—संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति। कुशलस्यास्ति संसार[4]क्रमपरिसमाप्तिर्नेतरस्येत्यन्यतरावधारणेऽ[5]दोषः। तस्माद्व[6]्याकरणीय एवायं प्रश्न इति॥३३॥

क्षणों के आनन्तर्य के रूप वाला क्रम परिणाम के पर्यवसान अर्थात् अन्त के द्वारा ग्रहण किया जाता है। क्योंकि नवीन वस्त्र की जो पुराणता देखी जाती है, वह अननुभूत क्रमक्षण वाली तो हो नहीं सकती है, किन्तु ज्ञात क्रमक्षण वाली ही हो सकती है। नित्य पदार्थों में भी क्रम होता है। यह नित्यता दो प्रकार की है—कूटस्थनित्यता तथा परिणामिनित्यता। इसमें कूटस्थनित्यता पुरुष की है और परिणामिनित्यता गुणों की होती है। परिणामी होने पर भी जिस पदार्थ के स्वरूप का विघात नहीं होता है, उसे 'नित्य' कहते हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों के स्वरूप का विघात नहीं होता है, अतः दोनों में नित्यता है। इनमें गुणों के धर्मभूत बुद्ध्यादि पदार्थों में परिणाम की समाप्ति से ज्ञायमान क्रम 'लब्धपर्यवसान' (अतीतरूप धर्म वाला) होता है और धर्मीभूत नित्य गुणों में क्रम 'अलब्धपर्यवसान' (अप्राप्त अतीत अवस्था वाला) होता है। कूटस्थनित्य तथा स्वरूपमात्र में प्रतिष्ठित मुक्त पुरुषों में विद्यमान क्रम स्वरूप के अस्तितारूप क्रम से ही अनुभूत होता है। अतः तथाकथित मुक्त पुरुषों में भी वह क्रम 'अलब्धपर्यवसान' है। शब्दों के आधार पर 'अस्ति' क्रिया को ग्रहण करके (पुरुषों में क्रम) विकल्पित किया जाता है। कादाचित्क स्थिति और गति की अवस्था वाले गुणों के रूप में विद्यमान इस जगत् प्रपञ्च के क्रम की समाप्ति होती है अथवा नहीं? यह प्रश्न अनुत्तरणीय है। क्यों? कोई प्रश्न एकान्तवचनीय होता है, जैसे—'उत्पन्न होने

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ न भ—जातो मरिष्यतीति (सर्वः—पश्चात्) उपलभ्यते, घ द ध प फ ब म य र—जातो मरिष्यतीति नोपलभ्यते।
2. छ थ—विवेक० (प्रत्युदित०—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—विवेक० नोपलभ्यते।
3. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—अधिकृत्य, ख घ प फ य र—उद्दिश्य।
4. क ख च छ ज झ त थ द ध न प फ म—क्रमपरिसमाप्तिः, ग घ भ य र—क्रमसमाप्तिः, ब—चक्रसमाप्तिः।
5. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ—दोषः, घ प फ म य र—अदोषः।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—व्याकरणीयः, ब—अव्याकरणीयः।

वाले सभी प्राणी मरेंगे? अथवा 'सभी प्राणी मरकर जन्म ग्रहण करेंगे? उत्तर है—हाँ। (इस प्रकार एक ही उत्तर से उत्तरित हो जाने वाला प्रश्न है)। दूसरा प्रश्न है—'क्या सभी प्राणी मरकर जन्म लेंगे'? अथवा जन्म लेकर मरेंगे?—यह प्रश्न विभज्यवचनीय है। विवेकख्यातिप्राप्त तृष्णाशून्य कुशल योगी (मरने के पश्चात् पुनः) जन्म नहीं लेगा, किन्तु तद्भिन्न प्राणी तो (मरकर) जन्म लेगा ही। इसी प्रकार 'मनुष्य जाति श्रेष्ठ है अथवा नहीं'?—यह प्रश्न विभाग करके उत्तर देने योग्य है—यह मनुष्यजाति पशुजाति की अपेक्षा श्रेष्ठ है और देवों तथा ऋषियों की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं है। 'यह संसार अन्त वाला है अथवा अनन्त है'? यह प्रश्न अवचनीय है अर्थात् विभाग करके इसका उत्तर दिया जा सकता है—विवेकख्यातिप्राप्त योगी के संसारक्रम की समाप्ति होती है, अन्य की नहीं। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति का अलग-अलग निर्धारण करने में दोष उपस्थित नहीं होता है। इसलिये यह प्रश्न व्याकरणीय अर्थात् विभज्य-वचनीय ही है॥३३॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार प्रस्तुत सूत्र की अवतारणा के हेतु को अवतरणिका द्वारा संकेतित करते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं—

## तत्त्ववैशारदी

अत्रान्तरे परिणामक्रमं पृच्छति—अथ कोऽयमिति। क्षणप्रतियोगी परिणामा-परान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः। परिणाम[1]क्रमः क्षणप्रतियोगी, क्षणः प्रतिसंबन्धी यस्य स तथोक्तः, क्षणप्रचयाश्रय इत्यर्थः। न जातु क्रमः क्रमवन्तमन्तरेण शक्यो निरूपयितुम्। न चैकस्यैव क्षणस्य क्रमः। [2]तस्मात्क्षण[3]प्रचयाश्रयः परिशिष्यते। तदिदमाह—क्षणानन्तर्यात्मेति। परिणाम-क्रमे प्रमाणमाह—परिणामस्येति। नवस्य हि वस्त्रस्य प्रयत्नसंरक्षितस्यापि चिरेण पुराणता दृश्यते। सोऽयं परिणामस्या[4]परान्तः पर्यवसानम्। तेन हि परिणामस्य क्रमः। ततः प्रागपि पुराणतायाः [5]सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मस्थूलस्थूलतरस्थूलतमत्वादीनां पौर्वापर्यमनुमीयते। एतदेव व्यतिरेकमुखेन दर्शयति—न हीति। अननुभूतोऽप्राप्तः [6]क्रमक्षणो यया सा तथोक्ता। नन्वेष

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न—क्रमः, छ—क्रम०।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—तस्मात्क्षण० उपलभ्यते, ज—तस्मात्क्षण० नोपलभ्यते।
3. क ज त—प्रचय आश्रयः, ख ग घ च छ झ त थ द ध न—प्रचयाश्रयः।
4. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—अपरान्तः, त—अन्तः।
5. क ख ग घ च छ ज झ त—सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमस्थूलस्थूलतरस्थूलतमत्वादीनाम्, थ द ध—सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मस्थूलस्थूलतरत्वादीनाम्, न—सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मस्थूलस्थूलतरस्थूलतमत्वादी-नाम्।
6. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—क्रमक्षणः, त—क्रमः।

क्रमः प्रधानस्य न संभवति, तस्य नित्यत्वादित्यत आह—नित्येषु चेति। बहुवचनेन सर्वनित्यव्यापितां क्रमस्य प्रतिजानीते। तत्र नित्यानां प्रकारभेदं दर्शयित्वा नित्यव्यापितां क्रमस्योपपादयति—द्वयीति। ननु कूटस्थं स्वभावादप्रच्युतमस्तु [1]नित्यम्, परिणामि सदैव स्वरूपाच्च्यवमानं कथं नित्यमित्यत आह—यस्मिन्निति। धर्मलक्षणावस्थानामुदयव्यय[2]धर्मत्वम्, धर्मिणस्तु तत्त्वादविघात एवेति। अथ किं परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यता [3]सर्वक्रमस्य? नेत्याह—तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिष्विति। यतो लब्धपर्यवसानो धर्माणां विनाशात्। प्रधानस्य तु परिणामक्रमो न लब्धपर्यवसानः। ननु प्रधानस्य धर्मरूपेण परिणामादस्तु परिणामक्रमः, पुरुषस्य त्वपरिणामिनः कुतः परिणामक्रम इत्यत आह—कूटस्थेति। तत्र बद्धानां चित्ताव्यतिरेकाभिमानात्त[4]त्परिणामेन परिणामाध्यासः। मुक्तानां चास्तिक्रियामुपादायावास्तवोऽपि परिणामो मोहकल्पितः, शब्दस्य पुरःसरतया [5]तत्पृष्ठो विकल्पोऽस्तिक्रियामुपादत्त इति।

मोक्ष का स्वरूप बतलाने के बीच में (पूर्व सूत्र में संकेतित) परिणामक्रम के विषय में प्रश्न है—'अथ कोऽयमिति।' अर्थात् 'क्रम' का स्वरूप क्या है? उत्तर है—'क्षणेति।' 'क्षणप्रतियोगी' शब्द का विग्रह है—'क्षणः प्रतिसंबन्धी यस्य सः' अर्थात् क्षण है प्रतिसम्बन्धी जिसका, उमे क्षणप्रतियोगी कहते हैं। क्षणप्रतियोगी वाला परिणामक्रम होता है। अर्थात् एक क्षण की नहीं, अपितु अनेक क्षणों की अव्यवहित धारा को आश्रय करने वाली जो परिणामधारा है, उसे 'परिणामक्रम' कहते हैं। अर्थात् यह क्रम अनेक क्षणों के आश्रित रहता है। क्रमवान् के निरूपण के विना क्रम को कभी भी निरूपित नहीं किया जा सकता है। और न ही एक ही क्षण में क्रम हो सकता है। अतः परिशेषानुमान से क्षणक्रम अनेक क्षण सापेक्ष है, यह सिद्ध होता है। इसी तथ्य का विशदीकरण भाष्यकार करते हैं—'क्षणानन्तर्यात्मेति।' अर्थात् क्षणों का आनन्तर्य ही जिसका स्वरूप है, उसे 'क्रम' कहते हैं। भाष्यकार परिणामक्रम में प्रमाण का प्रतिपादन करते हैं—'परिणामस्येति।' अर्थात् क्रम परिणाम के अवसान से गृहीत होता है। जिस प्रकार अंत्यन्त सावधानी के साथ सुरक्षित नवीन वस्त्र भी बहुत समय के पश्चात् जीर्ण प्रतीत होने लगता है, इसे ही परिणाम का अपरान्त अर्थात् पर्यवसान कहते हैं, जिससे परिणामक्रम जाना जाता है। वस्त्र में दृष्टिगोचर पुराणता से पूर्व भी उसका (जीर्णता का) सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म, स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतमत्वादि रूप पौर्वापर्य अनुमित होता है। अन्वयमुखेन पूर्वकथित तथ्य को

---

1. क ख ग घ च छ ज त य द ध न—नित्यं परिणामि, झ—नित्यपरिणामि।
2. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—धर्मत्वं उपलभ्यते, ज—धर्मत्वं नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त—सर्वत्र, थ द ध न—सर्व०।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न—परिणामेन उपलभ्यते, थ द ध—परिणामेन नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज थ द ध न—तत्पृष्ठः, झ त—तत्सृष्टः।

ही भाष्यकार सम्प्रति व्यतिरेकमुख से प्रदर्शित करते हैं—'न हीति।' 'अननुभूत' अर्थात् अप्राप्त है क्षणक्रम जिससे इस प्रकार की पुराणता नहीं कही जाती है। अर्थात् अनुभूयमान जीर्णता अज्ञात क्रमक्षण से तो हो नहीं सकती है, अपितु ज्ञात क्रम-क्षण से ही हो सकती है। और इसके ज्ञान में कोई अन्य प्रमाण नहीं है, अपितु परिणाम का अवसान ही उसके ज्ञान में प्रमाण है, यह सिद्ध होता है।

**शङ्का**—यथोक्त परिणामक्रम प्रकृति तत्त्व में सम्भावित नहीं है, क्योंकि वह नित्य है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'नित्येषु चेति।' अर्थात् नित्य पदार्थों में भी क्रम देखा जाता है। यहाँ 'नित्येषु' में नित्य पद के साथ बहुवचन का प्रयोग करने से सभी व्यापक नित्य पदार्थों का क्रम ज्ञात होता है। नित्य पदार्थों के परिणामभेद को बतलाते हुए भाष्यकार व्यापक नित्य पदार्थों के क्रम का उपपादन करते हैं—'द्वयीति।' यह नित्यता दो प्रकार की है—कूटस्थनित्यता तथा परिणामिनित्यता। इनमे से पुरुष में कूटस्थनित्यता है और सत्त्वादि त्रिगुण में परिणामिनित्यता है।

**शङ्का**—जिसकी अपने स्वरूप से प्रच्युति न हो, ऐसे 'कूटस्थ' पदार्थ को ही नित्य कहना चाहिये। अतः अपने स्वरूप से सदा च्यवित (स्खलित) होती हुई परिणामी प्रकृति को कैसे नित्य कहा जा सकता है?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'यस्मिन्निति।' सत्त्वादि गुणों में धर्म, लक्षण और अवस्था की आविर्भाव और तिरोभावरूप धर्मता है अर्थात् सत्त्वादि गुणों के धर्मादि अवस्थाओं की ही उत्पत्ति और क्षति होती है। धर्मिस्वरूप सत्त्वादि गुणों का स्वरूपतः नाश ही नहीं होता है। अतः परिणामशील होते हुए भी गुण नित्य हैं।

**शङ्का**—क्या सभी प्रकार के क्रमों में परिणामापरान्तग्राह्यता है? अर्थात् परिणामा-परान्त ग्राह्य 'क्रम' क्या दोनों प्रकार के नित्य तत्त्वों में उपलब्ध होता है?

**समाधान**—नकारात्मक उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं—'तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादि-ष्विति।' क्योंकि लब्धपर्यवसान क्रम (अवसान से ज्ञायमान क्रम) धर्मों का नाश होने से होता है, इसलिये प्रधाननिष्ठ परिणामक्रम लब्धपर्यवसान वाला नहीं होता है। (इस प्रकार नित्य धर्मिरूप सत्त्वादि गुणों में जो यथोक्त क्रम है, वह अलब्धपर्यव-सान अर्थात् अप्राप्त अतीत अवस्थारूप धर्म वाला है)।

**शङ्का**—महदादि धर्मरूप (कार्यरूप) से प्रकृति का परिणाम होने से प्रकृति में परिणामक्रम भले ही हो, किन्तु अपरिणामी पुरुष में परिणामक्रम कैसे सम्भव हो सकता है? अर्थात् अपरिणामी होने से पुरुष में परिणामक्रम की कल्पना त्रुटिपूर्ण है।

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'कूटस्थेति।' बद्ध पुरुषों में जड चित्त के साथ अभेदाभिमान होने से चित्तगत परिणाम के द्वारा परिणाम का अध्यास भी उनमें होता है। अतः बद्ध पुरुष में औपाधिक परिणामक्रम बन सकता है। मुक्त पुरुषों में

'अस्ति' क्रिया को लेकर मोहकल्पित अर्थात् अविद्यावशात् अयथार्थ 'परिणाम-क्रम' का व्यवहार किया जाता है। अर्थात् शब्दज्ञानानुपतनशील विकल्पवृत्ति से (मुक्त पुरुष में) 'अस्ति' क्रिया अर्थात् 'अस् भुवि' धातु से निष्पन्न अस्ति, आसीत् आदि क्रिया-रूपों का अयथार्थ 'परिणामक्रम' कल्पित होता है।

सम्प्रति, गुणों के अलब्धपर्यवसान क्रम को लेकर आगे विचार किया जा रहा है—

### तत्त्ववैशारदी

गुणेष्वलब्धपर्यवसानः परिणामक्रम इत्युक्तम्। तदसहमानः पृच्छति—अथेति। स्थित्येति महाप्रलयावस्थायाम्। गत्येति सृष्टौ। एतदुक्तं भवति—यद्यानन्त्यान्न परिणामसमाप्तिः संसारस्य, हन्त भोः कथं महाप्रलयसमये सर्वेषामात्मनां सहसा समुच्छिद्येत, कथं च सृष्ट्यादौ सहसोत्पद्येत संसारः? तस्मादेकैकस्यात्मनो मुक्तिक्रमेण सर्वेषां विमोक्षादुच्छेदः सर्वेषां [1]संसारस्य क्रमेणेति प्रधानपरिणामक्रमपरिसमाप्तिः। एवं च प्रधानस्याप्यनित्यत्वप्रसङ्गः। न चापूर्वसत्त्वप्रादुर्भाव इष्यते येनानन्त्यं स्यात्, तथा सत्यनादित्वव्याहतेः सकलशास्त्रार्थभङ्गप्रसङ्ग इति भावः। उत्तरमाह—अवचनीयमिति। अनुत्तरार्हमेतत्। एकान्तत [2]एव तस्यावचनीयतां दर्शयितुमेकान्तवचनीयं प्रश्नं दर्शयति—अस्ति प्रश्न इति। सर्वो जातो मरिष्यतीति प्रश्नः। उत्तरम्—ॐ भो इति। सत्यं भो इत्यर्थः। अविभज्य वचनीयमुक्त्वा प्रविभज्य वचनीयं प्रश्नमाह—अथ सर्व इति। विभज्य वचनीयतामाह—विभज्येति। विभज्य वचनीयमेव प्रश्नान्तरं विस्पष्टार्थमाह—तथा मनुष्येति। अयम् त्ववचनीय एकान्ततः।

गुणों में अलब्धपर्यवसान 'परिणामक्रम' है, इसे बतलाया गया। किन्तु इस तथ्य को सहन न करता हुआ वादी पूछता है—'अथेति।'

**शङ्का**—भाष्य में प्रयुक्त 'स्थिति' शब्द से महाप्रलय की अवस्था का तथा 'गति' शब्द से सृष्ट्यवस्था का अवबोध होता है। (शंका का स्वरूप यह है—महाप्रलय अथवा सृष्टिकाल में सत्त्वादि गुणों में वर्तमान जो संसार-क्रम है, उसकी समाप्ति होती है अथवा नहीं? प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का अभिप्राय यह है—यदि संसार अनन्त है, तो अनन्त होने से संसार के 'परिणामक्रम' की समाप्ति नहीं हो सकती है तो ऐसी स्थिति में महाप्रलय के समय सभी आत्माओं का सहसा (अनायास-युगपत्) नाश कैसे हो सकेगा और इसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में कैसे संसार की उत्पत्ति हो सकेगी?—यह आश्चर्यकारी स्थिति है। यदि यह कहा जाय कि एक-एक आत्मा के मुक्तिक्रम से सभी आत्माओं का विमोक्ष होने से संसार का नाश हो सकेगा। इस

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न—संसारस्य, थ द ध—संसार०।
2. क ख घ च छ त—एतस्य, ग ज झ थ द ध न—एव तस्य।

प्रकार क्रम से प्रधान के परिणामक्रम की समाप्ति कही जा सकती है। किन्तु इस स्थिति में 'प्रधान' के अनित्य होने का अनभिप्रेत प्रसंग उठेगा। (प्रकृति के इस अनित्य प्रसंग को सम्भालने के लिये) 'अपूर्व अर्थात् नवीन सत्त्व का प्रादुर्भाव होता है' जिससे प्रकृति का आनन्त्य बना रहेगा—तो ऐसा कथन भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि नवीन प्रधान की उत्पत्ति मानने पर 'प्रधान' के 'अनादित्व' के सिद्धान्त को क्षति पहुँचती है। फलतः प्रधान के अनादित्व का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रीय वचन भी व्यर्थ हो जायेंगे?—पूर्वपक्षी की शंका का यह भाव है।

समाधान—उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं—**'अवचनीयमिति'** पूर्वपक्षी का प्रश्न अनुत्तरार्ह है। (अर्थात् हाँ, या नहीं में शीघ्र उत्तर देने योग्य नहीं है, किन्तु विभाग करके ही प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है)। इस प्रश्न का ऐकान्तिक रूप से उत्तर न दे सकने की अवचनीयता को प्रदर्शित करने के लिये भाष्यकार एकान्त-वचनीय (अविभज्यवचनीय) प्रश्न का स्वरूप बतलाते हैं—**'अस्ति प्रश्न इति'** 'क्या सभी उत्पन्न प्राणी मृत्यु को प्राप्त होंगे?' इस प्रश्न का उत्तर है कि हाँ ऐसा ही है अर्थात् यही सत्य है। इस प्रकार अविभज्यवचनीय प्रश्न को कहकर सम्प्रति भाष्यकार प्रविभज्यवचनीय प्रश्न का स्वरूप बतलाते हैं—**'अथ सर्व इति'** 'क्या सभी प्राणी मरकर पुनः जन्म धारण करेंगे?' इस प्रश्न की विभज्यवचनीयता (विभाग करके उत्तर देने की स्थिति) को भाष्यकार बतलाते हैं—**'विभज्येति'** अर्थात् यह प्रश्न विभागपूर्वक उत्तर देने योग्य है कि विवेकख्यातियुक्त विषयासक्तिरहित कुशल का देहपात के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता है और तद्भिन्न सामान्यजन मरकर फिर जन्म धारण करते है। विभज्यवचनीय प्रश्न का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार पुनः एतत्सन्दर्भीय प्रश्नान्तर (दूसरे प्रश्न) को उपस्थित करते हैं—**'तथा मनुष्येति'** 'मनुष्य जाति श्रेष्ठ है अथवा नहीं'?—यह प्रश्न एकान्ततः अवचनीय है अर्थात् विभाग किये बिना उत्तर देने योग्य नहीं है, अपितु विभागपूर्वक ही इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। अर्थात् पशुओं की अपेक्षा मनुष्यजाति श्रेष्ठ है, किन्तु देवताओं की तुलना में यह मनुष्यजाति श्रेष्ठ नहीं है।

सम्प्रति, विभज्यवचनीय एक अन्य प्रश्न, 'संसार अन्त वाला है अथवा अनन्त?', जो भाष्य में आया है, पर विचार करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं—

### तत्त्ववैशारदी

**न हि सामान्येन कुशलाकुशलपुरुषसंसारस्यान्तवत्त्वमनन्तवत्त्वं वा शक्यमेकान्ततो वक्तुम्, यथा प्राणभृन्मात्रस्य श्रेयस्त्वमश्रेयस्त्वं [1]वा नैकान्ततः शक्यमवधारयितुम्। यथा जात-**

---

1. **क छ—वानैकान्ततः, ख ग घ च ज झ त थ द ध न—वा नैकान्ततः।**

**मात्रस्य मरणमेकान्तः। विभज्य पुनः शक्यावधारणमित्याह—कुशलस्येति। अयमभिसंधिः— क्रमेण मोक्षे सर्वेषां मोक्षात्संसारोच्छेद इत्यनुमानम्। तच्चागमसिद्धमोक्षाश्रयम्। तथा चाभ्युपगतमोक्षप्रतिपादकागमप्रमाणभावः कथं तमेवागमं प्रधानविकारनित्यतायामप्रमाणीकुर्यात्। तस्मादागमबाधितविषयमेतदनुमानं न प्रमाणम्। श्रूयते हि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु सर्गप्रतिसर्गपरम्पराया अनादित्वमनन्तत्वं चेति। अपि च सर्वेषामेवात्मनां संसारस्य न तावद्युगपदुच्छेदः संभवी। न हि पण्डितरूपाणामप्यनेकजन्मपरम्पराभ्यासपरिश्रमसाध्या विवेकख्यातिप्रतिष्ठा, किं पुनः प्राणभृन्मात्रस्य स्थावरजङ्गमादेरेकदाऽकस्माद्भवितुमर्हति। न च [1]कारणायौगपद्ये कार्ययौगपद्यं युज्यते। क्रमेण तु विवेकख्यातावसंख्येयानां क्रमेण मुक्तौ न संसारोच्छेदोऽनन्तत्वाज्जन्तूनामसंख्येयत्वादिति सर्वमवदातम्॥३३॥**

सामान्यरूप से तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ-सम्बन्धी संसार के अन्तत्व अथवा अनन्तत्व का प्रतिपादन करना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार प्राणिमात्र के श्रेष्ठत्व अथवा हेयत्व का ऐकान्तिक निर्णय किया जाना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार उत्पन्नमात्र प्राणी के मरण को ऐकान्तिक रूप से कहा जा सकता है कि उत्पन्न प्राणी की मृत्यु अवश्य होती है। अतः विभज्यवचनीय प्रश्न विभाग करके ही उत्तरार्ह होता है, इसलिये भाष्यकार कहते हैं—**'कुशलस्येति'** अर्थात् कुशल पुरुष के संसार-चक्र की परिसमाप्ति होती है, अन्य अकुशल के संसारचक्र की नहीं। अभिप्राय यह है—क्रम से मोक्ष मानने पर सभी प्राणियों का मोक्ष होने से संसार का ही नाश हो जायेगा—ऐसा अनुमान किया जाता है। और आगम अर्थात् शास्त्रप्रतिपादित मोक्ष के विषय में यह अनुमान है। सिद्धान्तरूप से स्वीकृत मोक्ष-प्रतिपादक आगम प्रमाण कैसे प्रधान के विकार की नित्यता के विषय में अप्रमाण हो सकता है? अतः जिसका विषय आगम से बाधित होता है, ऐसे अनुमान की प्रामाणिकता नहीं रहती है। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि शास्त्रों में सृष्टि और प्रलय की परम्परा को अनादि और अनन्त सुना जाता है। और समस्त आत्माओं के संसार का युगपत् (एक ही काल में) नाश होना सम्भव भी नहीं है। पण्डित व्यक्तियों को भी जब अनेक जन्म में किये गये योगाभ्यास के परिश्रम से निष्पन्न होने वाली विवेकख्याति प्रतिष्ठित (स्थिर अर्थात् बाधारहित) नहीं होती है, तो फिर प्राणधारी जङ्गम और स्थावर आदियों को एक बार में ही अकस्मात् समाधि प्राप्त हो जाती है, और वे मुक्त हो जाते हैं—इसमें तो कहना ही क्या है। अर्थात् यह कथञ्चित् सम्भव नहीं है। अतः मोक्ष के कारण अविप्लुतविवेकख्याति की प्राप्ति में युगपद्भाव सम्भावित नहीं है, तो मोक्षरूप कार्य कैसे सभी प्राणियों का एक साथ कहा जा

---

1. क न—कारणायौगपद्यं युज्यते, ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—कारणायौगपद्ये कार्यायौगपद्यं युज्यते।

सकता है। किन्तु क्रम से साधकों को विवेकख्याति प्राप्त होने से असंख्य प्राणियों को क्रमशः मुक्ति प्राप्त होगी, जिससे संसार-नाश का अनभीष्ट प्रसंग उपस्थित न होगा। जन्तुओं के असंख्य होने के कारण ही उन्हें 'अनन्त' कहा गया है—यह अत्यन्त सुस्पष्ट है॥३३॥

**बालप्रिया—**

**'परिणामाऽपरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः'**—सरलार्थ यह है कि क्षणों की अव्यवहित परिणामधारा को ही 'परिणामक्रम' कहते हैं।

**'नित्येषु च क्रमः'**—नित्य पदार्थों में स्वभावतः अपरान्ताभाव रहता है, तो भी उनके कार्यों में निहित अपरान्तता से ही नित्यकारण के प्रतिक्षण परिणाम का अनुमान किया जाता है। क्योंकि 'नित्य' शब्द का एकमात्र अर्थ यह नहीं है कि जो परिणामशील न हो उसे ही 'नित्य' कहते हैं, अपितु परिणामशील पदार्थ की नित्यता का अर्थ यह है जो अपने स्वरूप से अतीतावस्था को प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार 'अतीततताशून्यत्वमात्र' नित्य का सामान्यलक्षण है। और नित्य का यह लक्षण गुण और पुरुष दोनों में घटित होता है।

**'नित्येषु धर्मिषु गुणेषु'**—इस वाक्यांश के पश्चात् 'परिणामाऽपरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः' का अध्याहार कर लेना चाहिये।

**'अलब्धपर्यवसानः'**—इसके पश्चात् 'क्रमः' यह पदशेष है, अतः वह अध्याहार्य है।

**'स्थित्या गत्या'**—यहाँ प्रश्नकर्त्ता प्रश्न करता है कि सृष्टि और प्रलय के प्रवाहरूप से वर्तमान 'संसार' के क्रम की समाप्ति होती है अथवा नहीं? उत्तर में यदि संसारक्रम की समाप्ति होती है—ऐसा कहा जाय तो 'अलब्धपर्यवसान' कथन से विरोध होगा और यदि संसारक्रम की समाप्ति का निषेध किया जाय तो सूत्र के पूर्वांश 'परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्' में कथित सिद्धान्त से विरोध होगा। इस प्रकार उभयतःपाशारज्जु को दृष्टिगत रखकर ही प्रश्न किया गया है।

**'नेतरस्येति'**—यहाँ 'इति' अव्यय हेत्वर्थक है।

**'एकान्ततः'**—शब्द का अर्थ है—नियतः। जिस प्रकार जातमात्र का मरण नियत है, उसी प्रकार प्राणिमात्र का श्रेयस्त्व अथवा अश्रेयस्त्व नियत नहीं है॥३३॥

### योगवार्त्तिकम्

**ननु परिणामसमाप्तिरिति वक्तव्ये क्रमशब्दः परिणामानां प्रतिक्षणमुत्पादविनाशकथनेन वैराग्योत्पादनाय प्रयुक्तः, स चायमर्थः कथम्, क्रमशब्दस्य पौर्वापर्यमात्रवाचित्वादित्याशयेन क्रमशब्दार्थं पृच्छति—अथेति। अयमेतत्सूत्रीयः। अत्र प्रत्युत्तरं सूत्रम्—क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः। क्षणप्रतियोगी क्षणस्यावसरस्य विरोधी क्षणेनाप्यनन्तरित इति यावत्। एवंरूपोऽत्र क्रमो विवक्षितो न तु पौर्वापर्यमात्रमिति विशेष्यदलार्थः। परिणामश्च**

पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिरित्युक्तमेव। ईदृशे च क्रमे प्रमाणप्रदर्शनपरं परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य इति विशेषणम्।

शङ्का—सूत्र में 'परिणामसमाप्तिः' पद द्वारा कृतार्थ गुणों के परिणाम की समाप्ति बतलाते समय 'क्रम' शब्द का प्रयोग, परिणामशील पदार्थों में प्रतिक्षण होने वाले वृद्धि-ह्रास के कथन द्वारा उनमें (सत्त्वादि गुण और तज्जात महदादि पदार्थों में) वैराग्यबुद्धि जागरित कराने के लिये, किया गया है—किन्तु विचारणीय है कि 'क्रम' शब्द का ऐसा अर्थ किस प्रकार किया जा रहा है, क्योंकि 'क्रम' शब्द तो पौर्वापर्यमात्र का वाचक होता है?—इस अभिप्राय से भाष्यकार 'क्रम' शब्द का अर्थ पूछते है—'अथेति।' इस प्रकार यह विगत सूत्रीय प्रश्न है।

समाधान—इस विषय में प्रत्युत्तरसूत्र (समाधानपरक सूत्र) है—'क्षणेति।' वार्त्तिककार 'क्षणप्रतियोगी' पद का अर्थ करते हैं—'क्षणस्यावसरस्य विरोधी क्षणेनाप्यनन्तरित इति यावत्' अर्थात् क्षणरूप काल के व्यवधान का विरोधी अर्थात् क्षणमात्र की सीमा से भी रहित जिसके बीच क्षणमात्र का भी अन्तर न हो, ऐसा क्षणप्रतियोगी 'क्रम' होता है। इस प्रकार का 'क्रम' यहाँ विवक्षित है, न कि पौर्वापर्यरूप 'क्रम'। यही सूत्रगत 'क्रमः' इस विशेष्यदल का अर्थ है। सूत्रगत 'परिणाम' शब्द का अर्थ है—पूर्व धर्म के अपाय (नाश) पूर्वक धर्मान्तर की उत्पत्ति। इस प्रकार उपरिनिर्दिष्ट 'क्रम' के विषय में प्रमाण को प्रस्तुत करने वाला अर्थात् प्रमाणप्रदर्शनपरक 'परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः' यह विशेषण पद है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार भाष्यार्थ प्रारम्भ करते हैं—

### योगवार्त्तिकम्

भाष्यकारस्तु क्षणप्रतियोगीत्यस्य पर्यवसितार्थमाह—क्षणानन्तर्यात्मेति। क्रम इत्युत्तरेणान्वयः। क्षणानन्तर्यात्मा क्षणानन्तर्यधर्मकः, आनन्तर्यं चाव्यवधानं क्रमस्तु पूर्वापरीभावः। तथा च क्षणाव्यवहितपरिणामधारा पूर्वसूत्रे परिणामक्रमशब्दार्थः। अनवच्छिन्नधारायाः प्रमाणप्रदर्शकं सूत्रावयवं व्याचष्टे—परिणामस्येति। पूर्वान्तापेक्षया वस्त्रादिरूपस्य परिणामस्यापरान्तेन चरमावस्थयाऽनवच्छिन्नपरिणामधाराऽनुमीयत इत्यर्थः। अत्र युक्तिमाह—न हीति। अननुभूतोऽप्राप्तो यथोक्तक्रमो यैरेवम्भूताः क्षणा यस्याः साऽननुभूतक्रमक्षणा पुराणता। तथा च वस्त्रस्यान्तकाले दृश्यमाना पुराणता न ह्यननुभूतक्रमक्षणा सम्भवतीत्यर्थः। अतः पुराणतायाः सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मस्थूलादिरूपैः परिणामक्षणेऽप्यविरलः क्रमोऽनुमीयत इति। नन्वपरान्तेनानित्येष्वेव क्रमः सिद्धो न तु प्रधानेऽपि, तस्य चरमावस्थाया अभावात्, अतो गुणानां परिणामक्रमे किं प्रमाणं येन तत्समाप्तिः पूर्वसूत्रोक्ता घटेत? तत्राह—नित्येषु चेति। नित्येषु स्वतोऽपरान्ताभावेऽपि विकाराणामपरान्तैरेव प्रतिक्षणपरिणामो दृष्टोऽनुमित इत्यर्थः, धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति प्रागुक्तत्वादिति भावः।

भाष्यकार सूत्रगत **'क्षणप्रतियोगी'** पद के पर्यवसित अर्थात् निर्धारित अर्थ को बतलाते हैं—**'क्षणानन्तर्यात्मेति।'** भाष्य के **'क्षणानन्तर्यात्मा'** पद को वैयासिक वाक्य के **'क्रमः'** इस उत्तर पद के साथ अन्वित किया जाता है। **'क्षणानन्तर्यात्मा'** शब्द का अर्थ है—क्षणानन्तर्यधर्मक। **'आनन्तर्य'** शब्द का अर्थ अव्यवधान तथा **'क्रम'** शब्द का अर्थ पूर्वापरीभाव (पौवापर्य) है। इस प्रकार क्षणाबाधित (क्षणाव्यवहित) परिणामधारा, अव्यवहित पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट **'परिणामक्रम'** शब्द का अर्थ (वाच्य) है। क्षणों की अनवच्छिन्न धारा को प्रमाणित करने वाले (विशेषणपरक) सूत्रभाग की भाष्यकार व्याख्या करते हैं—**'परिणामस्येति।'** वस्त्रादिरूप धर्मी में होने वाले परिणाम (अवस्था-परिणाम) की अनवच्छिन्न धारा पूर्वान्त की अपेक्षा परिणाम की अपरान्तरूप चरमावस्था से अनुमित होती है। भाष्यकार इसमें युक्ति देते हैं—**'न हीति।'** वार्त्तिककार **'अननुभूतक्रमक्षणा'** इस समस्त पद का बहुव्रीहिपरक विग्रह करते हैं—**"अननुभूतोऽप्राप्तो यथोक्तक्रमो यैरेवम्भूता क्षणा यस्याः सा अननुभूतक्रमक्षणा पुराणता'** अर्थात् क्रम का अनुभव न करने वाले क्षणों से निर्वर्तित जो पुराणता है उसे 'अननुभूत-क्रमक्षणा पुराणता' कहते हैं। इस प्रकार वस्त्र के अन्त में दिखलाई पडने वाली पुराणता 'अननुभूतक्रमक्षण' वाली नहीं हो सकती है। अर्थात् धर्मिगत पुराणता क्रम का अनुभव करने वाले क्षणों से ही निर्मित होती है, एकाएक नहीं। फलतः धर्मिगत पुराणता का, सूक्ष्मतम-सूक्ष्मतर-सूक्ष्म-स्थूलादि रूपों से युक्त परिणामक्षण में भी, निरवच्छिन्न क्रम अनुमित होता है।

**शङ्का**—परिणाम के अवसान द्वारा तो अनित्य पदार्थों में ही **'क्रम'** का निर्धारण (अनुमान) किया जाता है, न कि इससे नित्य प्रकृतिगत परिणाम अनुमित होता है। क्योंकि प्रकृति के नित्य होने से उसकी चरमावस्था नहीं होती है। अतः गुणों के **'परिणामक्रम'** के विषय में ही क्या प्रमाण है, जिससे पूर्वसूत्र में कथित गुणों के परिणामक्रम की **'समाप्ति'** को संयोजित किया जाय अर्थात् 'परिणामक्रमसमाप्ति' का विधान किया जा सके?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'नित्येषु चेति।'** प्रकृति आदि नित्य पदार्थों में परिणाम की पर्यवसानता का तो स्वाभाविकरूप से अभाव ही रहता है, तथापि (तज्जन्य महदादि) विकारों (कार्यों) की पारिणामिक अवसानता से ही नित्य पदार्थों का प्रतिक्षण परिणाम अनुमित होता है। जैसा कि पहले प्रतिपादित कर चुके हैं कि धर्मिगत विक्रिया अर्थात् परिणाम धर्म द्वारा व्यवहृत होता है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार पूर्वोल्लिखित नित्य पदार्थगत परिणाम के स्वरूप का विश्लेषण करते हैं—

## योगवार्त्तिकम्

ननु परिणामक्रमाङ्गीकारे नित्यत्वहानिरित्याशङ्कायामाह—द्वयी चेति। तथा च परिणामित्वेन कूटस्थनित्यतैव विरुध्यते न नित्यतासामान्यमित्याशयः। नित्यस्य सामान्यलक्षणमाह—यस्मिन्निति। तत्त्वं न विहन्यते स्वरूपं नातीतं भवति। अत्र चातीततताशून्यत्वमात्रं [1]नित्यत्वस्य सामान्यलक्षणमिति बोध्यम्, तच्चोभयसाधारणमित्याह—उभयस्येति। गुणपुरुषयोरित्यर्थः। पूर्वसूत्रे परिणामशब्देन व्यावर्त्यं स्वरूपास्तिताक्रमं दर्शयितुं क्रमसामान्यं विभजते—तत्रेति। बुद्ध्यादिषु महदादिषु लब्ध[2]पर्यवसानो विनाशित्वादित्यर्थः। गुणेष्विति। अत्रापि परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य इत्यन्वेति। परिणामस्य क्रमं द्विधा व्याख्याय तृतीयं स्वरूपास्तितायाः क्रममसङ्कीर्णोदाहरणेनाह—कूटस्थेति। बद्धानां चित्ताविवेकेन कदाचित्परिणामाध्यासोऽपि स्यादित्याशयेन स्वरूपमात्र[3]प्रतिष्ठेष्वित्युक्तम्, तस्यैव स्वरूपाख्यानम्—मुक्तपुरुषेष्विति। स्वरूपास्तिता च तत्तत्क्षणमात्रं तत्क्रमश्च पुरुषेष्वप्यस्ति, इदानीं स्थित्वा पश्चात्स्थास्यतीति व्यवहारात्, अन्यथा सर्वकालसम्बन्धरूपनित्यताऽनुपपत्तेश्चेत्यतः—यत्राप्यलब्धपर्यवसान इति। क्रम इति शेषः। नन्वेवमात्मनोऽप्यस्तिताक्रमस्वीकारे षड्भावविकारशून्यत्वसिद्धान्तविरोध इत्याशङ्कां परिहरति—शब्दपृष्ठेनेति। स च क्रमोऽस्त्याख्यक्रियामादायैव शब्दपृष्ठेन शब्दानुसारिणा व्यवहर्त्रा कल्पितो भवति, न तु जन्मोत्तरकालीनमस्तितापरिणाममादायेत्यर्थः। तथा चास्तित्वाख्यक्रियैव षड्भावविकारान्तर्गता पुरुषे निषिद्धेत्याशयः। सा च क्रियारूपिण्यस्तिता वृद्धिह्रेत्ववयवोपचयरूपेति विभागः।

**शङ्का**—नित्य पदार्थों में 'परिणामक्रम' स्वीकार करने पर नित्य पदार्थों की नित्यता क्षतिग्रस्त हो जायेगी अर्थात् पदार्थ का नित्यत्व जाता रहेगा?

**समाधान**—ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं—**'द्वयी चेति।'** नित्य पदार्थों की परिणामिता कहने से उसके कूटस्थनित्यरूप का ही निषेध किया जाता है, न कि नित्यतासामान्य का। भाव यह है कि कूटस्थनित्य पदार्थ जैसे पुरुष में परिणाम नहीं होता है और यही उसका **'कूटस्थत्व'** है किन्तु परिणामशीला नित्य प्रकृति में परिणाम होता है और यही उसका परिणामत्व है। अतः नित्य पदार्थों का परिणामत्व उसके नित्यत्व का बाधक नहीं होता है। सम्प्रति, भाष्यकार **'नित्य'** का **'सामान्यलक्षण'** करते हैं—**'यस्मिन्निति।'** स्वयं परिणत होते रहने पर भी जिस पदार्थ का **'तत्त्व'** अर्थात् स्वरूप **'न विहन्यते'** अर्थात् अतीत नहीं होता है, उसे **'नित्य'** कहते हैं। इस प्रकार प्रकृत में **'अतीततताशून्यत्व'** ही नित्यत्व का सामान्यलक्षण है, ऐसा समझना चाहिये। यह नित्यता उभयसाधारण है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—**'उभयस्येति।'** यह

---

1. क छ—नित्यत्वस्य, ख ग—नित्य०, घ च—नित्यस्य।
2. ख—बुद्ध्यादीनां (पर्यवसानः—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—बुद्ध्यादीनां नोपलभ्यते।
3. क घ—प्रतिष्ठ०, ख ग च छ—प्रतिष्ठेषु

सामान्यनित्यत्व गुण और पुरुष दोनों में अवस्थित है। पूर्व सूत्र में परिणामशब्द से व्यावर्त्य स्वरूपास्तिताक्रम को प्रदर्शित करने के लिये भाष्यकार क्रमसामान्य का विभाग करते हैं—'**तत्रेति**।' गुण के कार्य महदादियों में परिणाम के अन्त में ज्ञायमान जो क्रम है, वह '**लब्धपर्यवसान**' क्रम है, क्योंकि बुद्ध्यादि विनाशी अर्थात् अनित्य हैं। '**गुणेष्विति**।' नित्यधर्मी प्रकृति (गुणों) में जो परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य क्रम है वह '**अलब्धपर्यवसान**' है। वार्तिककार ने बतलाया है कि यहाँ '**गुणेषु**' पद के साथ भी **परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य**' पद का अन्वय किया जाता है। परिणाम के क्रम-द्वैविध्य की व्याख्या करके भाष्यकार तृतीय स्वरूपास्तिता के क्रम को असंकीर्ण उदाहरणसहित बताते हैं—'**कूटस्थेति**।' बद्ध पुरुषों का चित्त के साथ भेदज्ञान न होने के कारण इनमें कदाचित् परिणामाध्यास भी हो सकता है, इस अभिप्राय से भाष्यकार ने '**स्वरूप-मात्रप्रतिष्ठेषु**' यह पद दिया है और इसी का स्वरूपाख्यानपरक पद है—'**मुक्त-पुरुषेष्विति**।' कूटस्थनित्य अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित मुक्त पुरुषों में भी '**स्वरूपास्तिता**' (स्वरूप से सत् होना) तत्-तत् क्षण और उसके क्रम से युक्त है, क्योंकि 'पुरुष इस समय स्थित रहकर आगे भी स्थित रहेगा', ऐसा वाग्व्यवहार होता है। अतः पुरुष में भी क्रम स्वीकार करना चाहिये। यदि ऐसा न माना जाय तो पुरुष में सर्वकाल-सम्बन्धरूप अनित्यता की अनुपपत्ति होगी। अतः भाष्यकार ने कहा है—'**यत्रालब्ध-पर्यवसान इति**।' अर्थात् पुरुष में स्वरूपास्तितारूप क्रम तो है ही किन्तु वह '**अलब्धपर्य-वसान**' क्रम वाला है अर्थात् वह क्रम, समाप्ति को प्राप्त नहीं करता है। अर्थात् परिणामशून्यता के कारण परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य क्रम पुरुष में नहीं है। वार्तिककार ने स्पष्ट किया है कि '**यत्राप्यलब्धपर्यवसानः**' पदों का '**क्रमः**' यह वाक्यशेष है।

**शङ्का**—पूर्व वर्णन के अनुसार आत्मा में भी '**स्वरूपास्तिता**' रूप क्रम स्वीकार करने पर 'आत्मा षड्भावविकारशून्य है'—इस सिद्धान्त से विरोध होगा?

**समाधान**—भाष्यकार पूर्वपक्षी की उक्त शंका का परिहार करते हैं—'**शब्दपृष्ठेनेति**।' पुरुषनिष्ठ अलब्धपर्यवसान क्रम '**अस्ति**' इत्याकारक क्रिया को लेकर ही व्यवहारकर्त्ता के '**शब्दपृष्ठ**' अर्थात् शब्दव्यवहार (वाग्व्यवहार) से कल्पित होता है, न कि जन्मोत्तरकालीन अस्तितारूप परिणाम को लेकर पुरुष के परिणाम का निश्चय किया जाता है। इस प्रकार पुरुष में षड्भावविकार के अन्तर्गत आने वाली अस्तित्वाख्य क्रिया ही निषिद्ध है। और यह क्रियारूपिणी अस्तिता वृद्धि के हेतुभूत अवयवोपचय की हेतु है। यही पुरुष तथा अन्य अनित्य पदार्थों में रहने वाली '**अस्तिता**' में अन्तर है।

सम्प्रति, गुणों में विद्यमान अलब्धपर्यवसान परिणामक्रम पर पुनर्विचार किया जा रहा है—

**योगवार्त्तिकम्**

**गुणेष्वलब्धपर्यवसानः परिणाम इति श्रुत्वाऽऽक्षिपति—अथेति। अस्य संसारस्य जन्मादि-परिणामजातस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्य सृष्टिप्रलयप्रवाहेणावस्थितस्य क्रम-समाप्तिरस्ति न वा? आद्ये अलब्धपर्यवसानोक्तिविरोधः, अन्त्ये परिणामक्रमसमाप्ति-र्गुणानामिति पूर्वसूत्रविरोधः, तथा भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरितिश्रुतिविरोधश्चेति? पूर्वसूत्रे कृतार्थपुरुषं प्रत्येव परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानामुक्ता न तु सामान्यत इत्याशयेन समाधत्ते—अवचनीयमेतदिति। प्रत्युत्तरानर्हमेतद्भवद्वचनमित्यर्थः। उक्तप्रश्नस्योत्तरानर्हत्वं प्रतिपादयितुम् आदावुत्तरार्हं द्विविधप्रश्नं दर्शयति—अस्ति प्रश्न इति। सर्वो जातो मरिष्यती-त्येकान्तवचनीयोऽविभज्य वचनीयः प्रश्नः, अस्य च [1]ओम् इति प्रतिवचनम्, सत्यं भो इत्यर्थः। ओं भो इति पाठस्तु समीचीनः।**

गुणों में 'अलब्धपर्यवसान' परिणामक्रम होता है' ऐसा सुनकर वादी प्रश्न (आक्षेप) करता है—'**अथेति**।'

**शङ्का**—जन्मादिपरिणाम वाले इस संसार की स्थिति और गति के रूप से सत्त्वादि गुणों में '**वर्तमान**' अर्थात् सृष्टि और प्रलयरूप प्रवाह के रूप से अवस्थित परिणाम-क्रम की समाप्ति होती है अथवा नहीं? यदि प्रथम विकल्प के अनुसार सत्त्वादि गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति वाले पक्ष को स्वीकार किया जाय तो 'सत्त्वादि गुणों के अलब्धपर्यवसान' की वार्ता (उक्ति) विरुद्ध हो जायेगी? और यदि युक्ति-विरोध के निवारणार्थ अन्त्य (द्वितीय) विकल्प के अनुसार सत्त्वादि गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति न होने वाले पक्ष को स्वीकार किया जाय तो '**परिणाम-क्रमसमाप्तिर्गुणानाम्**' (४/३२) इस पूर्वसूत्र से विरोध होगा तथा '**भूयश्चान्ते विश्व-मायानिवृत्तिः**' (श्वे. उप. १/१०) अर्थात् 'अन्त में विश्वरूप माया की निवृत्ति (समाप्ति) हो जाती है'—इत्याकारक श्रुति से विरोध होगा?

**समाधान**—पूर्व सूत्र में कृतकृत्य पुरुष को लक्ष्य करके ही सत्त्वादि गुणों के परिणाम-क्रम की समाप्ति का विधान किया गया है, न कि सामान्यरूप से गुणों के परिणाम-क्रम की समाप्ति की बात कही गई है—इस अभिप्राय से भाष्यकार पूर्वपक्षी की शंका का समाधान करते हैं—'**अवचनीयमेतदिति**।' आपने (पूर्वपक्षी ने) जो प्रश्न किया है वह प्रत्युत्तर के योग्य नहीं है। उक्त प्रश्न की उत्तरानर्हता को प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार उत्तर देने योग्य दो प्रश्नों को सर्वप्रथम करते हैं—'**अस्ति प्रश्न इति**।' '**सर्वो जातो मरिष्यति**।' अर्थात् क्या सभी उत्पन्न प्राणी मरते हैं? यह '**एकान्तवचनीय**' अर्थात् अविभज्यवचनीय प्रश्न है और इसका प्रतिवचन अर्थात् उत्तर है—'**ओमिति**।'

---

1. **क ख—अम्भो इति प्रत्युत्तरं, ग—ओं भो इति वचनं, च छ—ओम् इति प्रतिवचनं, घ—अम्भो.../ओं भो.../ओम् इति...नोपलभ्यते**

अर्थात् यह सत्य है कि सभी उत्पन्न प्राणी मरते हैं। इस प्रसंग में वार्त्तिककार का कहना है कि 'ओं भो इति।' ऐसा पाठ समीचीन है।

सम्प्रति, विभज्यवचनीय प्रश्न का विश्लेषण किया जा रहा है—

**योगवार्त्तिकम्**

**अविभज्यवचनीयं प्रश्नं प्रदर्श्य विभज्यवचनीयं प्रश्नान्तरं प्रदर्शयति—अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति। विभागेन वचनं प्रत्युत्तरं दर्शयति—प्रत्युदितेति। विभज्यवचनीयप्रश्नं लौकिकमपि दर्शयति—तथा मनुष्येति। [1]उक्तप्रश्नस्तु यथाश्रुत एकान्तत एवावचनीय इत्याह—अयं त्विति। अयमित्युक्तं विशिष्याह—संसार इति। अवचनीयत्वमेवोपपादयति—कुशलस्येत्यादिना दोष इत्यन्तेन। कुशलस्य कुशले गुणकृतस्य संसारक्रमस्य समाप्तिरस्ति नेतरस्मिन्नित्यतो गुणसृष्टिप्रलयप्रवाहोच्छेदानुच्छेदान्यतरावधारणे दोषः, आद्ये बाधोऽन्त्ये कस्यापि मुक्तिर्नास्तीति शिष्यमोहापत्तिरित्यर्थः। अस्यापि प्रश्नस्य विकल्प्योत्तरं देयमित्याह—तस्मादिति। तस्मादुत्तरदानार्थमादौ विकल्पेन व्याख्येयोऽयं प्रश्न इत्यर्थः। तद्यथा—यदि च गुणानां सृष्ट्याद्युच्छेदः पृच्छ्यते तदा नास्तीत्येव वक्तव्यम्,**

**अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज! विद्यते।**
**अव्युच्छिन्ना यतस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः॥**

**इत्यादिवाक्यशतेभ्यः सृष्टिप्रवाहस्यानादित्ववदनन्तत्वस्यापि सिद्धेः शुष्कतर्कस्याप्रयोजकत्वात्, अन्यथा संसारहेत्वदृष्टस्य सर्वस्यैव सादित्वात्संसारस्यानादित्वमपि तर्कविरोधेन न सिध्येत्। भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति श्रुतिश्च मायाऽऽख्यप्रकृतेः प्रलये व्यापारोपरमाख्यां निवृत्तिमेव वदति। एतेन सर्वमुक्तिरप्रामाणिकीति सिद्धम्॥३३॥**

अविभज्यवचनीय प्रश्न का स्वरूप प्रदर्शित करने के पश्चात् भाष्यकार विभज्यवचनीय प्रश्नान्तर को प्रदर्शित करते हैं—'**अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति।**' क्या सभी प्राणी मरकर उत्पन्न होंगे? प्रश्न का उत्तर (वचन प्रत्युत्तर) विभागपूर्वक दर्शाया जा रहा है—'**प्रत्युदितेति।**' अर्थात् लब्धविवेकख्यातिमान् कुशल व्यक्ति का मरकर पुनर्जन्म नहीं होगा और अन्य अविवेकी पुरुषों का जन्म होगा। भाष्यकार विभज्यवचनीय प्रश्न के लौकिक रूप को भी प्रदर्शित करते हैं—'**तथा मनुष्येति।**' अर्थात् मनुष्य जाति श्रेष्ठ है अथवा नहीं? इस प्रश्न का यथाश्रुत एकान्तवचनीय उत्तर नहीं दिया जा सकता है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—'**अयं त्विति।**' '**अयम्**' के द्वारा उक्त एकान्तावचनीयता को भाष्यकार विशेषकर बतलाते हैं—'**संसार इति।**' अर्थात् संसार अन्तवान् है अथवा नहीं? भाष्यकार स्वयं प्रश्न के अवचनीयरूप का उपपादन करते हैं—'**कुशलस्येत्यादिना...दोष इत्यन्तेन।**' '**कुशल**' अर्थात् विवेकज्ञानसम्पन्न

---

1. क ग घ च छ—उक्तप्रश्नस्तु...आत्मा सर्ववेदिनां उपलभ्यते, ख—उक्त...वेदिनां नोपलभ्यते।

कुशल पुरुष में (कुशल पुरुष के प्रति) सत्त्वादि गुणों द्वारा सम्पादित संसारक्रम की समाप्ति हो जाती है और तद्भिन्न पुरुष में अर्थात् अकुशल पुरुष के प्रति नहीं। अतः गुणकृत सृष्टिप्रवाह अथवा प्रलयप्रवाह के उच्छेद अथवा अनुच्छेद में से किसी एक पक्ष को निर्धारित करने में दोष है। यदि गुणों के सृष्टिप्रलयप्रवाह का उच्छेद माना जाय तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होगा अथवा द्वितीय विकल्प के अनुसार तथाकथित संसारक्रम का अनुच्छेद माना जाय तो किसी को भी मुक्ति प्राप्त न हो सकेगी और इस प्रकार (योगमार्गीय) शिष्य मोहग्रसित हो जायेंगे। अतः यह प्रश्न भी विभागपूर्वक उत्तरार्ह है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—'**तस्मादिति**।' प्रश्न का उत्तर देने के लिये सर्वप्रथम यह प्रश्न विकल्पपूर्वक व्याख्येय है, ऐसा भाष्यार्थ है। तथाहि—यदि पूर्वपक्षी गुणों के सृष्ट्यादिसम्बन्धी उच्छेद के विषय में पूछता है तो नकारात्मक उत्तर देना चाहिये, क्योंकि 'अनादि...संयमाः' (वि.पु. १/२/२६) अर्थात् हे द्विज! कालरूप भगवान् अनादि हैं। इनका कोई अन्त नहीं होता है। इसलिये सृष्टि, स्थिति और प्रलय के क्रम का भी कभी अन्त नहीं होता है। ये प्रवाहरूप से बराबर होते रहते हैं'—इत्यादि सैकड़ों वाक्यों द्वारा 'अनादित्व' की भाँति सृष्टिप्रवाह का 'अनन्तत्व' भी सिद्ध होता है। अतः आपके शुष्क तर्क का कोई प्रयोजन नहीं है। अन्यथा संसार के हेतुभूत सभी अदृष्टों को सादि मानने से संसार का अनादित्व भी विरोधी तर्क द्वारा सिद्ध न हो सकेगा। तथा '**भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्तिः**' (श्वे. उप. १/१०) यह श्रुति तो प्रलयकाल में मायाख्य प्रकृति के व्यापारोपरमरूप निवृत्ति को ही प्रतिपादित करती है। इससे सभी मनुष्यों की मुक्ति होती है, ऐसा कहना भी अप्रामाणिक है॥३३॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के साथ योगसूत्र का अन्तिम सूत्र उपस्थित हो रहा है—

**व्यासभाष्यम्**

**गुणाधिकार[1]क्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तम्। तत्स्वरूपमवधार्यते—**

गुणों के अधिकार-क्रम की समाप्ति हो जाने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है। सम्प्रति, सूत्र द्वारा उस कैवल्य का स्वरूप निर्धारित किया जा रहा है—

**योगसूत्रम्**

## पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं [2]स्वरूपप्रतिष्ठा वा

---

1. क ख ग ब—परिसमाप्तौ, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ म म य र—क्रमसमाप्तौ।
2. स्वरूपं—इति पाठान्तरम्।

[1]चितिशक्तिरिति॥३४॥

पुरुषार्थशून्य गुणों का प्रविलीन हो जाना 'कैवल्य' है या चितिशक्ति का अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाना 'कैवल्य' है॥३४॥

### व्यासभाष्यम्

कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्य[2]कारणात्मकानां गुणानां तत्कैवल्यम्, स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वा[3]नभिसम्बन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थानं [4]कैवल्यमि[5]ति॥३४॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे व्यासभाष्ये
कैवल्यपादश्चतुर्थः॥४॥

भोग और अपवर्ग सम्पादित कर चुकने वाले अत एव पुरुषार्थरहित कार्यकारणात्मक गुणों का जो लय होता है, उसे 'कैवल्य' कहते हैं। बुद्धिसत्त्व के साथ पुनः सम्बन्ध न होने के कारण स्वरूपावस्थित चितिशक्ति का केवल अर्थात् विशुद्ध रूप में रह जाना और सर्वदा उसी रूप में वर्तमान रहना 'पुरुष' का कैवल्य कहा जाता है॥३४॥

———×××———

### तत्त्ववैशारदी

कैवल्य[6]स्वरूपावधारणपरस्य सूत्रस्यावान्तरसंगतिमाह—गुणाधिकारेति। पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। कृतकरणीयतया पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः स्वकारणे प्रधाने लयस्तेषां कार्यकारणात्मकानां गुणानां व्युत्थानसमाधिनिरोधसंस्कारा मनसि लीयन्ते, मनोऽस्मितायाम्, अस्मिता लिङ्गे, लिङ्गमलिङ्गे

---

1. चित्—इति पाठान्तरम्।
2. क ख ग च छ ज झ थ द ध न भ म—कारणात्मकानां, घ प फ य र—कारणात्मनां, त—करणात्मनां, व—करणात्मकानाम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—अनभिसंबन्धात्, ब—अनभिसंबन्धिनी।
4. ब—ओम् (कैवल्यं—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—ओम् नोपलभ्यते।
5. थ—अयमस्मितानुगतः सम्प्रज्ञातः समाधिश्चितिशक्तिः कैवल्यविवेकतादात्म्येन स्थिता सैवात्र ख्यातिरित्यर्थः (इति—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—अयं....इत्यर्थः नोपलभ्यते।
6. क ग थ द ध—रूप०, ख घ च छ ज झ त न—स्वरूप०।

**इति। योऽयं गुणानां कार्य[1]कारणात्मकानां प्रतिसर्गस्तत्कैवल्यम्, यं कञ्चित्पुरुषं प्रति प्रधानस्य मोक्षः। स्वरूपप्रतिष्ठा [2]वा पुरुषस्य मोक्ष इत्याह—स्वरूपेति। अस्ति हि महाप्रलयेऽपि स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिः, न चासौ मोक्ष इत्यत आह—पुनरिति। सौत्र इतिशब्दः शास्त्रपरिसमाप्तौ॥३४॥**

सम्प्रति, भाष्यकार कैवल्यस्वरूप के अवधारणपरक सूत्र की अवान्तरसङ्गति (पूर्ववर्ती सूत्र के साथ सम्बन्ध) को बतलाते हैं—'गुणाधिकारेति।' गुणों के अधिकार की समाप्ति होने पर 'कैवल्य' प्राप्त होता है, अतः कैवल्य-प्रतिपादक सूत्र प्रस्तुत हो रहा है। सूत्र है—'पुरुषार्थेति।' कृतकार्यरूप से (करने योग्य सब समाप्त कर चुकने से) पुरुषार्थशून्य गुणों का जो 'प्रतिप्रसव' अर्थात् अपने में ही जो लय होता है, उन गुणों के व्युत्थानकालिक, समाधिकालिक तथा निरोधकालिक समस्त संस्कार मन में लय को प्राप्त होते हैं। मन 'अस्मिता' अर्थात् अहंकार में, अहंकार 'लिङ्ग' अर्थात् महत्तत्त्व में और महत् 'प्रकृति' में लय को प्राप्त होता है। इस प्रकार कार्य- कारणात्मक गुणों का यह जो 'प्रतिसर्ग' अर्थात् लय है, वह जिस किसी कुशल पुरुष के प्रति प्रधान' का कैवल्य अर्थात् मोक्ष है। अथवा पुरुष का उपाधिशून्य अपने नैसर्गिकरूप में प्रतिष्ठित होना 'कैवल्य' है, इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं—'स्वरूपेति।' पुरुष का अपने शुद्ध चैतन्य रूप में रहना कैवल्य है।

**शङ्का**—महाप्रलय की अवस्था में भी चितिशक्ति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है, तो क्या इस अवस्था को भी पुरुष का कैवल्य कहते हैं?

**समाधान**—महाप्रलयकालिक चितिशक्ति का स्वरूपप्रतिष्ठत्व 'मोक्ष' नहीं कहलाता है, इसे भाष्यकार बतलाते हैं—'पुनरिति।' जब पुरुष का बुद्ध्यादि के साथ सम्बन्ध का आत्यन्तिक अभाव होता है, तभी पुरुष का मोक्ष कहा जाता है। सूत्र के अन्त में प्रयुक्त 'इति' शब्द शास्त्र की समाप्ति का सूचक है॥३४॥

**बालप्रिया**—

'प्रतिप्रसवः कैवल्यम्'—इसके द्वारा पतञ्जलि ने आत्यन्तिक प्रपञ्चोपरमरूप 'मुक्ति' का लक्षण किया है। इसमें निम्नाङ्कित श्रुतिवाक्य प्रमाण हैं—

**'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः', 'तरति शोकमात्मवित्।'**

'स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः'—इसके द्वारा सूत्रकार ने स्वरूपसुखाप्तिरूप मुक्ति का द्वितीय व्यावहारिक लक्षण किया है। इसमें अधोलिखित श्रुतिवाक्य प्रमाण है—

**'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।'**

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न—कारणात्मकानां, थ द ध—कारणात्मनाम्।
2. क—वा, ख ग झ त थ द ध—पुरुषस्य वा, घ च छ ज न—वा पुरुषस्य।

इसी तथ्य को शब्दान्तर में सूत्र के आद्यदल से बुद्धि का कैवल्य तथा अन्त्य-दल से पुरुष का व्यावहारिक कैवल्य कहा गया है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार चतुर्थ पाद में आये हुए विषयों का संग्राहक श्लोक इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

**तत्त्ववैशारदी**

**मुक्त्यर्हचित्तं परलोकमेयज्ञसिद्धयो धर्मघनः समाधिः।**
**द्वयी च मुक्तिः प्रतिपादितास्मिन्पादे प्रसङ्गादपि चान्यदुक्तम् ॥१॥**

चतुर्थ पाद में कैवल्यभागीय चित्त, परलोक, मेय और ज्ञ-सम्बन्धी सिद्धियाँ, धर्ममेघसमाधि तथा दो प्रकार की मुक्ति का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रसंगतः अन्य (प्रकृत्यापूरादि) विषय भी कहे गये हैं।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार चारों पादों में आये विषयों को परिगणित करते हैं—

**तत्त्ववैशारदी**

**निदानं तापानामुदितमथ तापाश्च कथिताः**
**सहाङ्गैरष्टाभिर्विहितमिह योगद्वयमपि।**
**कृतो मुक्तेरध्वा गुणपुरुषभेदः स्फुटतरो**
**विविक्तं कैवल्यं परिगलिततापा चितिरसौ ॥२॥**

**इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचितायां पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यव्याख्यायां तत्त्ववैशारद्यां कैवल्यपादश्चतुर्थः॥४॥**

क्लेशादि तापों के कारण को बतलाया गया तथा तापों का भी प्रतिपादन किया गया। अष्टाङ्गों के साथ दो प्रकार के सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग का उपपादन किया गया। मुक्ति दिलाने का मार्ग, जो प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान है, वह अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा गया। जिसके समस्त औपाधिक ताप दूर हो गये हैं, ऐसी चिति-शक्ति का विशुद्ध कैवल्य बतलाया गया।

**बालप्रिया—**

**'मुक्त्यर्हचित्तम्'**—चतुर्थपाद के षष्ठ सूत्र से मुक्तियोग्य चित्त, दशम सूत्र से परलोकसिद्धि, पञ्चदशादि सूत्र से बाह्यार्थसिद्धि, उन्नीसवें सूत्र से ज्ञसिद्धि, अट्ठाईस-वें सूत्र से धर्ममेघसमाधि, तीसवें सूत्र से जीवन्मुक्ति तथा चौतिसवें सूत्र से विदेह-मुक्ति को बतलाया गया है।

**'निदानम्'**—इस शब्द का अर्थ है—आदिकारणभूता विपर्ययज्ञानवासना।

**'तापाः'**—ताप शब्द से क्लेश को लिया गया है। दूसरी दृष्टि से आध्यात्मिकादि दुःखों को 'ताप' मानने पर 'गुणपुरुषसंयोग' को निदान कहना होगा।

*इस प्रकार वाचस्पतिमिश्रविरचित पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य की तत्त्ववैशारदी टीका पर लिखी गई सपाठभेदबालप्रियाख्यहिन्दी व्याख्या का यह चतुर्थ कैवल्यपाद है॥४॥*

——×××——

### योगवार्त्तिकम्

यदि पुरुषस्य संसारोच्छेदः पृच्छ्यते तदा कुशलस्यास्ति नेतरस्येति प्रश्नवाक्यं विकल्प्य प्रतिवचनं संभवतीति उत्तरसूत्रमवतारयति—गुणाधिकारेति। गुणाधिकारः परिणामविशेषस्तत्क्रमपरिसमाप्तौ कैवल्यमिति ततः कृतार्थानामित्यादिसूत्रेण तात्पर्यतः प्रोक्तम्, तस्य कैवल्यस्य स्वरूपमवधार्यत इत्यर्थः। पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। कृतकर्त्तव्यतया पुरुषार्थशून्यानां गुणानां पुरुषोपकरणानां लिङ्गशरीरात्मकानां प्रतिप्रसवः स्वकारणेऽत्यन्तविलयः, स बुद्धेः कैवल्यम्, एतदेव च प्रधानस्यापि ज्ञानिपुरुषं प्रति कैवल्यमुच्यते, तेन पुरुषेण सह पुनरसंयोगात्। या तु धर्मधर्म्यभेदाच्चितिशक्तिः स्वरूपिणी स्वरूपप्रतिष्ठा बुद्धिसत्त्वोपाधिकरूपशून्यतारूपा जपापाये स्फटिकस्वरूपप्रतिष्ठावत् सा पुरुषस्य कैवल्यमित्यर्थः। परस्परवियोगे ह्युपाध्युपाधिमतोरुभयोरेव केवलता एकाकिता भवति, ते चोभे एव दुःखभोगनिवृत्त्याख्यपुरुषार्थसाधने भवत इति द्वे एव कैवल्ये लक्षिते। तयोश्चाद्यं कैवल्यं पुरुषस्योपचरितमित्युक्तं सांख्यकारिकायाम्—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति पुरुषः।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाऽऽश्रया प्रकृतिः॥ इति।

न तु स्वरूपप्रतिष्ठारूपं कैवल्यं दुःखभोगात्यन्तनिवृत्तिरूपो वा पुरुषार्थः पुरुषस्य तत्र निराकृतः, मोक्षस्यान्यमात्रनिष्ठत्वेऽपुरुषार्थत्वे मोक्षार्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, पुरुषार्थं हि करणानां प्रवृत्तिरिति। इतिशब्दः शास्त्रसमाप्तिसूचनार्थः।

यदि पूर्वपक्षी द्वारा पुरुष के संसारोच्छेद के बारे में पूछा जाता है तो 'कुशल पुरुष का संसारोच्छेद होता है, तदितर पुरुष का नहीं'—इस प्रकार प्रश्नवाक्य का विकल्पपूर्वक प्रत्युत्तर दिया जा सकता है, ऐसे तथ्य के प्रतिपादक उत्तरसूत्र को भाष्यकार अवतरित करते हैं—'गुणाधिकारेति।' 'गुणाधिकार' अर्थात् गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति होने पर कैवल्य प्राप्त होता है, ऐसा 'ततः कृतार्थानाम्... (४/३२) इत्याकारक सूत्र के द्वारा कैवल्य का तात्पर्य बतलाया गया है। उसी कैवल्य का प्रकृत सूत्र के द्वारा स्वरूप निर्धारित किया जा रहा है, ऐसा वैयासिक अवतरणिका का अर्थ है। सूत्र है—'पुरुषार्थेति।' पुरुष के प्रति भोग और अपवर्गरूप पुरुषार्थ का सम्पादन कर चुकने से 'पुरुषार्थशून्य' अर्थात् पुरुष के साधन (उपकरण) भूत लिङ्गशरीरात्मक महदादि अवयवों का 'प्रतिप्रसव' अर्थात् अपने कारण (मूलप्रकृति) में आत्यन्तिक विलय हो जाता है, यह 'बुद्धि' का 'कैवल्य' कहा जाता है और यही ज्ञानी पुरुष अर्थात् विवेकज्ञानवान् पुरुष के प्रति प्रधान का कैवल्य कहलाता है।

क्योंकि विवेकी पुरुष के साथ प्रकृति का (भोगापवर्गात्मक) संयोग नहीं होता है। और धर्म-धर्मी के अभेद से पुरुष की बुद्धिसत्त्वरूप उपाधि से रहित मात्र चैतन्य-स्वरूपिणी स्वरूपप्रतिष्ठा जो होती है वह उसी प्रकार है जिस प्रकार जपाकुसुम के अपसारण (अपाय) से स्फटिक की अपने उपाधिशून्य श्वेतिमरूप में अवस्थिति (प्रतिष्ठा) होती है। पुरुष की इसी स्वस्वरूपावस्थिति को 'कैवल्य' कहते हैं। इस प्रकार उपाधि-उपाधिमान् रूप बुद्धि और पुरुष का परस्पर वियोग होने पर दोनों की ही 'केवलता' अर्थात् एकाकिता अर्थात् परस्परप्रभावशून्य स्व-स्व रूप में अवस्थिति होती है। चूँकि ये दोनों उपाधि-उपाधिमान् रूप बुद्धि-पुरुष ही 'दुःखभोग-निवृत्ति' रूप पुरुषार्थ के साधन होते हैं, अतः बुद्धिनिष्ठ और पुरुषनिष्ठ दोनों प्रकार के कैवल्य को दिखाया गया है। इन दोनों प्रकार के कैवल्यों में प्रथम प्रकृतिगत कैवल्य पुरुष में उपचरित होता है अर्थात् बुद्धिगत कैवल्य को पुरुष का कैवल्य कहते हैं। ऐसा सांख्यकारिका में कहा गया है—'तस्मान्न...प्रकृतिः' (६२) अर्थात् 'इस कारण से न तो पुरुष का बन्धन होता है, न मोक्ष होता है और न संसरण होता है। बुद्ध्यादि नाना आश्रय (उपकरण) वाली प्रकृति का ही संसरण, बन्धन तथा मोक्ष होता है।' इस कारिका के द्वारा पुरुष में स्वरूपप्रतिष्ठारूप कैवल्य अथवा दुःखभोग का आत्यन्तिक निवृत्तिरूप पुरुषार्थ निराकृत नहीं हुआ है, क्योंकि मोक्ष के तद्भिन्न बुद्धि में रहने पर अपुरुषार्थरूप मोक्ष के लिये पुरुष की प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती है। वस्तुतस्तु बुद्ध्यादि करणों की प्रवृत्ति 'पुरुषार्थ' के लिये होती है। वार्तिककार का कहना है कि सूत्र में प्रयुक्त 'इति' शब्द योगशास्त्र की समाप्ति की सूचना प्रदान करता है।

सम्प्रति, वार्तिककार भाष्यार्थ प्रारम्भ करते हैं—

### योगवार्तिकम्

**भाष्ये—कार्यकारणात्मनामिति। कार्यकारणभावापन्नानां महदादिसूक्ष्मभूतपर्यन्तानां लिङ्गशरीरघटकानामित्यर्थः, न तु कार्यमत्र स्थूलशरीरम्, तत्सत्त्वेऽपि कैवल्योदयादिति। ननु स्वस्य स्वप्रतिष्ठत्वानुपपत्त्या कथं स्वप्रतिष्ठत्वम्? तत्राह—स्वरूपेति। पुरुषस्य पुनर्बुद्धिसत्त्वासंबन्धात् केवला चितिशक्तिरेव स्वरूपप्रतिष्ठेत्यर्थः। तस्य इति। स्वरूपप्रतिष्ठायां सदैवावस्थानं पुनरप्रच्यवः कैवल्यं द्वितीयमिति शेषः॥३४॥**

भाष्य में आया है—'कार्यकारणात्मनामिति।' 'कार्यकारणात्मक' शब्द का अर्थ है—कार्यकारणभावापन्न लिङ्गशरीर के अवयवभूत महदादि से लेकर तन्मात्ररूप सूक्ष्म-भूतपर्यन्त पदार्थ। यहाँ 'कार्य' शब्द का अर्थ स्थूलशरीर नहीं है, क्योंकि स्थूलशरीर के रहने पर भी (जीवन्मुक्तिरूप) कैवल्य का उदय होता है।

**शङ्का**—स्व का स्व में प्रतिष्ठित होना अनुपपन्न है। अतः पुरुष की स्वरूपावस्थिति को कैवल्य कैसे कहा गया?

**समाधान**—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**स्वरूपेति**' पुरुष का बुद्धिसत्त्व के साथ पुनः सम्बन्ध न होने से पुरुष की केवल चितिशक्तिरूप में स्वरूपप्रतिष्ठा होती है। वार्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'**तस्य इति**' पुरुष का एक बार अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर उसकी सर्वदा वैसी अवस्थिति बनी रहना अर्थात् कभी भी तथाकथित अवस्थिति से च्युति (भ्रंश) न होना द्वितीय प्रकार का कैवल्य है॥३४॥

विज्ञानभिक्षु व्यासभाष्य को श्लोक द्वारा उपसंहृत करते हुए कहते हैं—

**योगवार्त्तिकम्**

**योगग्रन्थसहस्राणां सर्वोपनिषदां तथा।**
**सतां च यत्र तात्पर्यं सोऽर्थो व्यासेन भाषितः॥**

सैकड़ों योगग्रन्थों का, समस्त उपनिषदों का और विवेकिजन का जिस सिद्धान्त (अर्थ) के प्रतिपादन में तात्पर्य है, उस तात्पर्यार्थ को व्यासमुनि ने बतलाया है।

योगवार्त्तिक का उपसंहार करते हुए विज्ञानभिक्षु विनीत निवेदन करते हैं—

**योगवार्त्तिकम्**

**व्याख्यातश्च यथाशक्ति निर्मत्सरधिया मया।**
**एतेन प्रीयतामीशो य आत्मा सर्वदेहिनाम्॥**
**श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते पातञ्जलभाष्यवार्त्तिके कैवल्यपादश्चतुर्थः॥४॥**

द्वेषबुद्धिशून्य होकर मैंने यथाशक्ति वैयासिक तात्पर्य की उक्त प्रकार से व्याख्या की है। अतः समस्त देहधारियों का आत्मभूत जो '**ईश्वर**' है, वह हम पर प्रसन्न होवे॥

*इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षुनिर्मित श्रीपातञ्जलभाष्यवार्त्तिक पर लिखी गई सपाठ-भेदबालप्रियाख्य हिन्दी व्याख्या का यह चतुर्थ कैवल्य पाद है॥४॥*

**समाप्तमिदं तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिकविभूषितव्यासभाष्यसमेतं पातञ्जलयोगदर्शनम्॥**

# व्यासभाष्य-तत्त्ववैशारदी-योगवार्तिक
## की
## पारिभाषिकपदलक्षिणी वाक्यमाला

अक्लिष्टाः—ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः—व्या. भा. पृ. 112।

अतीतः—यदा ( धर्मः स्वव्यापारं ) कृत्वा निवृत्तस्तदातीतः—व्या. भा. पृ. 1119।

अधिकारः—गुणानां सत्त्वादीनामधिकारः कार्यारम्भणसामर्थ्यम्—यो वा. पृ. 897।

अध्यात्मप्रसादः—आत्मनि बुद्धौ वर्त्तत इत्यध्यात्मं तादृशः प्रज्ञाख्य आलोक इति अध्यात्म-
प्रसादः—यो. वा. पृ. 524।

अध्यासः—अध्यासः संकेतकर्तुराहार्यारोपः—यो. वा. पृ. 1261।

अनागतः—यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदानागतः—व्या. भा. पृ. 1119।

अनित्यत्वम्—अनित्यत्वमसत्त्वं कालनिष्ठाभावप्रतियोगित्वम्—यो वा. पृ. 611।

अनुत्तमः—न विद्यतेऽस्मादुत्तम इत्यनुत्तमः—त. वै. पृ. 1013।

अपरिदृष्टाः—( चित्तस्य ) वस्तुमात्रात्मका ( धर्माः ) अपरिदृष्टाः—व्या. भा. पृ. 1202।

अपवर्गः—भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्गः—व्या. भा. पृ. 761।

अपवृज्यतेऽनेनेत्यपवर्गः—त. वै. पृ. 772।

अरिष्टानि—अरिवत्त्रासयन्तीत्यरिष्टानि त्रिविधानि मरणचिह्नानि— त. वै. पृ. 1290।

अर्थः—विज्ञानातिरिक्तो विज्ञेयोऽर्थः—यो. वा. पृ. 1664।

अर्थाकारता—अर्थाकारता बुद्धौ परिणामरूपा पुरुषे च प्रतिबिम्बरूपा—यो. वा. पृ. 102।

अर्थात्मा—अर्थात्मा दृश्यस्वरूपः—यो. वा. पृ. 490।

अशुद्धिः—अशुद्धी रजस्तमःसमुद्रेकः—त. वै. पृ. 566।

असंप्रज्ञातः—सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः—व्या. भा. पृ.1।

न तत्र किञ्चित्संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः—व्या. भा. पृ. 45।

आकारमौनम्—अवचनमात्रमाकारमौनम्—त. वै. पृ. 980।

आकारमौनं त्ववचनमात्रम्—यो. वा. पृ. 982।

आकाशः—सर्वतोगतिराकाशः—त. वै. पृ. 1389।

आभोगः—स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोगः—त. वै. पृ. 257।

आभोगः साक्षात्कारः—यो. वा. पृ. 265।

आवरणम्—आव्रियतेऽनेन बुद्धिसत्त्वप्रकाश इत्यावरणं क्लेशः पाप्मा च—त. वै. पृ. 1051।

आवरणानि—आव्रियते चित्तसत्त्वमेभिरित्यावरणानि मलाः क्लेशकर्माणि—त. वै. पृ. 1697।

आशयः—आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः—त. वै. पृ. 652।

आशयाः—आशेरत इत्याशयाः कर्मवासनाः क्लेशवासनाश्च—त. वै. पृ. 1508।

चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनाः—यो. वा. पृ. 322।

आसनम्—आस्यतेऽत्र आस्ते वानेनेत्यासनम्—त. वै. पृ. 1022।

ईश्वरः—काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य—व्या. भा. पृ. 303।

उच्छेदः—आत्यन्तिकः प्रतीकार उच्छेदः—यो. वा. पृ. 756।

उदयः—उदय आविर्भावः—व्या. भा. पृ. 1111।

उदारः—विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः—व्या. भा. पृ. 584।

उपरक्तम्—उपरक्तं तदाकारम्—यो. वा. पृ. 1660।

उपसर्गाः—उपसर्गाः जात्यायुर्भोगाः—त. वै. पृ. 386।

उपसर्जनं कर्म—यत्तु किञ्चिद्विलम्बेन तदुपसर्जनम्—त. वै. पृ. 665।

कायः—पञ्चात्मकः कायः—त. वै. पृ. 1285।

काष्ठमौनम्—काष्ठमौनमिङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनम्—त. वै. पृ. 980।

क्रमः—यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः—व्या. भा. पृ. 1201।

यस्य धर्मिणो धर्मान्तरस्य समनन्तरो यो धर्मः स एव तस्य धर्मिणः क्रमः—यो. वा. पृ. 1209।

क्रिया—क्रिया साध्यरूपः—यो. वा. पृ. 1268।

क्रियायोगः—क्रियैव योगः क्रियायोगः—त. वै. पृ. 565।

क्लिष्टाः—क्लेशहेतुका कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः—व्या. भा. पृ. 112।

क्लेशाः—ते स्यन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति परिणाममवस्थापयन्ति कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्ति—व्या भा. पृ. 580।

क्षणः—परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः—व्या. भा. पृ. 1443।

पूर्वापरभागविकलकालकला—त. वै. पृ. 1445।

क्षयः—क्षयस्तिरोभावः—व्या. भा. पृ. 1111।

क्षोभः—प्रकृतेर्वैषम्यहेतुः क्षोभः—यो. वा. पृ. 329।

गुणाः—सत्त्वादयो गुणा एते प्रकृतिशब्दवाच्याः—यो. वा. पृ. 775।

प्रधीयतेऽस्मिन्कार्यजातमित्यादिव्युत्पत्त्या प्रधानप्रकृत्यादिशब्दैरुच्यन्ते गुणाः—यो. वा. पृ. 775।

ग्रहणम्—गृहीतिर्ग्रहणम्—त. वै. पृ. 1415।

गृह्यत इति ग्रहणम्—त. वै. पृ. 1415।

गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणमिन्द्रियम्—यो. वा. पृ. 465।

ग्रहणानि—गृह्यन्त एभिरर्था इति ग्रहणानीन्द्रियाणि—त. वै. पृ. 460।

चरमदेहः—क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते—व्या. भा. पृ. 584।

चितिः—चितिश्च न गुणः किन्तु प्रकाशस्वरूपं द्रव्यम्—यो. वा. पृ. 71।

चितिशक्तिः—चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च—व्या. भा. पृ. 44।

चित्तम्—अयोवत् क्रियाशीलं चित्तम्—यो. वा. पृ. 1611।

चित्तमलाः—मदमानासूयादयः—त. वै. पृ. 980।

चित्तसत्त्वम्—चित्तरूपेण परिणतं सत्त्वं चित्तसत्त्वम्—त. वै. पृ. 49।

जन्म—निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिरभिसंबंधो जन्म—त. वै. पृ. 632।

जीवनम्—समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनम्—व्या. भा. पृ. 1356।

जीवनं प्राणधारणं प्रयत्नभेदः—त. वै. पृ. 1207।

जीवनं प्राणनादिरूपव्यापारविशेषः—यो. वा. पृ. 1215।

ज्ञानम्—ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं बुद्धिसत्त्वप्रकाशः—त. वै. पृ. 1051।

तदञ्जनता—तदञ्जनता सम्यक्तदाकारता—यो. वा. पृ. 462।

तनवः—प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवः—व्या. भा. पृ. 584।

तप्यम्—मृदुत्वात् पादतलवत्सत्त्वं तप्यम्—त. वै. पृ. 749।

तान्त्रिकी—तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते योगो येन शास्त्रेण तत्तन्त्रम्। तद्भवा तान्त्रिकी—त. वै. पृ. 1084।

तापकम्—रजस्तु तीव्रतया तापकम्—त. वै. पृ. 749।

तारकम्—संसारसागरात्तारयतीति तारकम्—त. वै. पृ. 1470।

संसारतरणोपायत्वात् तारकम्—यो. वा. पृ. 1331।

दर्शनम्—दृश्यतेऽनयेति दर्शनं बुद्धिः—यो. वा. पृ. 753।

दुःखम्—येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्—व्या. भा. पृ. 398।

दृश्यम्—दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्यम्—व्या. भा. पृ. 864।

एतद्गुणत्रयमेव कार्यकारणभावापन्नं दृश्यमुच्यते, नास्ति ततोऽतिरिक्तं दृश्यान्तरम्—यो. वा. पृ. 779।

दृश्याः—बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः—व्या. भा. पृ. 740।

द्रव्यम्—सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम्—व्या. भा. पृ. 1386।

द्रष्टा—शब्दाद्याकारपरिणतबुद्धिसत्त्वोपनीतान् सुखादीन् भुञ्जानः स्वामी भवति द्रष्टा—त. वै. पृ. 743।

धर्मः—योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः—व्या. भा. पृ. 1175।

धर्मपरिणामः—भूतानां पृथिव्यादीनां धर्मिणां गवादिर्घटादिर्वा धर्मपरिणामः—त. वै. पृ. 1129।

धर्ममेघः—सर्वान् धर्माञ्ज्ञेयान् मेहति वर्षति प्रकाशनेनेति धर्ममेघः—त. वै. पृ. 1697।

धर्मी—य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी—व्या. भा. पृ. 1176।

धर्मोऽस्यास्तीति धर्मीति—त. वै. पृ. 1178।

ध्वनिः—ध्वनिर्नाम वागिन्द्रियशंखादिष्वभिहतस्योदानवायोः परिणामभेदः—यो. वा. पृ. 1254।

नित्यत्वम्—नित्यत्वं च सत्त्वम्—यो. वा. पृ. 611।

निद्रा—निद्रा प्रत्ययविशेष एव—यो. वा. पृ. 205।

निमित्तम्—निमित्तं विपाकोन्मुखं कर्म—यो. वा. पृ. 1540।

निरुपक्रमम्—निरुपक्रमं मन्दवेगेन फलदातृ—यो. वा. पृ. 1291।

निरोधः—वृत्तिनिरोधो न वृत्त्यभावमात्रम्—यो. वा. पृ. 38।

स च चित्तस्य धर्मः स्वाभाविको जलस्य द्रवत्ववत्—यो. वा. पृ. 29।

निरोधस्तासां लयाख्योऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषः—यो. वा. पृ. 62।

नेत्री—नेत्री नायिका—त. वै. पृ. 1549।

पदम्—पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यम्—व्या. भा. पृ. 1221।

परं वैराग्यम्—ज्ञानेऽप्यलंबुद्धिः परवैराग्यम्—यो. वा. पृ. 273।

परमाणुः—यथाऽपकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुः—व्या. भा. पृ. 1443।

परिणामः—अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः—व्या. भा. पृ. 1120।

परिदृष्टाः—( चित्तस्य ) प्रत्ययात्मकाः ( धर्माः ) परिदृष्टाः—व्या. भा. पृ. 1202।

पुरुषः—बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः—व्या. भा. पृ. 129।

पौरुषेयः—फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः—व्या. भा. पृ. 129।

**पौरुषेयो बोधः**—पौरुषेयो बोध इत्याधाराधेयभावश्च गगने श्रोत्रमितिवद्विशिष्टाविशिष्ट-भेदेनोपपादनीयः—यो. वा. पृ. 157।

**प्रकाशः**—प्रकाशो बुद्ध्यादिवृत्तिरूपालोको भौतिकालोकश्च—यो. वा. पृ. 773।

चित्तस्य हि प्रकाशः पुरुषोपाधिक एवायसो दग्धृत्ववत्—यो. वा. पृ. 1629।

**प्रकृतिलयाः**—प्रकृतिलयाः पिण्डपातानन्तरमव्यक्तादीनामन्यतमे लीनाः—त. वै. पृ. 280।

प्रकृतिलयास्तु बहिर्गमनेन विदेहान् प्रत्यपीशते स्वसंकल्पमात्रेण तत्रैव निर्मलं कारणसत्त्वनिर्मितं विषयं च भुञ्जते—यो. वा. पृ. 243।

**प्रचारः**—प्रचरत्यनेनास्मिन्वेति प्रचारः ( नाडी )—त. वै. पृ. 1354।

**प्रचारसंवेदनम्**—अनया नाड्या एवंप्रकारेण चित्तं शरीरे प्रविशति निर्गच्छति चेत्यादि-विशेषैश्चित्तगतिसाक्षात्कारः प्रचारसंवेदनम्—यो. वा. पृ. 1355।

**प्रणामी**—( वायुः ) प्रणामी वहनशीलः—त. वै. पृ. 1389।

**प्रतिप्रसवः**—प्रसवाद्विरुद्धः प्रतिप्रसवः प्रलयः—यो. वा. पृ. 643।

स्वकारणेऽत्यन्तविलयः—यो. वा. पृ. 1724।

**प्रतिबन्धः**—प्रतिबन्धः कार्यविरोधित्वम्—यो. वा. पृ. 544।

**प्रतिबिम्बम्**—प्रतिबिम्बं हि तत्तदुपाधिषु बुद्धेर्बिम्बाकारपरिणाममात्रम्—यो. वा. पृ. 160।

**प्रतिसंवेदी**—संवेदिन्या बुद्धेः प्रतिसंवेदी तत्समानाकारः पुरुषः—यो. वा. पृ. 159।

**प्रत्यक्**—प्रतीपमञ्चति प्राप्नोतीति प्रत्यक्—त. वै. पृ. 906।

**प्रत्ययः**—प्रतीयते येन स प्रत्ययश्चित्तसत्त्वम्—त. वै. पृ. 1685।

**प्रधानं कर्म**—यदत्यन्तमुद्भूतमनन्तरमेव फलं दास्यति तत् प्रधानम्—त. वै. पृ. 665।

**प्रपञ्चः**—प्रपञ्चोऽविद्याकार्यः—यो. वा. पृ. 615।

**प्रबोधः**—प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः—व्या. भा. पृ. 584।

**प्रवादाः**—प्रकृष्टा वादाः प्रवादाः—यो. वा. पृ. 1644।

**प्रवृत्तिः**—प्रकृष्टा वृत्तिः प्रवृत्तिः साक्षात्काररूपा—यो वा. पृ. 436।

**प्रशान्तवाहिता**—व्युत्थानसंस्कारमलरहितनिरोधसंस्कारपरम्परामात्रवाहिता प्रशान्तवाहिता —त. वै. पृ. 1111।

**प्रश्वासः**—कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः—व्या. भा. पृ. 1028।

**प्रसादनम्**—प्रसादनं स्थितिनिबन्धनम्। निबन्धनत्वं च स्थित्यभ्रंशहेतुत्वम्—यो. वा. पृ. 426।

**प्रसुप्तिः**—चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः—व्या. भा. पृ. 584।

**प्रातिभम्**—प्रातिभं नाम तारकम्—व्या. भा. पृ. 1330।

प्रतिभा—ऊहः तद्भवं प्रातिभम्—त. वै. पृ. 1330।

प्रातिभं स्वप्रतिभोत्थं अनौपदेशिकं ज्ञानम्—यो. वा. पृ. 1331।

बीजम्—बीजं कारणम्—यो. वा. पृ. 354।

बीजभावम्—बीजभावं प्राप्तास्तु ते ( क्लेशाः ) शक्तिमात्रेण सन्ति क्षीर इव दधिः—त. वै. पृ. 586।

बीजभावोपगमः—बीजभावोपगमः स्वकार्यजननसामर्थ्यम्—यो. वा. पृ. 593।

बुद्धिः—ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः—व्या. भा. पृ. 210।

भवः—भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इव भवोऽविद्या—त. वै. पृ. 277।

भवप्रत्ययः—भवो जन्म तदेव प्रत्ययः कारणं यस्य स भवप्रत्ययः—यो. वा. पृ. 282।

भावः—भावः संस्थानभेदः—त. वै. पृ. 1132।

भूमिः—भूमिः स्थानम्—त. वै. पृ. 1307।

भोगः—भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते—व्या. भा. पृ. 619।

इष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः—व्या. भा. पृ. 761।

दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः—व्या. भा. पृ. 878।

भोगः सुखाद्याकारः शब्दाद्यनुभवः—त. वै. पृ. 875।

अनुकूलनीयप्रतिकूलनीयार्थो भोगः—त. वै. पृ. 1335।

भोग्यम्—सुखदुःखात्मकं दृश्यं भोग्यम्—त. वै. पृ. 865।

महाविदेहा—या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः सा महाविदेहा नाम धारणा—व्या. भा. पृ. 1382।

मूर्त्तत्वम्—मूर्त्तत्वं परिच्छिन्नत्वम्—यो. वा. पृ. 1376।

मूर्त्तिः—मूर्तिः सांसिद्धिकं काठिन्यम्—त. वै. पृ. 1389।

मोक्षः—चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः—व्या. भा. पृ. 905।

भोगविवेकख्यातिरूपपरिणतबुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः, न तु बुद्धिस्वरूपनिवृत्तिः—त. वै. पृ. 909।

योगः—वृत्तिनिरोधात्मको योग एव दुःखनिवृत्त्यात्मकमोक्षे साक्षाद्धेतुः—यो. वा. पृ. 42।

द्वारद्वारिभावेनापि ज्ञानस्येव संप्रज्ञातयोगस्यापि मोक्षहेतुत्वं, असंप्रज्ञातयोगस्य च साक्षान्मोक्षहेतुत्वम्—यो. वा. पृ. 43।

रूढः—रूढः प्रसिद्धः—त. वै. पृ. 635।

लक्षणपरिणामः—धर्माणां चातीतानागतवर्तमानरूपता लक्षणपरिणामः—त. वै. पृ. 1129।

लक्षणम्—लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं कालभेदः—त. वै. पृ. 1123।

लोकः—लोक्यत इति लोकः—यो. वा. पृ. 1662।

वज्रसंहननः—वज्रस्येव संहननं प्रहारो यस्येति वज्रवन्निविडो दृढः संघातो यस्येति वा वज्रसंहननः—यो. वा. पृ. 1413।

वर्तमानः—यदा ( धर्मः स्वव्यापारं ) करोति तदा वर्तमानः—व्या. भा. पृ. 1119।

वाक्—वाग्वर्णेष्वेवार्थवती—व्या. भा. पृ. 1221।

वासना—अनेकभवपूर्विका वासना—व्या. भा. पृ. 659।

ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीनाः— व्या. भा. पृ. 659।

विकरणभावः—विदेहानामिन्द्रियाणां करणभावो विकरणभावः—त. वै. पृ. 1423।

विच्छिन्नाः—विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः—व्या. भा. पृ. 584।

विदेहाः—शरीराद् बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा—व्या. भा. पृ. 1382।

संस्कारमात्रावशेषमनसः षाट्कौशिकशरीररहिता विदेहाः—त. वै. पृ. 278।

विदेहाः सावरणब्रह्माण्डान्तर्गता एवाल्पमैश्वर्यं मलिनं च विषयं भुञ्जते—यो. वा. पृ. 243।

विपच्यमानम्—विपच्यमानं फलोन्मुखम्—यो. वा. पृ. 1519।

विमर्दः—विमर्दोऽन्योन्याभिभाव्याभिभावकत्वम्—त. वै. पृ. 1142।

विरामः—वृत्तीनामभावो विरामः—त. वै. पृ. 271।

विरामप्रत्ययः—वृत्त्याऽपि विरम्यतामिति प्रत्ययो विरामप्रत्ययः—यो. वा. पृ. 273।

विवेकख्यातिः—सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः—व्या. भा. पृ. 920।

विशोका—विगतः शोको यस्या इति विशोका—यो. वा. पृ. 443।

विषयाः—विषया अपि हि शब्दादयस्तादात्म्यादेव चानुकूलयितारः प्रतिकूलयितारश्च—त. वै. पृ. 865।

अयस्कान्तमणिवदक्रिया एव विषयाः—यो. वा. पृ. 1611।

वृत्तयः—चित्तस्य वृत्तयः दीपस्य शिखा इव द्रव्यरूपा भङ्गुरा अवस्थापरिणामाः—यो. वा. पृ. 96।

वृत्तिः प्रभावद् द्रव्यम्—यो. वा. पृ. 155।

एताः सर्वाः प्रमाणादिवृत्तयो बुद्धिद्रव्यस्य सुवर्णस्येव प्रतिमादिवद्विषयाकारा द्रव्यरूपाः परिणामाः सुखदुःखमोहगुणकाः—यो. वा. पृ. 225।

वृत्तिः—वृत्तिरालोचनं विषयाकारा परिणतिः—त. वै. पृ. 1415।

वृत्तिः प्रदीपशिखावद् द्रव्यरूपः परिणामः—यो. वा. पृ. 1543।
वेदनम्—वेदनं भोगः—यो. वा. पृ. 655।
वैशारद्यम्—निर्धूतरजस्तमोमलतया वैशारद्यम्—त. वै. पृ. 1427।
एकाग्रता धारा चित्तस्य वैशारद्यम्—यो. वा. पृ. 524।
व्यूढम्—व्यूढं संक्षिप्तम्—त. वै. पृ. 1307।
व्यूहाः—चत्वारो व्यूहाः संक्षिप्तावयवरचनाः—त. वै. पृ. 714।
शक्तित्वम्—शक्तित्वं चानागन्तुकत्वम्, न हि शक्तिवियोगः, शक्तिमतोऽस्ति शक्तिशक्तिमतोरभेदात्—यो. वा. पृ. 1186।
शुक्लः—निरत्ययफलो हि शुक्लः—त. वै. पृ. 1511।
श्वासः—बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः—व्या. भा. पृ. 1028।
श्रद्धा—चेतस संप्रसादः—व्या. भा. पृ. 287।
अभिरुचिरतीच्छा श्रद्धा—त. वै. पृ. 288।
श्रोत्रम्—श्रोत्रं ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्—व्या. भा. पृ. 1221।
संकीर्णः—सहगतः संकीर्णः—त. वै. पृ. 1251।
संकीर्णा—विकल्पमिश्रिता—यो. वा. पृ. 469।
संकेतः—संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः—व्या. भा. पृ. 1222।
संप्रज्ञातः—यस्तु एकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातः—व्या. भा. पृ. 1।
संबोधः—संबोधः साक्षात्कारः—त. वै. पृ. 1007।
संभेदः—सान्द्रस्य नितान्तविरलता संभेदः—त. वै. पृ. 566।
संभेदः संमिश्रणम्—यो. वा. पृ. 777।
संवेगः—संवेगश्चोपायानुष्ठाने शैघ्र्यम्—यो. वा. पृ. 293।
संसारः—संसरत्यस्मिन्निति संसारोऽत्र प्रपञ्चः—यो. वा. पृ. 732।
संसारिणः—संसारिणो विविधविचित्रदेवाद्यानन्दभोगभागिनः—त. वै. पृ. 715।
संसारिणः स्वकारणगामिनोऽतस्तदा मरणदुःखभाजः—यो. वा. पृ. 359।
सत्—पुरुषार्थक्रियाक्षमं सत्—त. वै. पृ. 798।
सन्निवेशः—सन्निवेशः संस्थानभेदवान् परिणामः—त. वै. पृ. 1565।
समापत्तिः—समापत्तिः सम्यगालम्बनाकारत्वापत्तिः प्रत्यक्षवृत्तिः—यो. वा. पृ. 462।
समुदाचारः—स्वोचितार्थक्रियाकरणस्वरूपेणाभिव्यक्तिः समुदाचारः—त. वै. पृ. 1124।
सर्वार्थता—विक्षिप्तता सर्वार्थता—त. वै. पृ. 1111।

सहभूतम्—सहभूतं तत्कालीनम्—यो. वा. पृ. 487।

सादृश्यम्—एकरूपतया सादृश्यम्—त. वै. पृ. 1521।

साधिकारम्—स्वकार्यजननक्षमम्—यो. वा. पृ. 545।

सारूप्यम्—व्युत्थाने हि बिम्बप्रतिबिम्बरूपयोर्बुद्धिपुरुषवृत्त्योः सारूप्यम्—यो. वा. पृ. 96।

सूक्ष्मम्—सूक्ष्मं कारणम्—यो. वा. पृ. 469।

सोपक्रमम्—सोपक्रमं तीव्रवेगेन फलदातृ—यो. वा. पृ. 1291।

स्थानानि—स्थानानि येषां सन्ति ते स्थानिनः—त. वै. पृ. 1437।

स्थूलम्—स्थूलं कार्यम्—यो. वा. पृ. 469।

स्फोटः—स च पदाख्यः शब्दोऽर्थस्फुटीकरणात् स्फोट इत्युच्यते—यो. वा. पृ. 1256।

स्मृतिः—ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः—व्या. भा. पृ. 210।

स्वरसवाही—स्वरसेन संस्कारमात्रेण वहतीति स्वरसवाही—यो. वा. पृ. 636।

स्वरूपाभिव्यक्तिः—स्वरूपाभिव्यक्तिरर्थक्रियाक्षमस्याविर्भावः—त. वै. पृ. 1127।

स्वशक्तिः—स्वशक्तिर्दृश्यम् भोग्यतायोग्यत्वात्—यो. वा. पृ. 893।

स्वामिशक्तिः—स्वामिशक्तिर्द्रष्टा भोक्तृयोग्यत्वात्—यो. वा. पृ. 893।

हानम्—संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्—व्या. भा. पृ. 702।

हानोपायः—हानोपायः सम्यग्दर्शनम्—व्या. भा. पृ. 702।

हेयः—दुःखबहुलः संसारो हेयः—व्या. भा. पृ. 702।

हेयहेतुः—प्रधानपुरुषयोः संयोगोः हेयहेतुः—व्या. भा. पृ. 702।

----●----

# व्यासभाष्य-तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिक में उद्धृत उद्धरण-माला

| उद्धरण | आकरग्रन्थ | प्रस्तुत ग्रन्थ | पृ. सं. |
|---|---|---|---|
| अ | | | |
| अंशो नानाव्यपदेशात् | ब्रह्म सू॰ २/३/४३ | यो. वा. | 875 |
| अकारोकारमकाराः | ......... | यो. वा. | 487 |
| अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषम् | महाभारत ३/२९७/२७ | त. वै. | 1534 |
| अङ्गुष्ठौ सन्निबध्नीयात् (५) | वसिष्ठ | यो. वा. | 1024 |
| अचिन्त्याः खलु ये भावाः | महाभारत भीष्म ५/१२ | यो. वा. | 755 |
| अजामेकाम् | श्वे. उप. ४/५ | त. वै. | 763, 871 |
| | | यो. वा. | 779, 873 |
| अणिमा महिमा चैव (३) | श्रीमद्भाग. ११/१५/४-५ | यो. वा. | 1409 |
| अण्डानां तु सहस्राणाम् (२) | विष्णु पु. २/७/२७-२८ | यो. वा. | 1316 |
| अत एव चाग्नीन्धना | ब्रह्म सू. ३/४/२५ | यो. वा. | 1096 |
| अथ चित्तं समाधातुम् | गीता१२/९-१० | यो. वा. | 1096 |
| अथात आदेशो नेति | बृहदारण्यक२/३/६ | यो. वा. | 342 |
| अथातो ब्रह्मजिज्ञासा | ब्रह्म सू. १/१/१ | त. वै. | 9 |
| अथैष ज्योतिः | ......... | त. वै. | 5 |
| | | यो. वा. | 27 |
| अदृष्टविग्रहो देवो | बृहद्योगियाज्ञ॰ स्मृ॰ २/६१ | यो. वा. | 370 |
| अधिकन्तु भेद | ब्रह्म सू. २/१/२२ | यो. वा. | 875 |
| अध्यात्मयोगाधिगमेन | कठोप. १/२/१२ | यो. वा. | 25, 1345 |
| अनन्ता रश्मयस्तस्य | याज्ञ. स्मृति २/१६६ | यो. वा. | 154, 1322 |
| अनश्नन्नन्यो अभि | मुण्डकोप. ३/१/१ | यो. वा. | 324 |
| अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या | विष्णु पु. ६/७/११ | यो. वा. | 1704 |
| अनात्मन्यात्मविज्ञानम् | गरुण पु. | यो. वा. | 611 |

| उद्धरण | आकरग्रन्थ | प्रस्तुत ग्रन्थ | पृ. सं. |
|---|---|---|---|
| अनादिमत्परं ब्रह्म | ........ | यो. वा. | 358, 1704 |
| अनादिरेव सम्बन्धो (२) | लिङ्ग पु. (उ) ९/४८ | यो. वा. | 382 |
| अनादिर्भगवान् कालो | विष्णु पु. १/२/२६ | यो. वा. | 1719 |
| अन्तःकरणधर्मत्वम् | सांख्य सू. ५/२५ | यो. वा. | 110 |
| अन्तेषु रेमिरे धीराः | मोक्षधर्म १७४/३४ | यो. वा. | 639 |
| अन्धं तम इवाज्ञानम् | विष्णु पु. ६/५/६२ | यो. वा. | 1474 |
| अन्धो मणिमविध्यत् | ....... | व्या. भा. | 1696 |
| अन्नमयं हि सोम्य मनः | छान्दोग्य ६/५/४ | यो. वा. | 1403 |
| अन्यश्च राजन् प्रवरः | मोक्षधर्म ३/८/७८ | यो. वा. | 343 |
| अपरिणामिनी हि | पञ्चशिखवचन | व्या. भा. | 840 |
| अपाम सोमममृता अभूम | ऋग्वेद ८/४८/३ | त. वै. | 604 |
| अपेतव्रतकर्मा तु | महाभारत (अश्व.) २६/१६ | यो. वा. | 568 |
| अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा | ....... | त. वै. | 1656 |
| | | यो. वा. | 1662 |
| अमरा निर्जरा देवाः | अमरकोश १/१/२ | यो. वा. | 487, 1269 |
| अयन्तु खलु | पञ्चशिखवचन | व्या. भा. | 761 |
| अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा | ईशोप. ११ | यो. वा. | 1096 |
| अविद्येशस्य योगो (२) | लिङ्ग पु. (उ) ९/३६ | यो. वा. | 381 |
| अविनाशि तु तद्विद्धि | गीता २/१७ | यो. वा. | 612 |
| अविभागो वचनात् | ब्रह्म सू. ४/२/१६ | यो. वा. | 364 |
| अव्यक्तमूलप्रभवः | मोक्षधर्म | यो. वा. | 824 |
| अव्यक्तादीनि भूतानि | गीता २/२८ | यो. वा. | 817, 823 |
| अव्यक्ताद्ये विशेषान्ते | वायु पु. ५८/५४ | यो. वा. | 1666 |
| अष्टौ प्रकृतयः | गर्भोप. ३ | यो. वा. | 834 |
| अष्टौ स्थानानि वर्णानाम् | पाणिनीय शिक्षा १३ | त. वै. | 1226 |
| | | यो. वा. | 1253 |
| असंख्याताश्च रुद्राख्याः (२) | लिङ्ग पु. (पू) ४/५४/५५ | यो. वा. | 382 |
| असंशयं महाबाहो | गीता ६/३५ | यो. वा. | 229 |

| उद्धरण | आकरग्रन्थ | प्रस्तुत ग्रन्थ | पृ. सं. |
|---|---|---|---|
| कार्योपाधिरयं जीवः | शुकरहस्योप. ३/१२ | यो. वा. | 332, 337, 1543 । |
| कालावच्छेदयुक्तानाम् (२) | लिङ्ग पु. (उ) ९/४७ | यो. वा. | 382 |
| कालेषु त्रिषु सम्बन्धः (२) | लिङ्ग पु. (उ) ९/३७-३८ | यो. वा. | 381 |
| किरीटचारुकेयूर० | विष्णु पु. ६/७/८४ | त. वै. | 1073 |
| कुर्यात् कर्म संन्यास० | बृहद्योगियाज्ञ. स्मृ. ९/३३ | यो. वा. | 982 |
| कुशलाकुशलश्चैव | लिङ्ग पु. (उ) ९/३९ | यो. वा. | 381 |
| कृच्छ्रक्षयात्तृतीयस्तु | पञ्चशिखवचन | यो. वा. | 1703 |
| क्लेशकर्मविपाकाद्यैः | बृहद्योगियाज्ञ. स्मृ. २/४३ | यो. वा. | 329 |
| क्षणं न सन्तिष्ठति | ............ | यो. वा. | 813 |
| क्षीयन्ते चास्य कर्माणि | मुण्डकोप. २/२/८ | यो. वा. | 679 |
| क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानम् | विष्णु पु. ६/७/९४ | त. वै. | 1080 |
| ग | | | |
| गुणलोपे न गुणिनः | न्याय | यो. वा. | 1096 |
| गुणसाम्यमनुद्रिक्तम् | विष्णु पु. ६/४/३४ | यो. वा. | 781 |
| गुणानां परमं रूपं | षष्ठितन्त्र | व्या. भा. | 1565 |
| गुल्फौ च वृषणस्याधः(५) | ......... | यो. वा. | 1024 |
| गुहाहितं गह्वरेष्ठम् | कठोप. १/२/११ | यो. वा. | 1652 |
| गृहीतान् इन्द्रियैरर्थान् | विष्णु पु. १/१४/३५ | यो. वा. | 97 |
| गोबलीवर्दन्यायः | न्याय | यो. वा. | 1173 |
| घ | | | |
| घोरेऽस्मिन् हन्त संसारे (३) | मनुस्मृति १/५० | यो. वा. | 1152, 1110 |
| च | | | |
| चराचरं लय इव (२) | ............ | यो. वा. | 453 |
| चर्मणि द्वीपिनं हन्ति | महाभाष्य २/३/३६ | त. वै. | 230 |
| | | यो. वा. | 233 |
| चलं च गुणवृत्तम् | ............ | त. वै. | 711 |
| चलनेन तृणादीनाम् | .......... | त. वै. | 1389 |

| उद्धरण | आकरग्रन्थ | प्रस्तुत ग्रन्थ | पृ. सं. |
|---|---|---|---|
| त एते सत्याः | छान्दोग्य ३/१४/१ | यो. वा. | 1197 |
| तच्च मूर्तं हरे रूपम् | विष्णु पु. ६/७/७ | त. वै. | 1073 |
| तच्छरीरसमुत्पन्नैः | पद्म पु. ५/३/१५६ | यो. वा. | 837 |
| तज्जलानिव शान्तः | छान्दोग्य ३/१४/१ | यो. वा. | 375 |
| ततः शङ्खगदाचक्र० | विष्णु पु. ६/७८/८ | त. वै. | 1088 |
| | | यो. वा. | |
| ततोऽभवन्महत्तत्त्वम् | श्रीमद्भागवत ३/५/२६ | यो. वा. | 811 |
| तत्क्षोभकत्वात् | .......... | यो. वा. | 512 |
| तत्र तत्र चतुर्वक्त्राः | लिङ्ग पु. (पू) ३/३४ | यो. वा. | 382 |
| तत्र यः परमात्मा हि | मोक्षधर्म ३५१/१४-१५ | यो. वा. | 326 |
| तत्त्वप्रधानभेदाच्च | न्याय सू. ४/२/३७ | यो. वा. | 819 |
| तत्त्वमसि | छान्दोग्य ६/८/७ | यो. वा. | 340, 342 |
| तत्त्वमेव त्वमेव तत् | कैवल्योप. १६ | यो. वा. | 390 |
| तत्त्वैः सम्पादितम् | मत्स्य पु. ३/२७-२८ | यो. वा. | 376 |
| तत्संयोगहेतुविवर्जनात् | पञ्चशिखवचन | व्या. भा. | 740 |
| तथा प्रधानेन महान् (६) | विष्णु पु. १२/३७-३९ | यो. वा. | 1587 |
| तदधिगम उत्तर० | ब्रह्म सू. ४/१/१३ | यो. वा. | 679 |
| तदभिध्यानादेव | ब्रह्म सू. २/३/१३ | यो. वा. | 177 |
| तदात्मानं स्वयमकुरुत | तैत्तरीयोप. २/७ | यो. वा. | 332 |
| तदेकावयवं देवम् | विष्णु पु. ६/७/९० | त. वै. | 1088 |
| तदेव सक्तः सह | बृहदारण्यक ४/४६ | यो. वा. | 678 |
| तदैक्षत | छान्दोग्य ६/२/३ | यो. वा. | 332 |
| तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतम् | बृहदारण्यक १/४/७ | यो. वा. | 818 |
| तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्य० | विष्णु पु. ६/७/९१ | त. वै. | 1078 |
| तद्धैक आहुः | छान्दोग्य ६/२/१ | यो. वा. | 1158 |
| तन्मात्राण्यविशेषाणि | विष्णु पु. १/२/४५ | यो. वा. | 808 |
| तपस्विभ्योऽधिको योगी | गीता ६/४६ | यो. वा. | 25 |
| तपो न परं प्राणायामात् | .......... | व्या. भा. | 1051 |
| तमणुमात्रमात्मानम् | पञ्चशिखवचन | व्या. भा. | 440 |

| उद्धरण | आकरग्रन्थ | प्रस्तुत ग्रन्थ | पृ. सं. |
|---|---|---|---|
| त्रिविधदुःखात्यन्त० | सांख्य सू. १/१ | यो. वा. | 738 |
| त्रिविधो मोक्षः | तत्त्वसमाससूत्र २२ | यो. वा. | 1703 |
| त्रिषु धामसु | कैवल्योप. १/१८ | यो. वा. | 205 |
| द | | | |
| दग्धकर्मचयोऽचिरात् | विष्णु पु. ६/७/३५ | यो. वा. | 41 |
| दश मन्वन्तराणीह (२) | वायु पु. | त. वै. | 280 |
| | | यो. वा. | 284 |
| दशसु महासर्गेषु | जैगीषव्यवचन | व्या. भा. | 1271 |
| दह्यन्ते ध्मायमानानाम् | मनुस्मृति ६/७१ | यो. वा. | 1054 |
| दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि | ......... | यो. वा. | 452 |
| दुःखजन्मप्रवृत्ति० | न्याय सू. १/१/२ | यो. वा. | 697 |
| दुःखाज्ञानमया धर्माः | विष्णु पु. ६/७/२२ | यो. वा. | 102 |
| दुःखात्यन्तविमोक्षः | न्याय सू. १/१/२२ | यो. वा. | 738 |
| दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या | सांख्य का. ६६ | यो. वा. | 899 |
| देवद्विजगुरुप्राज्ञ० | गीता १७/१४ | यो. वा. | 985 |
| देवान् भावयतानेन | गीता ३/११ | यो. वा. | 955 |
| देशावस्थितमालक्ष्य | कूर्म पु. (उ) ११/४० | यो. वा. | 1076 |
| दैवी ह्येषा गुणमयी | गीता ७/१४ | यो. वा. | 1568 |
| द्व्येकयोर्द्विवचनैक० | अष्टाध्यायी १/४/४/२२ | त. वै. | 766 |
| द्वयोरेकतरस्य वा | सांख्य सू. १/८७ | यो. वा. | 158 |
| द्वितीयो रागसंक्षयात् | पञ्चशिखवचन | यो. वा. | 1695 |
| द्वे द्वे ह वै कर्मणी | .......... | व्या. भा. | 659 |
| ध | | | |
| धत्ते पदं त्वमविता | श्रीमद्भाग. ११/४/१० | यो. वा. | 389 |
| धर्मिणामनादिसंयोगात् | ........... | व्या. भा. | 870 |
| धर्मो नित्यः | महाभारत | यो. वा. | 823 |
| धाता यथापूर्वमकल्पयत् | ऋग्वेद १०/१९०/३ | यो. वा. | 1410 |
| धृतं चैकात्मकं येन (२) | मोक्षधर्म ३०२/२० | यो. वा. | 835 |
| ध्यानं द्वादशपर्यन्तम् | गरुड पु. १/२२७/२५ | यो. वा. | 1081 |

| उद्धरण | आकरग्रन्थ | प्रस्तुत ग्रन्थ | पृ. सं. |
|---|---|---|---|
| प्राणायामैर्दहेद्दोषान् | मनुस्मृति ६/७२ | त. वै. | 430 |
| | | यो. वा. | 430 |
| प्राणायामैर्द्वादशभिः | गरुड पु. १/२२७/२४ | यो. वा. | 1076 |
| प्राप्नुयाद्विषयान् | मोक्षधर्म ३००/२७ | त. वै. | 1505 |
| | | यो. वा. | 1503 |
| **ब** | | | |
| बहुरूप इवाभाति | श्रीमद्भाग. २/९/२ | यो. वा. | 1214 |
| बहुशाखा ह्यनन्ताश्च | गीता २/४१ | यो. वा. | 154 |
| बाह्यमाभ्यन्तरं चेति | वसिष्ठ | यो. वा. | 976 |
| बीजान्यग्न्युपदग्धानि | मोक्षधर्म २११/१७ | यो. वा. | 594 |
| बुद्ध्यादयो विशेषान्ताः | सौर पु. २१/६-७ | यो. वा. | 512 |
| बुद्धितः परं ब्रह्म | पञ्चशिखवचन | व्या. भा. | 619 |
| बौद्धा दश सहस्राणि | वायु पु. | त. वै. | 280 |
| | | यो. वा. | 284 |
| ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेत् (४) | दक्षस्मृति ७/३१-३२ | यो. वा. | 972 |
| ब्रह्मचर्यमहिंसां च (२) | विष्णु पु. ६/७/३६ | त. वै. | 980 |
| | | यो. वा. | 982 |
| ब्रह्मणा दीयते देयम् (२) | कूर्म पु. ३/१५ | यो. वा. | 572 |
| ब्रह्मणा सह ते सर्वे | कूर्म पु. १/१२/२७३ | त. वै. | 1308 |
| ब्रह्मविष्णुशिवादीनाम् | ......... | यो. वा. | 358 |
| ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् | विष्णु पु. १/२२/५८ | यो. वा. | 358 |
| ब्रह्माण्डमेतत्सकलम् | सौर पु. २१/२९-३२ | यो. वा. | 1317 |
| ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च | गरुड पु. १/२२४/६-७ | यो. वा. | 453 |
| ब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्राद्यैः (३) | लिङ्ग पु. (पू.) २७/५०-५१ | यो. वा. | 382 |
| ब्रह्मैवेदं सर्वम् | मुण्डकोप. २/२/११ | यो. वा. | 1664 |
| ब्राह्मस्त्रिभूमिकः | ......... | व्या. भा. | 1300 |
| **भ** | | | |
| भवन्ति ज्ञानिनो नित्यम् | मोक्षधर्म २६९/११ | यो. वा. | 376 |
| भागगुणाभ्याम् | सांख्य सू. ५/१०७ | यो. वा. | 727 |

| उद्धरण | आकरग्रन्थ | प्रस्तुत ग्रन्थ | पृ. सं. |
|---|---|---|---|
| लोकवत्तु लीला | ब्रह्म सू. २/१/३३ | यो. वा. | 359 |
| लोके सातिशयत्वेन (२) | लिङ्ग पु. (उ) ९/४५ | यो. वा. | 381 |
| व | | | |
| वधोऽवधः | स्मृति | यो. वा. | 976 |
| वलीविभङ्गिला | विष्णु पु. ६/७/८२ | त. वै. | 1073 |
| वश्यता परमा तेन (२) | विष्णु पु. ६/७/४४ | त. वै. | 1060 |
| | | यो. वा. | 1063 |
| वाङ्मात्रं न तु तत्त्वम् | सांख्य सू. १/५८ | यो. वा. | 558 |
| वाचारम्भणं विकारो | छान्दोग्य ६/१/१ | यो. वा. | 612 |
| वासुदेवः सर्वम् | गीता ७/१९ | यो. वा. | 1664 |
| विज्ञातारमरे केन | बृहदारण्यक २/४/१४ | व्या. भा. | 1334 |
| विज्ञानात्मनि संयोज्य | श्रीमद्भाग. १/१३/५४ | यो. वा. | 375 |
| वितर्कश्च विचारश्च | मोक्षधर्म १९५/१५ | यो. वा. | 267 |
| विद्यां चाविद्यां च | ईशोप. ११ | यो. वा. | 1096 |
| विनिष्पन्नसमाधिस्तु | विष्णु पु. ६/७/३५ | यो. वा. | 40, 294 |
| विपर्ययादिष्यते बन्धः | सांख्य का. ४४ | यो. वा. | 181 |
| विपाकैः कर्मणां तस्य (२) | लिङ्ग पु. (उ) ९/४० | यो. वा. | 381 |
| वियोजयत्यथान्योन्यम् (३) | कूर्म पु. (उ) ४४/२०-२१ | यो. वा. | 828 |
| विरक्तिर्दोषदर्शनात् | स्मृति | यो. वा. | 244 |
| विविदिषन्ति यज्ञेन | बृहदारण्यक ४/४/२२ | यो. वा. | 1679 |
| विश्वस्य बीजं | मार्कण्डेय पु. ९१/४ | यो. वा. | 1568 |
| विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेत् | रघुवंश | यो. वा. | 1197 |
| विषयसुखापेक्षयैवेदम् | जैगीषव्यवाक्य | व्या. भा. | 1271 |
| विषयेन्द्रियसंयोगात् | गीता १८/३८ | त. वै. | 707 |
| वीतरागजन्मादर्शनात् | न्याय सू. ३/१/२४ | त. वै. | 118, 1694 |
| | | यो. वा. | 1695 |
| वीतरागभयक्रोधः | गीता २/५६ | यो. वा. | 698 |
| वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् | ब्रह्म सू. २/२/२९ | यो. वा. | 815 |
| वैराग्यात् प्रकृतिलयः | सांख्य का. २४ | त. वै. | 249 |

| उद्धरण | आकरग्रन्थ | प्रस्तुत ग्रन्थ | पृ. सं. |
|---|---|---|---|
| स ईश्वरो व्यष्टि॰ (२) | विष्णु पु. ६/५/८६ | यो. वा. | 300 |
| स एकधा भवति | छान्दोग्य ७/२०/२ | यो. वा. | 1490 |
| स एको ब्रह्मणः | तैतिरीयोप. २/८ | यो. वा. | 332 |
| स खल्वयं ब्राह्मणः | .......... | व्या. भा. | 960 |
| सतोऽस्तित्वे च | गरुड पु. | यो. वा. | 813 |
| सत्यं ज्ञानमनन्तम् | तैतिरीयोप. २/९/९ | यो. वा. | 160 |
| सत्यस्य सत्यम् | बृहदारण्यक २/१/२० | यो. वा. | 818 |
| सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः | गीता १४/५ | यो. वा. | 780 |
| सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेः | श्रीमद्भाग. ११/२४/५ | यो. वा. | 512 |
| सत्त्वरजस्तमसाम् | सांख्य सू. १/६१ | यो. वा. | 781 |
| सत्त्वाच्चावरस्य | ब्रह्म सू. २/१/१६ | यो. वा. | 815 |
| सत्त्वाज्जागरणं विद्यात् | श्रीमद्भाग. ११/२५/२० | यो. वा. | 788 |
| सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वम् | सांख्य सू. ६/३९ | यो. वा. | 776 |
| सत्त्वेनान्यतमं हन्यात् | श्रीमद्भाग. ११/१३/१ | यो. वा. | 122 |
| सत्त्वेव सौम्येदम् | छान्दोग्य ६/२/२ | यो. वा. | 1158 |
| सदेकीभावेन | .......... | यो. वा. | 1159 |
| सदसत्ख्यातिः | सांख्य सू. ५/५६ | यो. वा. | 819 |
| सद्भाव एषो भवते | विष्णु पु. २/१२/४५ | यो. वा. | 820 |
| सन्ध्ये सृष्टिराह हि | ब्रह्म सू. ३/२/१ | यो. वा. | 177, 815 |
| सप्तदशैकं लिङ्गम् | सांख्य सू. ३/९ | यो. वा. | 837 |
| सप्ताण्डावरणान्याहुः (२) | लिङ्ग पु. (पू) ३/३३ | यो. वा. | 382 |
| समकर्णान्तविन्यस्त॰ | विष्णु पु. ६/७/८१ | त. वै. | 1073 |
| समस्थितोरुजंघं च | विष्णु पु. ६/७/८३ | त. वै. | 1073 |
| समाभ्यामेव पक्षाभ्याम् | योगवा. (वैराग्य) १/७ | यो. वा. | 1097 |
| समोऽहं सर्वभूतेषु | गीता ९/२९ | यो. वा. | 360 |
| स यथा सर्वासामपाम् | बृहदारण्यक २/४/११ | यो. वा. | 1188 |
| स यदि पितृलोककामः | छान्दोग्य ८/२/१ | यो. वा. | 1496 |
| सर्वं खल्विदं ब्रह्म | छान्दोग्य ३/१४/१ | यो. वा. | 375 |
| सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः | वायु पु. १२/३३ | त. वै. | 348 |

| उद्धरण | आकरग्रन्थ | प्रस्तुत ग्रन्थ | पृ. सं. |
|---|---|---|---|
| स्नेह: सौक्ष्म्यम् | ............ | त. वै. | 1388 |
| स्यात् स्वल्पः सङ्करः | पञ्चशिखवचन | व्या. भा. | 659 |
| स्वप्रकाशं निरञ्जनम् | बृहन्नारदीय पु. ३३/११ | यो. वा. | 1626 |
| स्वप्नादिवदविद्यायाः | श्लोकवार्तिक पृ. ६६३ | त. वै. | 95 |
| स्वभावं मुक्त्वा | पूर्वाचार्यवचन | व्या. भा. | 1676 |
| स्वशास्त्रानुक्ततया | न्याय | यो. वा. | 1450 |
| स्वाध्याययोग० | विष्णु पु. ६/६/२ | यो. वा. | 379 |
| स्वाध्यायशौचसन्तोष० | विष्णु पु. ६/७/३७ | त. वै. | 980 |
| | | यो. वा. | 982 |
| स्वाध्यायात् योगमासीत | विष्णु पु. ३/६/२ | व्या. भा. | 373 |
| स्वोपकारादधिष्ठानम् | सांख्य सू. ५/३ | यो. वा. | 359 |
| ह | | | |
| हिरण्यगर्भो भगवान् (२) | मोक्षधर्म ३०२/१८ | यो. वा. | 836 |
| हिरण्यगर्भो योगस्य | बृहद्योगियाज्ञ. स्मृ. १२/५ | त. वै. | 9 |
| हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा | कूर्म पु. (उ) ११/२९ | यो. वा. | 1076 |
| हेतुमदनित्यमव्यापि | सांख्य का. १० | यो. वा. | 779 |

# पातञ्जलयोगदर्शन
# की
# सूत्रानुक्रमणी